Impact Factor (IIFS) : 9.375 ISSN 2231-1351

PEER REVIEWED & REFEREED JOURNAL
PADCHINHA
— ISSN 2231-1351 —

PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

August 2026 Volume: 15 Issue: 8

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

UGC Approved Journal No. 49359 (Old)

www.muditeducation.com/padchinha

Impact Factor (IIFS): 9.375 ISSN 2231-1351
UGC Approved Journal No. 49359 (Old) यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

August 2026 Volume: 15 Issue: 8

EDITOR
DR. AJAY PARMAR
B-30/239 Nagavan, Lanka, Varanasi - 221005

CO-EDITOR
DR. PANKAJ KUMAR SINGH
Mudit Shiksha Sanstha, Trimurti Nagar
Wardha (Maharashtra) PIN Code - 442001

Contact: 9823696685 **E-mail: padchinha@muditeducation.com**

Note:

- The views expressed in the journal "Padchinha" are not necessarily the views of peer reviewing board or publisher. Neither any member of the peer reviewing board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings.
- All disputes are subject to Varanasi jurisdiction only.

www.muditeducation.com/padchinha

संपादक-मंडल/ रेफ़रीड बोर्ड

प्रो. प्रेमनारायण सिंह
निदेशक
अंतर विश्वविद्यालय अध्यापक शिक्षा केंद्र
बी. एच. यू. वाराणसी (उ. प्र.) पिन - 221005

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
पूर्व अधिष्ठाता, संस्कृति विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

प्रो. मनोज कुमार राय
प्रोफेसर, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन - 442001

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा
सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी
(बिहार) पिन – 845401

डॉ. अनिल कुमार
वरीय सहायक प्राचार्य, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग
भूपेंद्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, पश्चिमी परिसर
पी.जी. सेंटर सहरसा, बिहार. पिन : 852201

डॉ. रणजीत कुमार
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
मौलाना मजहरूल हक अरबी व फारसी विश्वविद्यालय
पटना (बिहार) पिन - 800001

डॉ. स्वीटी कुमारी
सहायक आचार्य, प्राणिविज्ञान विभाग
श्री विश्वनाथ पी.जी. कॉलेज, कलानसुल्तानपुर
उत्तर प्रदेश. पिन -228101

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक. पिन - 737102

प्रो. अमरेन्द्र त्रिपाठी
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
(उत्तर प्रदेश) पिन - 211002

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय
सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) – 221005

डॉ. निमिषा त्रिपाठी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-सह-अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची

डॉ. राम मनोहर मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर
कानपुर देहात (उ.प्र.) पिन : 209101

रवीन्द्र पाण्डेय
हिंदी विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ. प्र.) पिन - 273009

सलाहकार समिति

डॉ. राजीव रंजन गिरि
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कला संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली – 110007

डॉ. रवेन्द्र राजपूत
एसोसिएट प्रोफेसर, शिक्षक-शिक्षा विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़
उत्तर प्रदेश. पिन - 202001

डॉ. निशीथ राय
सहायक प्रोफेसर, मानवविज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन – 442001

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

UGC Approved Journal No. 49359 (Old) Impact Factor: 9.375
यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

अगस्त (August) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 8

अनुक्रम

संपादकीय पृष्ठ संख्या

- डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि और भारतीय संस्कृति 01-14
  _तमन्ना गोयल _डॉ. हेमंत कुमार
- कृष्णा सोबती के साहित्य में पारिवारिक संबंध और स्त्री का मनोविज्ञान : एक अध्ययन 15-21
  _प्रदीप गोठवाल _डॉ. देवी प्रसाद
- स्त्री काल-अनुभव और स्त्री-अस्मिता : सीमोन द बोउवार की 'स्त्री उपेक्षिता' का पुनर्पाठ 22-27
  _डॉ. इन्दु दत्ता
- भारतीय ज्ञान परंपरा में संत ज्ञानेश्वर का योगदान **_राम फरांडे** 28-33
- बिहार में प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) की ऋण एवं विविध कृषि-आर्थिक सेवाओं का स्वरूप, विस्तार एवं उपयोगिता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 34-41
  _सिन्टु कुमार _डॉ० ललित नारायण मिश्रा
- इक्कीसवीं सदी में भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का योगदान 42-46
  _प्रकाश कुमार _डॉ. अखिलेश कुमार सिंह
- पीली छतरी वाली लड़की : कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा **_शिवम कुमार सिंह** 47-50
- भारत में महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा : एक सामाजिक-कानूनी विश्लेषण **_पिंकी सारथी** 51-59
- दिव्य प्रकाश दुबे की रचना 'यार पापा' का समाजशास्त्रीय अध्ययन **_गौतम कुमार** 60-62
- गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की स्थिति : अभिलेखीय साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन **_अमरिश दीक्षित _डॉ.सुरभि श्रीवास्तव** 63-72
- गीतऋषि गोपालदास नीरज के काव्य में भारतबोध **_रेखा वर्मा _प्रो. प्रीति सागर** 73-79
- मानवतावाद और समकालीन चुनौतियां : पंडिता रमा बाई के दृष्टिकोण का पुनर्पाठ 80-84
  _निभा कुमारी
- नासिरा शर्मा के उपन्यास 'जिंदा मुहावरे' में भारत-पाकिस्तान विभाजन की त्रासदी का मनोवैज्ञानिक चित्रण **_रेश्मा बानो _डॉ. अखिलेश कुमार** 85-91
- कृष्णा सोबती के उपन्यास 'ऐ लड़की' का समाजशास्त्री समीक्षा **_सोनू गौतम** 92-96
- गंगा प्रसाद विमल के कथा-साहित्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अध्ययन **_शिव कुमार** 97-101
- महिला आत्मकथाओं में सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण **_सृष्टि सुमन** 102-105
- भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी कहानी की बदलती भाषा और शिल्प **_सत्या शर्मा** 106-110
- श्रीलाल शुक्ल के कालजयी उपन्यास 'रागदरबारी' की समाजशास्त्रीय समीक्षा 111-115
  _अखिलेश कुमार सिंह

UGC Approved Journal No. 49359 (Old) Impact Factor: 9.375

यू.जी.सी. के नवीन दिशा-निर्देशों के अनुरूप प्रकाशित

पदचिन्ह PADCHINHA

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

अगस्त (August) 2026 वर्ष (Vol.): 15 अंक (Issue): 8

➢ अंधा युग नाटक का समाजशास्त्रीय अध्ययन _**धनंजय कुमार तिवारी** 116-121

➢ ग्रामीण विकास योजनाओं और रोजगार सृजन का आर्थिक प्रभाव : मिर्ज़ापुर जिले के विशेष संदर्भ में एक मूल्यांकन _**डॉ० अमरेश मिश्र** 122-127

➢ वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याणकारी योजनाओं की सूचना तक पहुँच और डिजिटल विभाजन की स्थिति : एक अन्वेषनात्मक अध्ययन _**डॉ. कमलेश मिश्र** 128-132

➢ A Demographic Analysis of Behavioural Biases Influencing Investment Decisions among Working Women in Chhattisgarh _**Thakur Ranjit Singh** _**Dr. Ekta Mishra** 133-149

➢ हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शिक्षक नामवर सिंह _ **अप्पु कुमार** 150-153

➢ उग्रवादी राष्ट्रवाद और जनचेतना से राष्ट्र-निर्माण तक : लोकमान्य तिलक की राजनीतिक भूमिका _**दुर्गेश कुमार सिंह** 154-159

➢ शिक्षा के क्षेत्र में ललित कला का महत्व: एक अध्ययन _**डॉ. कविता गंगबोईर** 160-164

➢ Folk Song, Occupational Identity and Cultural Ecology: An Ethnographic Study of the Dhobi Community in Eastern Uttar Pradesh _**Shiv Kumar** 165-174

➢ स्वतंत्र भारत में शिक्षक-शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका: 1948-2005 तक के प्रमुख शिक्षा आयोगों का तुलनात्मक विश्लेषण _**डॉ. अमृत कुमार** _**उमेश कुमार** 175-182

➢ The Role of Kesari and Mahratta in the Growth of Indian Nationalism _**Rohit Raj** 183-191

➢ बौद्धयुगीन बिहार में राजतंत्र और गणतंत्र का तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन _**अजय कुमार** _**डॉ. अमित कुमार** 192-199

➢ सोनपुर मेले का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व : एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण _**जुली कुमारी** 200-203

➢ सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करने में त्योहारों, अनुष्ठानों और कला रूपों की भूमिका _**प्रदीप कुमार** 204-207

➢ किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का अध्ययन _**प्रियंका यादव** _ **डॉ. महेश चन्द यादव** 208-214

➢ भारतीय समाज में बढ़ता हुआ प्रदूषण एवं छात्र असंतोष _**डॉ. नीलिमा नागर** 215-221

➢ डिजिटल इकोनामी और यूपीआई (UPI) का भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़ने वाले प्रभाव का अध्ययन _**डॉ. आकांक्षा राठौर** 222-224

➢ NOTES FOR AUTHORS

संपादकीय

समाज निरंतर परिवर्तनशील है। समय के साथ मनुष्य की जीवन-दृष्टि, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ और ज्ञान प्राप्त करने के माध्यम बदलते रहते हैं। इन परिवर्तनों को समझना, उनका विवेकपूर्ण विश्लेषण करना और समाज के समक्ष उपस्थित समस्याओं का समाधान खोजने में योगदान देना शोध एवं अकादमिक विमर्श का प्रमुख दायित्व है। शोध केवल तथ्यों का संकलन अथवा किसी विषय का सैद्धांतिक विवेचन नहीं है, बल्कि यह समाज को समझने, प्रश्न उठाने और बेहतर भविष्य की संभावनाएँ तलाशने की एक सतत प्रक्रिया है। इसी दृष्टि से शोध पत्रिका 'पदचिन्ह' ज्ञान, विचार और संवाद की परंपरा को सुदृढ़ करने के लिए प्रतिबद्ध है।

वर्तमान समय में शिक्षा, साहित्य, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, दर्शन, इतिहास, विज्ञान और तकनीक जैसे विभिन्न विषयों के बीच संवाद की आवश्यकता पहले से अधिक बढ़ गई है। आज की सामाजिक समस्याएँ किसी एक विषय तक सीमित नहीं हैं। बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, पर्यावरणीय संकट, सामाजिक भेदभाव, सांस्कृतिक परिवर्तन और तकनीकी विकास जैसे प्रश्नों को समझने के लिए बहुविषयक दृष्टिकोण आवश्यक है। जब विभिन्न ज्ञान-परंपराएँ एक-दूसरे के साथ संवाद करती हैं, तब किसी समस्या के विविध पक्ष सामने आते हैं और समाधान की अधिक व्यापक संभावनाएँ विकसित होती हैं। 'पदचिन्ह' इसी बहुविषयक दृष्टि को प्रोत्साहित करते हुए विभिन्न विषयों के शोधकर्ताओं को अपने विचार, अनुभव और निष्कर्ष साझा करने का मंच प्रदान करती है।

शोध की सार्थकता उसकी नवीनता के साथ-साथ उसकी प्रामाणिकता और सामाजिक उपयोगिता में भी निहित होती है। एक अच्छे शोधकर्ता का दायित्व है कि वह पूर्वनिर्धारित धारणाओं से मुक्त होकर तथ्यों का निष्पक्ष विश्लेषण करे। शोध में संदर्भों की विश्वसनीयता, उचित पद्धति, तार्किक विवेचन और निष्कर्षों की स्पष्टता का विशेष महत्त्व है। अकादमिक लेखन में मौलिकता और नैतिकता को सर्वोच्च स्थान मिलना चाहिए। शोधार्थियों को यह समझना होगा कि संदर्भों का उचित उल्लेख, दूसरे विद्वानों के विचारों के प्रति सम्मान और शोध-सामग्री की सत्यता केवल औपचारिक नियम नहीं, बल्कि ज्ञान-सृजन की आधारशिलाएँ हैं। शोध की गुणवत्ता तभी सुनिश्चित हो सकती है, जब विद्वत्ता के साथ ईमानदारी और बौद्धिक उत्तरदायित्व भी जुड़ा हो।

डिजिटल तकनीक ने ज्ञान के सृजन, प्रसार और आदान-प्रदान की प्रक्रियाओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। ऑनलाइन पुस्तकालयों, डिजिटल अभिलेखागार और इलेक्ट्रॉनिक शोध पत्रिकाओं ने शोधकर्ताओं के लिए अध्ययन की नई संभावनाएँ खोली हैं। दूसरी ओर, अप्रामाणिक सूचनाओं का प्रसार, संदर्भों की गलत प्रस्तुति तथा बिना समुचित परीक्षण के तकनीकी साधनों पर निर्भरता जैसी चुनौतियाँ भी सामने आई

हैं। इसलिए तकनीक का उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए। शोधकर्ता के लिए आवश्यक है कि वह उपलब्ध सूचनाओं का आलोचनात्मक परीक्षण करे और प्रमाणिक स्रोतों के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करे। तकनीक शोध का सहायक माध्यम हो सकती है, किंतु स्वतंत्र चिंतन, मानवीय संवेदना और तार्किक विवेक का विकल्प नहीं।

भारतीय ज्ञान-परंपरा भी वर्तमान बौद्धिक विमर्श के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करती है। भारतीय दर्शन, साहित्य, लोकसंस्कृति और सामाजिक चिंतन में मानव-कल्याण, सह-अस्तित्व, नैतिकता तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व जैसे अनेक विचार मिलते हैं। इन परंपराओं का अध्ययन केवल अतीत के गौरव का स्मरण करने के लिए नहीं, बल्कि उनके विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए वर्तमान संदर्भों में उनकी प्रासंगिकता समझने के लिए भी आवश्यक है। परंपरा और आधुनिकता के बीच सार्थक संवाद स्थापित करना हमारी अकादमिक जिम्मेदारी है। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को खुले दृष्टिकोण से समझें तथा समकालीन ज्ञान और वैश्विक अनुभवों के साथ उसका विवेकपूर्ण समन्वय करें।

शिक्षा और शोध का अंतिम उद्देश्य मानवीय जीवन को अधिक सार्थक बनाना होना चाहिए। ऐसा ज्ञान, जो समाज की वास्तविक समस्याओं से संवाद न करे, अपनी संभावनाओं को सीमित कर लेता है। इसलिए विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और शोध संस्थानों में ऐसे अध्ययन को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जो सामाजिक वास्तविकताओं को समझें, वंचित समुदायों के अनुभवों को सामने लाएँ और लोकतांत्रिक मूल्यों को सुदृढ़ करें। साहित्य और सामाजिक विज्ञान इस संदर्भ में विशेष महत्त्व रखते हैं, क्योंकि वे मनुष्य के अनुभवों, संवेदनाओं और सामाजिक संबंधों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

'पदचिन्ह' का प्रयास है कि उसके माध्यम से प्रकाशित शोधकार्य अकादमिक गुणवत्ता, मौलिक चिंतन और सामाजिक उत्तरदायित्व की कसौटी पर सार्थक योगदान दे सकें। हमें विश्वास है कि इस अंक में प्रकाशित आलेख पाठकों को नए प्रश्नों पर विचार करने, स्थापित धारणाओं का पुनर्मूल्यांकन करने और ज्ञान के विविध क्षेत्रों के बीच संवाद विकसित करने के लिए प्रेरित करेंगे। लेखकों, शोधार्थियों, समीक्षकों और पाठकों का सहयोग इस बौद्धिक यात्रा की महत्त्वपूर्ण शक्ति है।

अंततः, ज्ञान की वास्तविक उपलब्धि केवल नई जानकारियाँ प्राप्त करना नहीं, बल्कि उन जानकारियों के आधार पर अधिक विवेकपूर्ण, संवेदनशील और न्यायपूर्ण समाज के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ना है। आशा है कि 'पदचिन्ह' का यह अगस्त अंक विचार, शोध और रचनात्मक संवाद की नई संभावनाओं को प्रोत्साहित करेगा तथा ज्ञान-साधना की निरंतर यात्रा में अपना सार्थक योगदान देगा।

संपादक

Received: 01.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

डॉ कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि और भारतीय संस्कृति

तमन्ना गोयल[*]
tamannagoyaljio@gmail.com

डॉ. हेमंत कुमार[†]
सहायक आचार्य

सार (Abstract)

हिंदी साहित्य के आधुनिक आलोचना-परिदृश्य में डॉ. कन्हैयालाल सहल का नाम उन साहित्यकारों में प्रमुखता से लिया जाता है, जिन्होंने साहित्य, संस्कृति और समाज के अंतर्संबंधों को भारतीय दृष्टि से समझने और व्याख्यायित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। वे केवल आलोचक या निबंधकार ही नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, लोकजीवन, भाषा तथा साहित्य के गंभीर अध्येता भी हैं। उनकी साहित्य-दृष्टि भारतीय जीवन-दर्शन, लोक-संस्कृति, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक निरंतरता पर आधारित है। उन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं माना, बल्कि उसे समाज, संस्कृति और मानव जीवन के विकास का प्रभावी माध्यम स्वीकार किया। उनकी आलोचना में भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, आधुनिक साहित्यिक दृष्टियों तथा लोक-सांस्कृतिक चेतना का समन्वित रूप देखने को मिलता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि का भारतीय संस्कृति के संदर्भ में विश्लेषण किया गया है। इसमें उनकी साहित्यिक मान्यताओं, सांस्कृतिक चिंतन, लोकजीवन के प्रति उनकी आस्था, भाषा संबंधी विचारों तथा साहित्य के सामाजिक दायित्व का सम्यक् विवेचन किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि डॉ. सहल भारतीय संस्कृति को केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के निर्माण की जीवंत शक्ति के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति विविधताओं में एकता, सहिष्णुता, मानवीय मूल्यों तथा लोक-आधारित जीवन-दृष्टि की संवाहक है। उन्होंने साहित्य के माध्यम से इन मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया तथा साहित्य को सांस्कृतिक चेतना के संरक्षण एवं संवर्धन का सशक्त माध्यम माना।

वर्तमान वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद तथा सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि और अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है। उनका चिंतन भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता, लोक परंपरा और मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना की दिशा में महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करता है। इस दृष्टि से उनका साहित्य समकालीन सांस्कृतिक विमर्श के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

कुंजी शब्द *:*

डॉ. कन्हैयालाल सहल, साहित्य-दृष्टि, भारतीय संस्कृति, लोक-संस्कृति, भारतीयता, सांस्कृतिक चेतना, आलोचना, निबंध, भाषा-चिंतन।

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य की मूल चेतना उसकी संस्कृति, परंपरा और लोकजीवन से निर्मित होती है। भारतीय संस्कृति केवल धार्मिक या दार्शनिक मान्यताओं का समुच्चय नहीं है, बल्कि यह जीवन के समग्र अनुभव, सामाजिक व्यवहार, नैतिक मूल्यों, लोक-विश्वासों, कला, साहित्य, भाषा तथा सांस्कृतिक परंपराओं का व्यापक संसार है। इसी कारण भारतीय साहित्य

[*] **पी-एच. डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर, राजस्थान**

[†] **हिंदी विभाग, पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर, राजस्थान.**

की प्रत्येक महत्वपूर्ण धारा अपने समय की सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती रही है। साहित्य और संस्कृति का संबंध अन्योन्याश्रित है; संस्कृति साहित्य को जीवन-दृष्टि प्रदान करती है और साहित्य संस्कृति को अभिव्यक्ति तथा स्थायित्व प्रदान करता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का विकास भारतीय संस्कृति के विकास के साथ समानांतर रूप से हुआ है।

आधुनिक हिंदी साहित्य में अनेक ऐसे साहित्यकार हुए हैं जिन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्यबोध का विषय न मानकर सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का माध्यम माना। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को लोकमंगल से जोड़ा, हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक एवं मानवीय व्याख्या प्रस्तुत की, रामविलास शर्मा ने साहित्य को सामाजिक यथार्थ और राष्ट्रीय चेतना से संबद्ध किया तथा विद्यानिवास मिश्र ने लोक-संस्कृति को भारतीय सभ्यता की आधारभूमि माना। इन्हीं परंपराओं को आगे बढ़ाने वाले साहित्यकारों में डॉ. कन्हैयालाल सहल का नाम अत्यंत सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने भारतीय साहित्यिक परंपरा को आधुनिक आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हुए साहित्य, संस्कृति और समाज के पारस्परिक संबंधों का गंभीर विश्लेषण किया।

डॉ. कन्हैयालाल सहल का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे आलोचक, निबंधकार, संपादक, भाषा-चिंतक तथा लोक-साहित्य के मर्मज्ञ अध्येता हैं। उनकी साहित्य-साधना का मूल उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक चेतना को साहित्य के माध्यम से समझना और उसे समकालीन संदर्भों में पुनर्स्थापित करना रहा है। उन्होंने साहित्य को समाज से पृथक न मानकर समाज की सांस्कृतिक स्मृति और नैतिक चेतना का दर्पण माना। उनके अनुसार किसी भी साहित्य की वास्तविक शक्ति उसकी लोक-संपृक्ति, सांस्कृतिक आधार और मानवीय संवेदनशीलता में निहित होती है। इसलिए उनके साहित्य में लोकजीवन, लोक-संस्कृति, भारतीय परंपरा, भाषा की सांस्कृतिक भूमिका तथा साहित्य के सामाजिक उत्तरदायित्व का निरंतर प्रतिपादन मिलता है।

डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र और आधुनिक आलोचना का संतुलित समन्वय प्रस्तुत करती है। उन्होंने न तो भारतीय परंपरा को रूढ़ मानकर उसका निषेध किया और न ही आधुनिक विचारधाराओं का अंधानुकरण किया। उनकी आलोचना में परंपरा और आधुनिकता के बीच संवाद की प्रवृत्ति दिखाई देती है। वे मानते हैं कि साहित्य का मूल्यांकन केवल पश्चिमी सिद्धांतों के आधार पर नहीं किया जा सकता, बल्कि भारतीय समाज, संस्कृति और लोकजीवन की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही साहित्य की सही व्याख्या संभव है। यही कारण है कि उनकी आलोचना में भारतीयता का बोध, सांस्कृतिक आत्मविश्वास तथा लोकचेतना का विशेष महत्त्व दिखाई देता है।

भारतीय संस्कृति के संबंध में डॉ. सहल का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक और समन्वयवादी है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल आधार सहिष्णुता, समन्वय, करुणा, मानवीय समानता तथा विविधताओं में एकता की भावना है। भारतीय संस्कृति निरंतर परिवर्तनशील होते हुए भी अपनी मूल जीवन-दृष्टि को सुरक्षित रखती है। साहित्य इस सांस्कृतिक निरंतरता का सबसे प्रभावी माध्यम है। इसलिए साहित्यकार का दायित्व केवल सौंदर्य-सृष्टि करना नहीं, बल्कि समाज की सांस्कृतिक चेतना को जागृत रखना भी है। डॉ. सहल के साहित्य में यह विश्वास बार-बार व्यक्त होता है कि यदि साहित्य अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट जाएगा तो उसकी रचनात्मक शक्ति भी क्षीण हो जाएगी।

डॉ. सहल ने लोक-संस्कृति को भारतीय संस्कृति का आधार माना है। उनका मत है कि लोकजीवन में ही भारतीय समाज की वास्तविक संवेदना, परंपरा और सांस्कृतिक स्मृति सुरक्षित रहती है। लोकगीत, लोककथाएँ, लोकविश्वास, लोकभाषाएँ और लोकाचार भारतीय संस्कृति के जीवंत दस्तावेज हैं। इसलिए उन्होंने लोक-साहित्य के अध्ययन को केवल मनोरंजन का विषय न मानकर सांस्कृतिक अध्ययन का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना। उनके अनुसार लोक-संस्कृति और शिष्ट साहित्य परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। शिष्ट साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति लोकजीवन से ही प्राप्त होती है। भाषा के संबंध में भी डॉ. सहल के विचार भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। वे भाषा को केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता का आधार मानते हैं। किसी समाज की भाषा उसके इतिहास, परंपरा, लोक-अनुभव और सांस्कृतिक स्मृति की संवाहक होती है। हिंदी भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता तथा उसकी लोक-संपृक्ति के प्रति उनका विशेष आग्रह इसी सांस्कृतिक दृष्टि का परिचायक है।

आज जब वैश्वीकरण, बाज़ारवाद, डिजिटल संस्कृति और उपभोक्तावाद के कारण सांस्कृतिक मूल्यों में तीव्र परिवर्तन हो रहा है, तब डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि नए अर्थों में प्रासंगिक हो उठती है। उनका साहित्य यह संदेश

देता है कि आधुनिकता का अर्थ अपनी सांस्कृतिक जड़ों से विच्छिन्न होना नहीं, बल्कि परंपरा और नवीनता के बीच सृजनात्मक संतुलन स्थापित करना है। भारतीय संस्कृति की जीवंतता इसी समन्वय में निहित है।

इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि का भारतीय संस्कृति के संदर्भ में विश्लेषण करना है। इसमें उनके साहित्यिक चिंतन के प्रमुख आयामों भारतीयता, लोक-संस्कृति, भाषा, सांस्कृतिक चेतना, परंपरा, आधुनिकता तथा साहित्य के सामाजिक दायित्व का आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा। साथ ही यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा कि समकालीन सांस्कृतिक विमर्श में डॉ. सहल का चिंतन किस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को सुदृढ़ करने वाला महत्वपूर्ण साहित्यिक प्रतिमान प्रस्तुत करता है।

डॉ. कन्हैयालाल सहल : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि

हिंदी साहित्य के आधुनिक परिदृश्य में डॉ. कन्हैयालाल सहल का नाम उन विद्वानों में प्रमुखता से लिया जाता है, जिन्होंने साहित्य को केवल रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम न मानकर भारतीय संस्कृति, समाज और मानवीय मूल्यों के संरक्षण एवं संवर्धन का प्रभावी साधन माना। डॉ. कन्हैया लाल सहल का जन्म **सन् 1912 ई.** में भारत की उस समृद्ध सांस्कृतिक एवं बौद्धिक परंपरा में हुआ, जिसने उनके व्यक्तित्व, चिंतन और साहित्यिक दृष्टि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे एक गंभीर आलोचक, चिंतनशील निबंधकार, भाषा-विद्, लोक-साहित्य के मर्मज्ञ अध्येता तथा कुशल संपादक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके लेखन में भारतीय सांस्कृतिक चेतना, लोकजीवन के प्रति गहरी आस्था, भाषा के प्रति संवेदनशीलता तथा साहित्य के सामाजिक दायित्व का सशक्त समन्वय दिखाई देता है। डॉ. कन्हैया लाल सहल का जन्म एक संस्कारित, शिक्षाप्रेमी तथा भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों से अनुप्राणित परिवार में हुआ। उनके पिता **श्री हनुमानबक्स सहल** मूलतः **राजस्थान के झुंझुनूं जिले के नवलगढ़ कस्बे** के निवासी थे।

डॉ. सहल का साहित्यिक अवदान ऐसे समय में सामने आया, जब हिंदी साहित्य में परंपरा और आधुनिकता के बीच नए प्रकार का वैचारिक संवाद विकसित हो रहा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज तीव्र सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से गुजर रहा था। साहित्य में एक ओर आधुनिकतावादी और प्रयोगवादी प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही थीं, वहीं दूसरी ओर भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों, लोकजीवन और राष्ट्रीय अस्मिता के प्रश्न भी नए रूप में उभर रहे थे। इस संक्रमणकाल में डॉ. सहल ने भारतीय साहित्यिक परंपरा की मूल चेतना को आधुनिक संदर्भों से जोड़ते हुए एक संतुलित आलोचना-दृष्टि का विकास किया। उनकी साहित्य-दृष्टि पर भारतीय ज्ञान-परंपरा, संस्कृत काव्यशास्त्र, हिंदी आलोचना, लोक-साहित्य तथा भारतीय सांस्कृतिक दर्शन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक उपलब्धि नहीं माना, बल्कि उसे समाज की सांस्कृतिक स्मृति और ऐतिहासिक चेतना का दर्पण स्वीकार किया। उनके अनुसार साहित्य की सार्थकता तभी है, जब वह मनुष्य के नैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास में सक्रिय भूमिका निभाए। यही कारण है कि उनके साहित्य में मानवीय संवेदना, सांस्कृतिक मूल्य और सामाजिक उत्तरदायित्व एक-दूसरे के पूरक रूप में उपस्थित होते हैं।

डॉ. सहल की साहित्य-साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उनकी आलोचना-दृष्टि है। उन्होंने आलोचना को मात्र दोष-दर्शन अथवा गुणगान का माध्यम न मानकर साहित्य के बहुआयामी मूल्यांकन की एक वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में विकसित किया। उनकी आलोचना में भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, रस, ध्वनि, औचित्य तथा लोकमंगल की अवधारणाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। साथ ही उन्होंने आधुनिक आलोचनात्मक सिद्धांतों के उपयोग में भी संतुलन बनाए रखा। वे किसी एक विचारधारा के आग्रह से मुक्त रहकर साहित्य का मूल्यांकन उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक संदर्भ तथा रचनात्मक गुणवत्ता के आधार पर करते हैं।

डॉ. सहल का मानना था कि भारतीय साहित्य को समझने के लिए भारतीय समाज, इतिहास, संस्कृति तथा लोक-परंपराओं का गहन अध्ययन आवश्यक है। यदि साहित्य का मूल्यांकन केवल पाश्चात्य सिद्धांतों के आधार पर किया जाएगा, तो उसकी मूल सांस्कृतिक चेतना की उपेक्षा होगी। इसलिए उन्होंने भारतीय आलोचना-परंपरा को आधुनिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित करने का प्रयास किया। उनकी आलोचना-दृष्टि भारतीयता पर आधारित होते हुए भी संकीर्ण नहीं है; उसमें वैश्विक साहित्यिक चिंतन के प्रति भी पर्याप्त उदारता दिखाई देती है।

डॉ. सहल के साहित्यिक चिंतन में **लोक** का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे लोकजीवन को भारतीय संस्कृति की आधारभूमि मानते हैं। उनके अनुसार किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान उसके लोकजीवन, लोकभाषाओं, लोककथाओं,

लोकगीतों तथा लोकाचारों में सुरक्षित रहती है। इसलिए साहित्य को लोकजीवन से निरंतर ऊर्जा ग्रहण करनी चाहिए। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि लोक-साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज की सामूहिक स्मृति, ऐतिहासिक अनुभव और सांस्कृतिक निरंतरता का सशक्त दस्तावेज है। इसी दृष्टि से उन्होंने लोक-साहित्य के अध्ययन को हिंदी साहित्य के लिए अत्यंत आवश्यक माना।

निबंधकार के रूप में भी डॉ. सहल की विशिष्ट पहचान है। उनके निबंधों में साहित्य, संस्कृति, भाषा, समाज और शिक्षा जैसे विविध विषयों पर गंभीर तथा तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किए गए हैं। उनके निबंधों की भाषा सरल, सुसंगत तथा विचारप्रधान है। वे जटिल विषयों को भी सहज शैली में स्पष्ट करते हैं। उनके निबंधों में तथ्यात्मकता और संवेदनशीलता का संतुलित समन्वय मिलता है। वे पाठक को केवल सूचना नहीं देते, बल्कि चिंतन की नई दिशा भी प्रदान करते हैं।

भाषा के प्रश्न पर डॉ. सहल का दृष्टिकोण अत्यंत स्पष्ट और व्यावहारिक है। वे भाषा को किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक अस्मिता का आधार मानते हैं। उनके अनुसार भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं, बल्कि किसी समाज के इतिहास, संस्कृति, जीवन-दृष्टि और सामूहिक अनुभव की संवाहक होती है। हिंदी भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता, उसकी जनसंपृक्ति तथा सांस्कृतिक भूमिका के प्रति उनका विशेष आग्रह इसी कारण दिखाई देता है। वे भाषा के विकास को समाज और संस्कृति के विकास से अविच्छिन्न रूप से जोड़कर देखते हैं।

डॉ. सहल ने संपादक के रूप में भी हिंदी साहित्य को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों, शोध-सामग्री तथा साहित्यिक कृतियों का संपादन कर हिंदी साहित्य की मूल्यवान धरोहर को व्यवस्थित रूप से पाठकों और शोधार्थियों तक पहुँचाने का कार्य किया। उनका संपादन केवल तकनीकी प्रक्रिया नहीं था, बल्कि उसके पीछे गहन अध्ययन, पाठालोचन तथा सांस्कृतिक दृष्टि का समन्वय दिखाई देता है।

उनकी साहित्य-साधना का एक अन्य उल्लेखनीय पक्ष भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी गहरी आस्था है। वे भारतीय संस्कृति को स्थिर या जड़ व्यवस्था नहीं मानते, बल्कि उसे निरंतर विकसित होने वाली जीवन-पद्धति के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी शक्ति उसका समन्वयवाद, सहिष्णुता, मानवीयता तथा विविधताओं को स्वीकार करने की क्षमता है। साहित्य इन मूल्यों का संरक्षण और प्रसार करता है; इसलिए साहित्यकार का दायित्व केवल कलात्मक रचना तक सीमित नहीं रह जाता, बल्कि वह सांस्कृतिक उत्तरदायित्व भी निभाता है।

डॉ. सहल के साहित्य में बार-बार यह विचार व्यक्त होता है कि आधुनिकता का स्वागत किया जाना चाहिए, किंतु अपनी सांस्कृतिक जड़ों की उपेक्षा करके नहीं। वे मानते हैं कि परंपरा और आधुनिकता विरोधी नहीं, बल्कि पूरक अवधारणाएँ हैं। परंपरा जीवन-मूल्यों का आधार प्रदान करती है और आधुनिकता उन मूल्यों को नए संदर्भों में विकसित करने की प्रेरणा देती है। यही समन्वय उनकी साहित्य-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है। डॉ. कन्हैयालाल सहल का साहित्यिक व्यक्तित्व भारतीय ज्ञान-परंपरा, लोक-संस्कृति, मानवीय मूल्यों तथा आधुनिक आलोचनात्मक चेतना का समन्वित रूप है। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से यह स्थापित किया कि साहित्य का वास्तविक उद्देश्य केवल सौंदर्य की सृष्टि करना नहीं, बल्कि मनुष्य और समाज के सांस्कृतिक विकास को दिशा देना भी है। उनकी साहित्य-दृष्टि भारतीय संस्कृति की गहन समझ पर आधारित है और इसी कारण उनका साहित्य आज भी सांस्कृतिक विमर्श, लोक-अध्ययन तथा हिंदी आलोचना के क्षेत्र में समान रूप से प्रासंगिक बना हुआ है।

साहित्य-दृष्टि की अवधारणा

साहित्य-दृष्टि से आशय उस वैचारिक, दार्शनिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से है, जिसके आधार पर कोई साहित्यकार साहित्य की प्रकृति, उद्देश्य, सामाजिक भूमिका तथा मानवीय उपयोगिता का निर्धारण करता है। प्रत्येक साहित्यकार की साहित्य-दृष्टि उसके जीवनानुभव, सांस्कृतिक परिवेश, दार्शनिक मान्यताओं और सामाजिक चेतना से निर्मित होती है। यही दृष्टि उसकी रचनात्मकता और आलोचनात्मकता दोनों को दिशा प्रदान करती है। भारतीय साहित्यिक परंपरा में साहित्य को सदैव लोकमंगल, मानवीय संवेदना तथा सांस्कृतिक संरक्षण का माध्यम माना गया है। भरतमुनि से लेकर आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और आधुनिक आलोचकों तक साहित्य के सामाजिक और सांस्कृतिक दायित्व को विशेष महत्त्व दिया गया है।

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि इसी भारतीय चिंतन-परंपरा से अनुप्राणित है। उन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक अभिव्यक्ति या बौद्धिक अभ्यास नहीं माना, बल्कि उसे मनुष्य, समाज और संस्कृति के मध्य सक्रिय संवाद का माध्यम स्वीकार किया। उनके अनुसार साहित्य का वास्तविक मूल्य उसकी मानवीय उपयोगिता, सांस्कृतिक प्रासंगिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व में निहित है। इसीलिए उनकी आलोचना में साहित्य का मूल्यांकन केवल शिल्प या भाषा के आधार पर नहीं, बल्कि उसकी सांस्कृतिक चेतना, लोकसंपृक्ति और मानवीय सरोकारों के आधार पर किया गया है।

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि भारतीय साहित्यिक परंपरा, सांस्कृतिक चेतना, लोकमंगल और मानवीय मूल्यों पर आधारित एक समन्वयवादी दृष्टि है। उन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक अभिव्यक्ति या सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं माना, बल्कि उसे समाज, संस्कृति और मानव जीवन के विकास का सशक्त साधन स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में साहित्य का वास्तविक उद्देश्य केवल रसास्वादन कराना नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर नैतिकता, संवेदनशीलता, सांस्कृतिक आत्मबोध और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करना है। यही कारण है कि उनके आलोचनात्मक लेखन में साहित्य का मूल्यांकन केवल शिल्प, भाषा और शैली के आधार पर नहीं, बल्कि उसके सांस्कृतिक, सामाजिक और मानवीय सरोकारों के आधार पर किया गया है।

डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि का मूल आधार भारतीय काव्यशास्त्र की समृद्ध परंपरा है। उन्होंने भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस, ध्वनि, औचित्य, लोकमंगल और सहृदयता जैसे सिद्धांतों को आधुनिक आलोचना की कसौटियों के साथ समन्वित रूप में ग्रहण किया। वे मानते हैं कि भारतीय साहित्य को समझने और उसका समुचित मूल्यांकन करने के लिए भारतीय सांस्कृतिक संदर्भों, जीवन-दृष्टि और काव्य-परंपरा का ज्ञान अनिवार्य है। इसलिए उन्होंने पश्चिमी आलोचना-पद्धतियों के उपयोग को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया, किंतु यह स्पष्ट किया कि भारतीय साहित्य की आत्मा को समझने के लिए भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा अधिक उपयुक्त आधार प्रदान करती है। इस प्रकार उनकी साहित्य-दृष्टि परंपरा और आधुनिकता के संतुलित समन्वय का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

डॉ. सहल के साहित्यिक चिंतन में **लोकमंगल** की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे साहित्य को समाज से पृथक कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते, बल्कि उसे लोकजीवन, लोकानुभव और सामूहिक चेतना का सृजनात्मक रूप स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार साहित्य का उद्देश्य केवल व्यक्तिगत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि समाज के व्यापक हितों की प्रतिष्ठा भी है। साहित्य तभी सार्थक होता है जब वह मनुष्य के जीवन को अधिक मानवीय, संवेदनशील और संस्कारित बनाने में योगदान दे। इस दृष्टि से उनकी साहित्य-दृष्टि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोकमंगलवादी परंपरा का आधुनिक विस्तार प्रतीत होती है।

मानवीय संवेदना भी डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि का एक केंद्रीय तत्व है। उनका विश्वास है कि साहित्य मनुष्य की संवेदनशीलता को परिष्कृत करता है और उसे समाज के दुःख, संघर्ष तथा जीवन-मूल्यों के प्रति जागरूक बनाता है। साहित्य में करुणा, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, प्रेम और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा आवश्यक है। यही कारण है कि उनके आलोचनात्मक लेखन में साहित्य को मानव जीवन की गरिमा और सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़कर देखा गया है। उनके अनुसार साहित्यकार केवल सौंदर्य का सर्जक नहीं, बल्कि समाज का सजग सांस्कृतिक प्रहरी भी होता है।

डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि में **भारतीय संस्कृति** का विशेष स्थान है। वे संस्कृति को किसी समाज की जीवन-पद्धति, मूल्य-व्यवस्था, भाषा, लोकपरंपरा और ऐतिहासिक अनुभवों का समन्वित रूप मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य संस्कृति का संवाहक और संरक्षक है, क्योंकि साहित्य के माध्यम से ही किसी समाज की सांस्कृतिक स्मृति सुरक्षित रहती है। उन्होंने अपने निबंधों और आलोचनात्मक लेखन में बार-बार यह प्रतिपादित किया कि साहित्य को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े बिना उसकी वास्तविक शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए वे लोक-संस्कृति, लोकभाषा और भारतीय परंपरा को साहित्य की आधारभूमि मानते हैं।

डॉ. सहल के आलोचनात्मक लेखन और निबंधों का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि उनकी साहित्य-दृष्टि भारतीय आलोचना की समन्वयवादी परंपरा का सशक्त विस्तार है। उन्होंने साहित्य को न तो केवल कलावादी दृष्टि से देखा और न ही केवल समाजशास्त्रीय दस्तावेज के रूप में; बल्कि साहित्य में सौंदर्य, संस्कृति, समाज, इतिहास और मानवीय मूल्यों का

संतुलित समन्वय स्थापित किया। यही कारण है कि उनका साहित्यिक चिंतन आज भी भारतीय सांस्कृतिक विमर्श और हिंदी आलोचना के क्षेत्र में समान रूप से प्रासंगिक है। समग्रतः डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि यह स्थापित करती है कि साहित्य का वास्तविक उद्देश्य केवल कलात्मक उत्कृष्टता प्राप्त करना नहीं, बल्कि समाज की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध करना, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना तथा लोकमंगल की भावना को सुदृढ़ करना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि में भारतीय संस्कृति

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि का मूल आधार भारतीय संस्कृति है। उनके साहित्यिक चिंतन में संस्कृति केवल परंपराओं, रीति-रिवाजों अथवा धार्मिक आस्थाओं का पर्याय नहीं है, बल्कि वह भारतीय समाज के समग्र जीवन-दर्शन, लोकानुभव, नैतिक मूल्यों, सामाजिक संबंधों, भाषा, लोकपरंपराओं तथा ऐतिहासिक चेतना का समन्वित स्वरूप है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति की वास्तविक शक्ति उसकी **समन्वयवादी प्रवृत्ति, सहिष्णुता, लोकाधारित जीवन-दृष्टि, नैतिक मूल्यों तथा मानव-केंद्रित चिंतन** में निहित है। यही कारण है कि उन्होंने साहित्य को भारतीय संस्कृति का संवाहक, संरक्षक और संवर्धक माना। उनके आलोचनात्मक लेखन और निबंधों में बार-बार यह प्रतिपादित होता है कि साहित्य तभी सार्थक हो सकता है, जब वह अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ा रहे और समाज की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध करे।

डॉ. सहल भारतीय संस्कृति को किसी स्थिर अथवा रूढ़ व्यवस्था के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे एक **गतिशील सांस्कृतिक प्रक्रिया** मानते हैं, जो समय के साथ विकसित होती हुई भी अपने मूल जीवन-मूल्यों को सुरक्षित रखती है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी समन्वयशीलता है। इस संस्कृति ने विभिन्न धार्मिक, दार्शनिक, भाषाई और सामाजिक परंपराओं को आत्मसात करते हुए विविधता में एकता की भावना को विकसित किया है। इसी कारण भारतीय संस्कृति किसी एक वर्ग, जाति, भाषा अथवा क्षेत्र की संस्कृति न होकर संपूर्ण भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। डॉ. सहल मानते हैं कि साहित्य इस समन्वयवादी परंपरा को अभिव्यक्ति प्रदान करता है तथा समाज में सांस्कृतिक संतुलन और मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है। उनकी साहित्य-दृष्टि में **लोकपरंपरा** भारतीय संस्कृति का सबसे सशक्त आधार है। डॉ. सहल ने लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति के अध्ययन को केवल लोकजीवन के मनोरंजक पक्ष तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे भारतीय सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण का माध्यम माना। उनके अनुसार लोकगीत, लोककथाएँ, लोकगाथाएँ, लोकभाषाएँ, लोकविश्वास और लोकाचार किसी भी समाज की सामूहिक स्मृति के जीवंत दस्तावेज हैं। इनसे समाज के ऐतिहासिक अनुभव, सांस्कृतिक मूल्य और जीवन-दृष्टि का परिचय मिलता है। इसलिए साहित्य का वास्तविक विकास तभी संभव है, जब वह लोकजीवन से निरंतर प्रेरणा ग्रहण करे। उनकी प्रसिद्ध कृति **'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्त्व'** इस बात का प्रमाण है कि वे लोक-संस्कृति को भारतीय साहित्य की आधारभूमि मानते थे।

डॉ. सहल की सांस्कृतिक दृष्टि में **नैतिकता** भी एक केंद्रीय तत्त्व है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का उद्देश्य केवल सभ्यता का विकास करना नहीं, बल्कि मनुष्य के चरित्र, संवेदनशीलता और नैतिक चेतना का निर्माण करना है। सत्य, अहिंसा, करुणा, सहिष्णुता, परोपकार, कर्तव्यबोध और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे मूल्य भारतीय संस्कृति की पहचान हैं। साहित्य इन मूल्यों को केवल अभिव्यक्त ही नहीं करता, बल्कि उन्हें समाज में प्रतिष्ठित भी करता है। इसी कारण डॉ. सहल साहित्य को नैतिक चेतना का सशक्त माध्यम मानते हैं। उनके विचार में साहित्यकार का दायित्व केवल कलात्मक सृजन करना नहीं, बल्कि समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना करना भी है।

मानवीय संवेदना डॉ. सहल की सांस्कृतिक दृष्टि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आधार है। वे साहित्य को मनुष्य और समाज के मध्य संवेदनात्मक संवाद का माध्यम मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य मनुष्य के भीतर करुणा, सहानुभूति, प्रेम और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करता है। यदि साहित्य में मानवीय संवेदना का अभाव हो जाए तो वह केवल बौद्धिक अभ्यास बनकर रह जाता है। इसलिए उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन में मानवीय सरोकारों को विशेष महत्त्व दिया। उनके आलोचनात्मक लेखन में साहित्य का आदर्श वही माना गया है, जो मनुष्य को अधिक संवेदनशील, विवेकशील और संस्कारित बनाए।

डॉ. सहल के निबंधों में भारतीय संस्कृति का विश्लेषण केवल ऐतिहासिक या दार्शनिक स्तर पर नहीं मिलता, बल्कि सामाजिक और साहित्यिक संदर्भों में भी दिखाई देता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारतीय संस्कृति का विकास लोकजीवन, लोकभाषाओं और सामाजिक अनुभवों से हुआ है। इसलिए साहित्य को भी इन्हीं स्रोतों से ऊर्जा प्राप्त करनी चाहिए। वे कृत्रिम,

जीवन-विमुख और केवल बौद्धिक साहित्य के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि साहित्य की शक्ति उसकी सांस्कृतिक प्रामाणिकता और लोकसंपृक्ति में निहित होती है। यही कारण है कि उनके निबंधों में संस्कृति और साहित्य का संबंध अत्यंत घनिष्ठ रूप में दिखाई देता है।

डॉ. सहल की आलोचना-दृष्टि में भारतीय संस्कृति साहित्य के मूल्यांकन की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। वे साहित्य को केवल सौंदर्यबोध के आधार पर नहीं परखते, बल्कि यह भी देखते हैं कि वह भारतीय समाज के सांस्कृतिक जीवन, नैतिक मूल्यों और लोकचेतना को किस सीमा तक अभिव्यक्त करता है। उनकी आलोचना भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा से प्रेरित होने के साथ-साथ आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों के प्रति भी सजग है। इसीलिए उनकी आलोचना न तो केवल परंपरावादी है और न ही अंध-आधुनिकतावादी; बल्कि वह भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि पर आधारित संतुलित और समन्वयवादी आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत करती है।

समकालीन वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और सांस्कृतिक संक्रमण के दौर में डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। आज जब सांस्कृतिक अस्मिता, लोकपरंपराओं और मानवीय मूल्यों के सामने अनेक चुनौतियाँ उपस्थित हैं, तब उनका साहित्य यह संदेश देता है कि आधुनिकता का स्वागत अपनी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखते हुए ही किया जाना चाहिए। वे भारतीय संस्कृति को अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के निर्माण की सृजनात्मक शक्ति मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य इस सांस्कृतिक शक्ति का सबसे प्रभावी माध्यम है, क्योंकि वही समाज को उसकी जड़ों से जोड़ते हुए नए समय के अनुरूप सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की दिशा प्रदान करता है।

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि में लोक-संस्कृति

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार **लोक-संस्कृति** है। उनके साहित्यिक चिंतन में लोक केवल ग्रामीण जीवन अथवा जनसामान्य की परंपराओं का द्योतक नहीं है, बल्कि वह भारतीय संस्कृति की मूल चेतना, सामूहिक स्मृति और जीवन-मूल्यों का आधार है। डॉ. सहल का मानना है कि किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान उसके लोकजीवन, लोकभाषा, लोकविश्वास, लोककथाओं, लोकगीतों, लोकगाथाओं तथा लोकाचारों में सुरक्षित रहती है। इसलिए साहित्य का वास्तविक विकास तभी संभव है, जब वह लोकजीवन से सतत जुड़ा रहे। उनकी दृष्टि में लोक-संस्कृति साहित्य की प्रेरणा-भूमि, संवेदना का स्रोत और सांस्कृतिक निरंतरता का आधार है।

डॉ. सहल ने अपने लोक-साहित्य संबंधी अध्ययन, विशेषतः **'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्त्व'** में यह प्रतिपादित किया है कि लोककथाएँ केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं हैं, बल्कि वे किसी समाज की सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों, सामाजिक अनुभवों और ऐतिहासिक स्मृतियों की वाहक होती हैं। लोककथाओं में पीढ़ियों से संचित जीवनानुभव, लोकविश्वास, आचार-व्यवहार, सामाजिक संबंध तथा सांस्कृतिक आदर्श संरक्षित रहते हैं। इस दृष्टि से लोककथाएँ भारतीय समाज के सांस्कृतिक इतिहास को समझने का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। डॉ. सहल ने लोककथाओं में उपस्थित रूढ़ तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया कि ये रूढ़ियाँ केवल कथा-शिल्प की परंपराएँ नहीं हैं, बल्कि वे लोकमानस की सांस्कृतिक संरचना और सामूहिक अनुभव का प्रतिनिधित्व करती हैं।

डॉ. सहल की दृष्टि में लोक-संस्कृति का सबसे बड़ा गुण उसकी **जीवन-सापेक्षता** है। लोक-साहित्य जीवन से प्रत्यक्ष रूप में जुड़ा होता है; उसमें कृत्रिमता या बौद्धिक प्रदर्शन नहीं, बल्कि सहजता, स्वाभाविकता और जीवन की वास्तविक अनुभूतियाँ होती हैं। यही कारण है कि लोकगीतों, लोककथाओं और लोकगाथाओं में जनजीवन की आशाएँ, संघर्ष, उत्सव, पीड़ा, आस्था और संवेदनाएँ अत्यंत स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त होती हैं। डॉ. सहल का मत है कि शिष्ट साहित्य की सृजनात्मक शक्ति भी लोकजीवन से ही प्राप्त होती है। यदि साहित्य लोकजीवन से कट जाएगा, तो वह अपनी सांस्कृतिक जीवंतता और सामाजिक प्रासंगिकता खो देगा।

उनकी साहित्य-दृष्टि में **शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य का संबंध विरोध का नहीं, बल्कि परस्पर पूरकता का है।** वे इस धारणा का खंडन करते हैं कि लोक-साहित्य निम्नतर या अविकसित साहित्य है। उनके अनुसार लोक-साहित्य ही वह आधारभूमि है, जिस पर शिष्ट साहित्य की सुदृढ़ इमारत निर्मित होती है। भारतीय साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने पर स्पष्ट होता है कि रामायण, महाभारत, पुराण, भक्तिकालीन साहित्य तथा आधुनिक हिंदी साहित्य तक लोकजीवन और लोकसंस्कृति के विविध रूप निरंतर उपस्थित रहे हैं। तुलसीदास, सूरदास, कबीर, मीरा, प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ रेणु जैसे

साहित्यकारों ने लोकजीवन से प्रेरणा लेकर साहित्य को व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान किया। डॉ. सहल इसी परंपरा को हिंदी साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति मानते हैं।

लोक-संस्कृति के संदर्भ में डॉ. सहल ने **लोकभाषाओं और बोलियों** के महत्त्व पर भी विशेष बल दिया है। उनके अनुसार भाषा किसी संस्कृति की आत्मा होती है और लोकभाषाएँ उस संस्कृति की सबसे प्रामाणिक अभिव्यक्ति हैं। लोकभाषाओं में केवल शब्द नहीं होते, बल्कि उनमें लोकजीवन के अनुभव, सांस्कृतिक प्रतीक, सामाजिक संबंध और ऐतिहासिक चेतना भी निहित होती है। इसलिए साहित्यिक भाषा का विकास भी लोकभाषाओं के सतत संपर्क से ही संभव है। वे हिंदी की समृद्धि का आधार उसकी लोकभाषाओं और बोलियों को मानते हैं तथा साहित्यकारों से अपेक्षा करते हैं कि वे भाषा को जनजीवन से जोड़कर देखें।

डॉ. सहल की लोक-संस्कृति संबंधी अवधारणा केवल सांस्कृतिक संरक्षण तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें **सांस्कृतिक पुनर्सृजन** का विचार भी निहित है। वे मानते हैं कि प्रत्येक युग में साहित्यकार का दायित्व केवल लोकपरंपराओं का संग्रह करना नहीं, बल्कि उन्हें नए सामाजिक संदर्भों में पुनर्व्याख्यायित करना भी है। लोक-संस्कृति गतिशील होती है; वह समय के साथ परिवर्तित होती रहती है, किंतु उसके मूल जीवन-मूल्य बने रहते हैं। साहित्य इन मूल्यों को नए युग की आवश्यकताओं के अनुरूप अभिव्यक्ति देता है। इस प्रकार लोक-संस्कृति और साहित्य के बीच निरंतर संवाद की प्रक्रिया चलती रहती है।

डॉ. सहल के साहित्यिक चिंतन में लोक-संस्कृति का संबंध **भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता** से भी जुड़ता है। उनका मत है कि भारतीय संस्कृति की वास्तविक पहचान राजदरबारों या अभिजात वर्ग की संस्कृति में नहीं, बल्कि लोकजीवन में सुरक्षित रही है। लोकसमाज ने ही भारतीय परंपराओं, रीति-रिवाजों, त्योहारों, लोकविश्वासों और सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षित रखा है। इसलिए भारतीय संस्कृति को समझने के लिए लोक-संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। यही कारण है कि वे लोक-साहित्य को इतिहास, समाजशास्त्र, संस्कृति और साहित्य के अंतःविषयी अध्ययन का महत्त्वपूर्ण आधार मानते हैं।

डॉ. सहल की आलोचना-दृष्टि में लोक-संस्कृति साहित्य के मूल्यांकन की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी भी है। वे किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करते समय यह भी देखते हैं कि वह अपने समाज के लोकजीवन, सांस्कृतिक अनुभव और मानवीय संवेदनाओं को किस सीमा तक अभिव्यक्त करती है। उनके अनुसार वह साहित्य अधिक स्थायी और प्रभावशाली होता है, जिसकी जड़ें लोकजीवन में गहराई तक पैठी हों। इस दृष्टि से उनकी आलोचना भारतीय आलोचना-परंपरा के लोकमंगलवादी और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को आधुनिक संदर्भों में पुनर्स्थापित करती है। समकालीन वैश्वीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति के दौर में, जब लोकभाषाएँ, लोककलाएँ और लोकपरंपराएँ अनेक चुनौतियों का सामना कर रही हैं, तब डॉ. सहल का लोक-संस्कृति संबंधी चिंतन विशेष रूप से प्रासंगिक हो उठता है। उनका साहित्य यह संदेश देता है कि सांस्कृतिक विकास का अर्थ लोकजीवन से दूरी बनाना नहीं, बल्कि लोक-संपदा को नए संदर्भों में संरक्षित और समृद्ध करना है। यदि साहित्य लोक-संस्कृति से अपना संबंध बनाए रखेगा, तभी वह समाज की वास्तविक सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकेगा।

साहित्य-दृष्टि में भारतीयता

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि में **भारतीयता** एक केंद्रीय वैचारिक और सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित है। उनके साहित्यिक चिंतन में भारतीयता का अर्थ किसी संकीर्ण राष्ट्रवादी आग्रह, सांस्कृतिक रूढ़िवाद या अतीत-पूजा से नहीं है, बल्कि वह भारतीय जीवन-दर्शन, सांस्कृतिक समन्वय, बहुलतावादी परंपरा, सह-अस्तित्व, लोकचेतना और मानवतावादी मूल्यों का व्यापक बोध है। डॉ. सहल भारतीयता को एक ऐसी जीवंत सांस्कृतिक चेतना मानते हैं, जो भारतीय समाज की ऐतिहासिक यात्रा, लोकानुभव, आध्यात्मिक परंपरा, नैतिक मूल्यों और सामाजिक जीवन के समन्वित स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। उनकी दृष्टि में भारतीयता कोई स्थिर अवधारणा नहीं, बल्कि निरंतर विकसित होने वाली सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसने समय-समय पर विविध विचारधाराओं, धार्मिक मान्यताओं, भाषाई परंपराओं और सामाजिक परिवर्तनों को आत्मसात करते हुए अपनी विशिष्ट पहचान निर्मित की है।

डॉ. सहल के अनुसार भारतीय साहित्य को समझने का सबसे उपयुक्त आधार भारतीयता की यही समन्वयवादी अवधारणा है। उनका मानना है कि किसी भी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन उसके सांस्कृतिक संदर्भों से पृथक नहीं किया जा सकता। साहित्य अपने समाज की ऐतिहासिक स्मृति, सांस्कृतिक अनुभव और सामूहिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है; इसलिए भारतीय साहित्य का मूल्यांकन भारतीय जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक परंपराओं के आलोक में ही किया जाना चाहिए। यही कारण है कि उनकी आलोचना-दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र, लोक-संस्कृति और भारतीय सांस्कृतिक अनुभवों को साहित्य की व्याख्या का मूल आधार स्वीकार करती है। वे पाश्चात्य आलोचना-पद्धतियों के अध्ययन के विरोधी नहीं हैं, किंतु यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय साहित्य की आत्मा को समझने के लिए भारतीय दृष्टि अनिवार्य है।

डॉ. सहल की भारतीयता की अवधारणा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष **सांस्कृतिक समन्वय** है। वे भारतीय संस्कृति की उस विशेषता को रेखांकित करते हैं, जिसके कारण भारत ने विभिन्न धार्मिक, भाषाई, जातीय और सांस्कृतिक परंपराओं को आत्मसात करते हुए एक समृद्ध और बहुलतावादी सांस्कृतिक स्वरूप विकसित किया। उनके अनुसार भारतीयता की शक्ति उसकी विविधता में निहित है। यहाँ अनेक मत, पंथ, भाषाएँ, रीति-रिवाज और जीवन-पद्धतियाँ होने के बावजूद सांस्कृतिक एकता की भावना बनी रहती है। यही समन्वय भारतीय संस्कृति को विश्व की अन्य संस्कृतियों से विशिष्ट बनाता है। डॉ. सहल मानते हैं कि साहित्य इस समन्वयवादी चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करता है और समाज में सहिष्णुता, संवाद तथा सांस्कृतिक सौहार्द की भावना को विकसित करता है।

उनकी साहित्य-दृष्टि में भारतीयता का संबंध **लोकजीवन** से भी गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। वे मानते हैं कि भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप लोकसमाज में सुरक्षित है। लोककथाएँ, लोकगीत, लोकगाथाएँ, लोकभाषाएँ, लोकविश्वास और लोकाचार भारतीयता के जीवंत प्रतीक हैं। यही कारण है कि उन्होंने लोक-साहित्य को भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता का आधार माना। उनकी कृति **'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्त्व'** इस तथ्य की पुष्टि करती है कि भारतीयता को समझने के लिए लोक-संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य की प्रामाणिकता भी तभी सिद्ध होती है, जब वह लोकजीवन और लोकचेतना से जुड़ा रहे। इस प्रकार भारतीयता उनके लिए केवल वैचारिक अवधारणा नहीं, बल्कि लोकजीवन में सक्रिय सांस्कृतिक अनुभव है।

डॉ. सहल भारतीयता को **मानवतावाद** से भी जोड़ते हैं। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप मानव-केंद्रित है, जिसमें करुणा, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, परस्पर सम्मान और लोककल्याण की भावना निहित है। भारतीय दर्शन का 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' तथा 'अहिंसा परमो धर्मः' जैसे आदर्श भारतीयता की इसी मानवीय चेतना को अभिव्यक्त करते हैं। साहित्य इन मूल्यों का संवाहक है और समाज में मानवीय संबंधों को सुदृढ़ बनाने का कार्य करता है। डॉ. सहल के अनुसार साहित्य तभी सार्थक है, जब वह मनुष्य को अधिक संवेदनशील, नैतिक और सहिष्णु बनाए। इस प्रकार उनकी भारतीयता किसी राजनीतिक विचारधारा से अधिक मानवीय और सांस्कृतिक मूल्य-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। उनकी आलोचना-दृष्टि में भारतीयता साहित्य के मूल्यांकन की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी बनकर उभरती है। वे साहित्य का मूल्यांकन केवल शिल्प, भाषा या सौंदर्य के आधार पर नहीं करते, बल्कि यह भी देखते हैं कि वह भारतीय समाज के सांस्कृतिक अनुभवों, लोकजीवन, नैतिक मूल्यों और मानवीय चेतना को किस सीमा तक अभिव्यक्त करता है। उनके अनुसार वह साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ा हो और भारतीय जीवन-दृष्टि को रचनात्मक रूप में प्रस्तुत करता हो। इस दृष्टि से उनकी आलोचना भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा को आधुनिक संदर्भों में पुनर्स्थापित करती है तथा भारतीय साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक स्वदेशी आलोचनात्मक आधार प्रस्तुत करती है।

डॉ. सहल परंपरा और आधुनिकता के संबंध को भी भारतीयता के संदर्भ में देखते हैं। उनके अनुसार भारतीयता का अर्थ अतीत से चिपके रहना नहीं, बल्कि अपनी सांस्कृतिक परंपराओं का विवेकपूर्ण पुनर्पाठ करते हुए आधुनिक जीवन-मूल्यों के साथ उनका समन्वय स्थापित करना है। वे आधुनिकता का विरोध नहीं करते, किंतु उसका अंधानुकरण भी स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में भारतीयता तभी सार्थक है, जब वह परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को विकसित करती रहे। इसलिए उनकी साहित्य-दृष्टि में परंपरा और आधुनिकता का संबंध विरोध का नहीं, बल्कि रचनात्मक संवाद का है।

वर्तमान वैश्वीकरण, सांस्कृतिक उपभोक्तावाद और पहचान के संकट के युग में डॉ. सहल की भारतीयता की अवधारणा विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होती है। आज जब वैश्विक संस्कृति के प्रभाव से स्थानीय भाषाएँ, लोकपरंपराएँ और

सांस्कृतिक मूल्य चुनौती का सामना कर रहे हैं, तब उनका साहित्यिक चिंतन यह प्रेरणा देता है कि आधुनिकता और वैश्विकता को स्वीकार करते हुए भी अपनी सांस्कृतिक पहचान, लोकमूल्यों और मानवीय परंपराओं को सुरक्षित रखा जा सकता है। उनकी दृष्टि में भारतीयता किसी प्रकार की सांस्कृतिक संकीर्णता नहीं, बल्कि विश्वमानवता की ओर अग्रसर एक उदार, समन्वयवादी और बहुलतावादी सांस्कृतिक दृष्टि है।

सांस्कृतिक चेतना

डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि में **सांस्कृतिक चेतना** एक केंद्रीय और आधारभूत अवधारणा के रूप में उपस्थित है। उनके साहित्यिक एवं आलोचनात्मक चिंतन का मूल उद्देश्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक परंपराओं, जीवन-मूल्यों तथा लोकानुभवों को साहित्य के माध्यम से समझना और उनकी निरंतरता को बनाए रखना है। उनके अनुसार साहित्य केवल कल्पना या कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है, बल्कि वह किसी समाज की सांस्कृतिक स्मृति, ऐतिहासिक अनुभव और सामूहिक चेतना का सबसे विश्वसनीय दस्तावेज होता है। इसी कारण डॉ. सहल साहित्य को सांस्कृतिक चेतना का वाहक, संरक्षक और संवाहक मानते हैं। उनका विश्वास है कि जिस समाज का साहित्य अपनी संस्कृति से जुड़ा रहता है, वही समाज अपनी अस्मिता, परंपरा और मानवीय मूल्यों को सुरक्षित रख पाता है।

डॉ. सहल के अनुसार सांस्कृतिक चेतना का अर्थ केवल अतीत की परंपराओं का संरक्षण नहीं है, बल्कि अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति जागरूक रहते हुए उसे वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित करना भी है। वे संस्कृति को एक गतिशील प्रक्रिया मानते हैं, जो समय, समाज और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील होती है, किंतु उसके मूल जीवन-मूल्य स्थायी रहते हैं। साहित्य इसी परिवर्तन और निरंतरता के बीच संतुलन स्थापित करता है। इसलिए उनके विचार में साहित्य का कार्य केवल सांस्कृतिक धरोहर का चित्रण करना नहीं, बल्कि उसे नए सामाजिक संदर्भों में पुनर्स्थापित करना भी है। इस प्रकार साहित्य सांस्कृतिक चेतना को जीवित रखने का सबसे प्रभावी माध्यम बन जाता है।

डॉ. सहल के निबंधों और आलोचनात्मक लेखन में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व—**समन्वय, सहिष्णुता, लोकमंगल, नैतिकता, मानवीय संवेदना तथा सामाजिक उत्तरदायित्व**—सांस्कृतिक चेतना के रूप में निरंतर अभिव्यक्त होते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य इन मूल्यों का संरक्षण करता है और प्रत्येक पीढ़ी तक उन्हें पहुँचाने का कार्य करता है। यदि साहित्य अपनी सांस्कृतिक भूमिका का निर्वाह नहीं करेगा, तो समाज अपनी ऐतिहासिक स्मृति और सांस्कृतिक पहचान से दूर होता जाएगा। इसीलिए उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्य-सृष्टि का माध्यम न मानकर सांस्कृतिक उत्तरदायित्व का वहन करने वाली सृजनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया।

डॉ. सहल की सांस्कृतिक चेतना का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार **लोक-संस्कृति** है। उनका मत है कि भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप लोकजीवन में सुरक्षित रहता है। लोकगीत, लोककथाएँ, लोकगाथाएँ, लोकभाषाएँ, लोकविश्वास, पर्व-त्योहार और लोकाचार भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्मृति के जीवंत प्रतीक हैं। अपनी महत्त्वपूर्ण कृति **'लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्त्व'** में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि लोककथाएँ केवल मनोरंजन का साधन नहीं हैं, बल्कि वे लोकमानस की सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक अनुभवों और नैतिक आदर्शों की संरक्षक हैं। इस प्रकार डॉ. सहल के लिए लोक-साहित्य भारतीय सांस्कृतिक चेतना का सबसे प्रामाणिक स्रोत है। वे मानते हैं कि लोक से विमुख साहित्य अपनी सांस्कृतिक जीवंतता खो देता है।

साहित्य और संस्कृति के संबंध को स्पष्ट करते हुए डॉ. सहल यह प्रतिपादित करते हैं कि साहित्य किसी भी समाज की **सांस्कृतिक स्मृति** को संरक्षित रखने का सबसे प्रभावी माध्यम है। इतिहास जहाँ घटनाओं का क्रम प्रस्तुत करता है, वहीं साहित्य उन घटनाओं के पीछे सक्रिय मानवीय अनुभवों, भावनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रखता है। इसलिए साहित्य केवल वर्तमान का दर्पण नहीं, बल्कि अतीत और भविष्य के बीच एक सशक्त सांस्कृतिक सेतु है। उनके अनुसार रामायण, महाभारत, भक्तिकालीन साहित्य, लोकसाहित्य तथा आधुनिक हिंदी साहित्य भारतीय समाज की सांस्कृतिक स्मृति के अमूल्य भंडार हैं। इन रचनाओं के माध्यम से भारतीय समाज के नैतिक आदर्श, लोकमूल्य, पारिवारिक संबंध, सामाजिक आस्थाएँ और सांस्कृतिक परंपराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रही हैं। डॉ. सहल की आलोचना-दृष्टि में सांस्कृतिक चेतना साहित्य के मूल्यांकन की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। वे किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन करते समय यह भी देखते हैं कि वह अपने समय की सांस्कृतिक चुनौतियों, सामाजिक परिवर्तनों और मानवीय मूल्यों को किस सीमा तक अभिव्यक्त करती है। उनके अनुसार श्रेष्ठ साहित्य वही है जो अपने समाज की सांस्कृतिक चेतना को गहराई से आत्मसात करते हुए उसे रचनात्मक रूप

प्रदान करे। इस दृष्टि से उनकी आलोचना केवल सौंदर्यपरक न होकर सांस्कृतिक और समाजोन्मुख आलोचना का स्वरूप ग्रहण करती है। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा, लोक-संस्कृति और आधुनिक आलोचना के बीच समन्वय स्थापित करते हुए साहित्य को सांस्कृतिक विकास का सशक्त साधन सिद्ध किया।

वर्तमान वैश्वीकरण, बाज़ारवाद और उपभोक्तावादी संस्कृति के युग में डॉ. सहल की सांस्कृतिक चेतना और अधिक प्रासंगिक हो उठती है। आज जब सांस्कृतिक पहचान, लोकभाषाएँ, लोककलाएँ और पारंपरिक जीवन-मूल्य अनेक प्रकार के संकटों का सामना कर रहे हैं, तब उनका साहित्य यह संदेश देता है कि सांस्कृतिक विकास का अर्थ अपनी परंपराओं से विमुख होना नहीं है। बल्कि आधुनिकता और वैश्विकता के साथ अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, लोकपरंपराओं और मानवीय मूल्यों का संरक्षण करना ही वास्तविक सांस्कृतिक प्रगति है। उनके विचार आज भी भारतीय समाज को सांस्कृतिक आत्मविश्वास, मानवीय संवेदना और राष्ट्रीय पहचान की दिशा में प्रेरित करते हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि

डॉ. कन्हैयालाल सहल की आलोचना-दृष्टि हिंदी आलोचना की समन्वयवादी परंपरा का सशक्त उदाहरण है। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन में भारतीय काव्यशास्त्र, आधुनिक आलोचनात्मक दृष्टियों, लोकजीवन तथा भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का संतुलित समन्वय प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि में साहित्य का मूल्यांकन केवल भाषा, शिल्प और सौंदर्यबोध के आधार पर नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक तथा मानवीय पक्षों का भी सम्यक् विश्लेषण आवश्यक है। इसलिए उनकी आलोचना साहित्य को जीवन, समाज और संस्कृति के व्यापक संदर्भों में समझने का प्रयास करती है।

डॉ. सहल भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं, किंतु उन्होंने आधुनिक आलोचना-पद्धतियों की उपयोगिता को भी स्वीकार किया। उनका मानना है कि भारतीय साहित्य की आत्मा को समझने के लिए भारतीय सांस्कृतिक संदर्भों और लोकचेतना को आधार बनाना आवश्यक है। यही कारण है कि उनकी आलोचना न तो केवल कलावादी है, जो साहित्य को मात्र सौंदर्य का विषय मानती है, और न ही केवल समाजशास्त्रीय, जो साहित्य को सामाजिक दस्तावेज तक सीमित कर देती है। उनकी आलोचना में सौंदर्य, संस्कृति, लोकजीवन, इतिहास और मानवीय संवेदना का संतुलित समन्वय दिखाई देता है। इस प्रकार डॉ. कन्हैयालाल सहल ने भारतीय सांस्कृतिक आधार पर एक स्वतंत्र, संतुलित और मूल्यपरक आलोचना-दृष्टि विकसित की, जो हिंदी आलोचना को नई वैचारिक दिशा प्रदान करती है।

निबंधों में सांस्कृतिक दृष्टि

डॉ. कन्हैयालाल सहल के निबंध उनकी व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि, सामाजिक संवेदनशीलता और साहित्यिक चिंतन के सशक्त परिचायक हैं। उनके निबंध केवल विचारात्मक गद्य नहीं हैं, बल्कि भारतीय संस्कृति, लोकजीवन, भाषा, साहित्य और मानवीय मूल्यों के गंभीर विश्लेषणात्मक दस्तावेज हैं। उन्होंने अपने निबंधों में भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी परंपरा, लोक-संस्कृति की महत्ता, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सांस्कृतिक निरंतरता जैसे विषयों को विशेष महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि में साहित्य और संस्कृति का संबंध अभिन्न है तथा साहित्य का दायित्व सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण और संवर्धन से जुड़ा हुआ है।

डॉ. सहल के निबंधों में भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय अस्मिता तथा लोकजीवन के प्रति गहरी आस्था स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वे मानते हैं कि लोकपरंपराएँ, लोकभाषाएँ और लोकसाहित्य भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं, जिनके बिना साहित्य अपनी सांस्कृतिक प्रामाणिकता खो देता है। उनके निबंध सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भावना को भी अभिव्यक्त करते हैं, जहाँ परंपरा और आधुनिकता के मध्य संतुलित समन्वय का आग्रह दिखाई देता है। इस प्रकार उनके निबंध केवल साहित्यिक विमर्श तक सीमित नहीं रहते, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक विरासत, मानवीय मूल्यों और राष्ट्रीय चेतना को सुदृढ़ करने वाले विचार-दस्तावेज के रूप में स्थापित होते हैं।

भाषा-चिंतन

डॉ. कन्हैयालाल सहल का भाषा-चिंतन उनकी व्यापक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि का महत्त्वपूर्ण आयाम है। वे भाषा को केवल विचारों के संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि किसी समाज की सांस्कृतिक अस्मिता, ऐतिहासिक स्मृति और सामूहिक चेतना का आधार मानते हैं। उनके अनुसार भाषा में किसी राष्ट्र की संस्कृति, परंपराएँ, जीवन-मूल्य, लोकानुभव तथा

सामाजिक व्यवहार निहित रहते हैं। इसलिए भाषा का विकास केवल भाषिक परिवर्तन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विकास की भी प्रक्रिया है। उनकी दृष्टि में साहित्य और भाषा का संबंध अत्यंत घनिष्ठ है, क्योंकि साहित्य भाषा के माध्यम से ही समाज की सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित और संप्रेषित करता है। डॉ. सहल ने हिंदी भाषा की **जनसंपृक्ति** पर विशेष बल दिया है। उनका मत है कि हिंदी की वास्तविक शक्ति उसकी लोकधर्मी प्रकृति और जनजीवन से जुड़े स्वरूप में निहित है। यदि भाषा लोक से कट जाती है, तो वह अपनी जीवंतता और संप्रेषणीयता खो देती है। इसी कारण वे साहित्यिक हिंदी को लोकभाषाओं, बोलियों और जनभाषा से समृद्ध करने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार लोकभाषाएँ केवल भाषिक रूप नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय संस्कृति, लोक-स्मृति और सामाजिक अनुभवों की संवाहक हैं। इसलिए हिंदी का विकास लोकभाषाओं से संवाद स्थापित किए बिना संभव नहीं है।

डॉ. सहल के भाषा-चिंतन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष **अभिव्यक्ति की सहजता और स्वाभाविकता** है। वे कृत्रिम, क्लिष्ट और जीवन-विमुख भाषा की अपेक्षा ऐसी भाषा का समर्थन करते हैं, जो सामान्य जन तक सहज रूप से पहुँच सके। उनका विश्वास है कि साहित्य की प्रभावशीलता उसकी भाषा की संप्रेषणीयता पर निर्भर करती है। साहित्यकार की भाषा जितनी अधिक जीवन-सापेक्ष और लोकानुकूल होगी, उसका सांस्कृतिक प्रभाव उतना ही व्यापक होगा। इस दृष्टि से वे भाषा को साहित्य और समाज के बीच संवाद का सबसे सशक्त माध्यम मानते हैं।

डॉ. सहल के अनुसार **भाषा संस्कृति की संवाहक** है। किसी समाज की सांस्कृतिक पहचान उसकी भाषा में सुरक्षित रहती है, क्योंकि भाषा के माध्यम से ही लोकपरंपराएँ, सांस्कृतिक प्रतीक, जीवन-मूल्य और ऐतिहासिक अनुभव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचते हैं। इसलिए साहित्य का दायित्व केवल भाषा का कलात्मक उपयोग करना नहीं, बल्कि उसके माध्यम से सांस्कृतिक चेतना का संरक्षण और संवर्धन करना भी है। उनके भाषा-संबंधी विचारों में भारतीय सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय एकता और लोकजीवन के प्रति गहरी आस्था स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

उपसंहार एवं निष्कर्ष

डॉ. कन्हैयालाल सहल हिंदी साहित्य के उन विशिष्ट साहित्यकारों, आलोचकों और चिंतकों में हैं, जिन्होंने साहित्य को केवल कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम न मानकर भारतीय संस्कृति, लोकजीवन, मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक चेतना के संवाहक के रूप में देखा। उनका संपूर्ण साहित्यिक चिंतन इस विश्वास पर आधारित है कि साहित्य समाज की सांस्कृतिक स्मृति, ऐतिहासिक अनुभव और नैतिक मूल्यों का सृजनात्मक दस्तावेज होता है। यही कारण है कि उनकी साहित्य-दृष्टि में साहित्य, संस्कृति, लोकजीवन और मानव जीवन के बीच गहरा और अविभाज्य संबंध स्थापित होता है। प्रस्तुत शोध-पत्र के विभिन्न पक्षों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि डॉ. सहल का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी होने के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक चिंतन की समन्वयवादी परंपरा का सशक्त प्रतिनिधित्व करता है।

इस अध्ययन से यह निष्कर्ष सामने आता है कि डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र, लोकमंगल, मानवीय संवेदना और सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित है। उन्होंने साहित्य को केवल सौंदर्यबोध या कलात्मक कौशल की अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे समाज और संस्कृति के विकास का प्रभावी माध्यम माना। उनके अनुसार साहित्य का वास्तविक उद्देश्य मनुष्य के भीतर नैतिकता, संवेदनशीलता, सांस्कृतिक चेतना तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करना है। इसलिए उनके आलोचनात्मक चिंतन में साहित्य का मूल्यांकन भाषा और शिल्प के साथ-साथ उसके सांस्कृतिक, सामाजिक और मानवीय पक्षों के आधार पर किया गया है।

भारतीय संस्कृति के संदर्भ में डॉ. सहल का दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक, समन्वयवादी और जीवनोन्मुख है। उन्होंने भारतीय संस्कृति को किसी संकीर्ण धार्मिक या जातीय अवधारणा के रूप में नहीं, बल्कि सहिष्णुता, समन्वय, बहुलता, नैतिकता, लोकजीवन और मानवतावाद पर आधारित जीवन-दर्शन के रूप में देखा। उनके विचारों में भारतीय संस्कृति की शक्ति उसकी विविधता, सह-अस्तित्व और निरंतर विकासशील प्रकृति में निहित है। साहित्य इस संस्कृति का केवल दर्पण नहीं, बल्कि उसका संरक्षण, संवर्धन और पुनर्सृजन करने वाला सृजनात्मक माध्यम है। यही कारण है कि उनके साहित्यिक चिंतन में संस्कृति और साहित्य का संबंध अत्यंत घनिष्ठ एवं परस्पर पूरक दिखाई देता है।

प्रस्तुत अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि डॉ. सहल ने **लोक-संस्कृति** को भारतीय संस्कृति की आधारभूमि के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि लोकजीवन, लोकभाषा, लोककथाएँ, लोकगीत,

लोकगाथाएँ और लोकविश्वास किसी भी समाज की सांस्कृतिक चेतना के मूल स्रोत हैं। उनकी कृति *लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्त्व* इस बात का प्रमाण है कि वे लोक-साहित्य को केवल मनोरंजन या लोकपरंपरा का विषय नहीं मानते, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता का आधार स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य की वास्तविक शक्ति भी लोकजीवन से प्राप्त होती है। इस प्रकार उन्होंने हिंदी साहित्य में लोक-संस्कृति के महत्त्व को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया।

डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि में **भारतीयता** एक समावेशी सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में विकसित होती है। उनके विचार में भारतीयता किसी राजनीतिक आग्रह या सांस्कृतिक संकीर्णता का पर्याय नहीं है, बल्कि भारतीय जीवन-दर्शन, लोकपरंपरा, सांस्कृतिक समन्वय, बहुलता, सह-अस्तित्व और मानवीय मूल्यों का व्यापक स्वरूप है। उन्होंने भारतीय साहित्य के मूल्यांकन में भारतीय जीवनानुभव, सांस्कृतिक संदर्भ और लोकचेतना को आवश्यक माना। इस प्रकार उनकी भारतीयता सांस्कृतिक आत्मविश्वास और मानवीय सार्वभौमिकता का समन्वित रूप प्रस्तुत करती है। सांस्कृतिक चेतना के संदर्भ में डॉ. सहल का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने साहित्य को समाज की सांस्कृतिक स्मृति और ऐतिहासिक चेतना का संरक्षक माना। उनके अनुसार साहित्य अतीत और वर्तमान के बीच सेतु का कार्य करता है तथा बदलते समय में सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करते हुए उन्हें नई पीढ़ी तक पहुँचाता है। उनके निबंधों, आलोचनात्मक लेखन तथा लोक-साहित्य संबंधी विचारों में यह सांस्कृतिक चेतना निरंतर सक्रिय दिखाई देती है। इस दृष्टि से उनका साहित्य सांस्कृतिक पुनर्जागरण, राष्ट्रीय चेतना और मानवीय मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण माध्यम बन जाता है।

डॉ. सहल की आलोचना-दृष्टि भी हिंदी आलोचना को नई दिशा प्रदान करती है। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा और आधुनिक आलोचना-पद्धतियों के बीच संतुलित समन्वय स्थापित किया। उनकी आलोचना न तो केवल कलावादी है और न ही केवल समाजशास्त्रीय; बल्कि वह साहित्य को संस्कृति, समाज, इतिहास और मानवीय संवेदना के समग्र संदर्भ में देखने का आग्रह करती है। इस दृष्टि से उन्होंने हिंदी आलोचना को भारतीय सांस्कृतिक आधार पर विकसित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया।

भाषा के संबंध में डॉ. सहल के विचार भी उनकी सांस्कृतिक दृष्टि के अनुरूप हैं। उन्होंने भाषा को केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अस्मिता और लोकचेतना का संवाहक माना। उनके अनुसार हिंदी की वास्तविक शक्ति उसकी जनसंपृक्ति, लोकभाषाओं से संवाद तथा सहज अभिव्यक्ति में निहित है। भाषा के माध्यम से ही समाज अपनी सांस्कृतिक स्मृति, जीवन-मूल्यों और ऐतिहासिक अनुभवों को सुरक्षित रखता है। इसलिए उनका भाषा-चिंतन हिंदी भाषा को भारतीय संस्कृति और लोकजीवन से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में डॉ. सहल की साहित्य-दृष्टि और भी अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है। वैश्वीकरण, बाज़ारवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति और तीव्र तकनीकी परिवर्तनों के इस दौर में सांस्कृतिक अस्मिता, लोकभाषाओं, लोकपरंपराओं और मानवीय मूल्यों के समक्ष अनेक चुनौतियाँ उपस्थित हैं। ऐसे समय में डॉ. सहल का साहित्य यह संदेश देता है कि आधुनिकता का स्वागत अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहते हुए ही किया जाना चाहिए। वे यह स्थापित करते हैं कि सांस्कृतिक विकास का अर्थ परंपरा का परित्याग नहीं, बल्कि उसके रचनात्मक पुनर्पाठ और समकालीन संदर्भों में पुनर्स्थापन से है। यही कारण है कि उनका साहित्यिक चिंतन आज भी भारतीय समाज और हिंदी साहित्य के लिए समान रूप से प्रेरणास्रोत बना हुआ है।

अंततः कहा जा सकता है कि डॉ. कन्हैयालाल सहल का साहित्यिक अवदान हिंदी साहित्य में भारतीय संस्कृति, लोक-संस्कृति, भारतीयता, सांस्कृतिक चेतना और समन्वयवादी आलोचना-दृष्टि के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने आलोचनात्मक लेखन, निबंधों, लोक-साहित्य संबंधी अध्ययनों तथा भाषा-चिंतन के माध्यम से यह सिद्ध किया कि साहित्य समाज की सांस्कृतिक आत्मा का प्रतिनिधि होता है। उनकी साहित्य-दृष्टि भारतीय ज्ञान-परंपरा और आधुनिक बौद्धिक विमर्श के बीच एक सशक्त सेतु का कार्य करती है। यही कारण है कि डॉ. सहल केवल हिंदी के आलोचक या निबंधकार नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना के महत्त्वपूर्ण व्याख्याता और लोकधर्मी साहित्य-दृष्टि के प्रखर प्रवक्ता के रूप में स्थापित होते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-पत्र यह निष्कर्ष स्थापित करता है कि डॉ. कन्हैयालाल सहल की साहित्य-दृष्टि भारतीय संस्कृति की समन्वयवादी परंपरा, लोकजीवन की जीवंतता, भारतीयता की व्यापक अवधारणा, सांस्कृतिक चेतना की निरंतरता तथा मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा पर आधारित है। उनका साहित्य आज भी हिंदी साहित्य, सांस्कृतिक अध्ययन और

भारतीय आलोचना के क्षेत्र में गंभीर अनुसंधान की अपार संभावनाएँ प्रस्तुत करता है तथा समकालीन सांस्कृतिक विमर्श को नई वैचारिक दिशा प्रदान करता है।

संदर्भ :-

त्रिपाठी, राममूर्ति. (2017). *भारतीय काव्यशास्त्र : नए क्षितिज*. वाणी प्रकाशन.

द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2019). *अशोक के फूल*. राजकमल प्रकाशन.

द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2020). *हिंदी साहित्य की भूमिका*. राजकमल प्रकाशन.

नगेन्द्र. (2017). *भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका*. नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

पाण्डेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल. (2015). *संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध*. राजकमल प्रकाशन.

पाण्डेय, मैनेजर. (2019). *साहित्य और इतिहास-दृष्टि*. वाणी प्रकाशन.

भारत सरकार, संस्कृति मंत्रालय. (2022). *भारतीय संस्कृति : परंपरा और विकास*. प्रकाशन विभाग.

मिश्र, विद्यानिवास. (2016). *भारतीयता की पहचान*. प्रभात प्रकाशन.

मिश्र, विद्यानिवास. (2018). *लोक और परलोक*. वाणी प्रकाशन.

रामविलास शर्मा. (2018). *परंपरा का मूल्यांकन*. राजकमल प्रकाशन.

रामविलास शर्मा. (2019). *भारतीय साहित्य की भूमिका*. राजकमल प्रकाशन.

वर्मा, धीरेन्द्र. (2016). *हिंदी साहित्य कोश*. ज्ञानमंडल लिमिटेड.

शर्मा, रामविलास. (2020). *भाषा और समाज*. राजकमल प्रकाशन.

शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (2018). *चिंतामणि* (भाग–1). राजकमल प्रकाशन.

शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (2019). *चिंतामणि* (भाग–2). राजकमल प्रकाशन.

शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (2021). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नागरी प्रचारिणी सभा.

सत्येन्द्र. (2015). *लोक साहित्य विज्ञान*. शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी.

सहल, कन्हैयालाल. (वर्ष उपलब्ध नहीं). *निबंध और आलोचना संबंधी चयनित कृतियाँ*.

सहल, कन्हैयालाल. (वर्ष उपलब्ध नहीं). *लोक-कथाओं के कुछ रूढ़ तत्त्व*.

सिंह, नामवर. (2019). *इतिहास और आलोचना*. राजकमल प्रकाशन.

सिंह, नामवर. (2020). *कविता के नए प्रतिमान*. राजकमल प्रकाशन.

सिंह, बच्चन. (2018). *हिंदी आलोचना के बीज शब्द*. वाणी प्रकाशन.

Received: 02.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

कृष्णा सोबती के साहित्य में पारिवारिक संबंध और स्त्री का मनोविज्ञान : एक अध्ययन

प्रदीप गोठवाल*
Pradeepgoathwal2425@gmail.com

डॉ. देवी प्रसाद†
आचार्य

सारांश

हिंदी साहित्य में कृष्णा सोबती का रचनात्मक व्यक्तित्व अपनी विशिष्ट भाषा, जीवनानुभवों की प्रामाणिकता तथा स्त्री-जीवन की निर्भीक अभिव्यक्ति के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके साहित्य में स्त्री केवल पारिवारिक व्यवस्था का एक निष्क्रिय अंग नहीं है, बल्कि वह अपने अस्तित्व, इच्छाओं, अधिकारों और आत्मसम्मान के प्रति सजग एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित होती है। कृष्णा सोबती ने स्त्री के बाह्य जीवन के साथ-साथ उसके अंतर्मन की जटिलताओं को भी अत्यंत सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है। उनके साहित्य में परिवार स्त्री के जीवन का महत्त्वपूर्ण सामाजिक आधार होने के साथ-साथ उसके मनोवैज्ञानिक संघर्ष का प्रमुख क्षेत्र भी बनकर सामने आता है।

कृष्णा सोबती की रचनाओं में विवाह, पति-पत्नी संबंध, मातृत्व, सास-बहू संबंध, पारिवारिक मर्यादा, स्त्री की यौनिकता, प्रेम, अकेलापन और पीढ़ियों के बीच बदलते संबंध स्त्री के मनोविज्ञान को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक हैं। मित्रो मरजानी की मित्रो पारंपरिक वैवाहिक व्यवस्था में रहते हुए भी अपनी इच्छाओं और व्यक्तित्व को दबाने से इनकार करती है। ऐ लड़की में माँ-बेटी का संबंध स्मृति, अनुभव, मृत्यु-बोध और स्त्री जीवन की पीढ़ीगत निरंतरता से जुड़ता है। सूरजमुखी अँधेरे के में स्त्री के मानसिक आघात और उसके व्यक्तित्व पर सामाजिक एवं पारिवारिक परिस्थितियों के प्रभाव को देखा जा सकता है। दिल-ओ-दानिश में संबंधों, सामाजिक मर्यादाओं और भावनात्मक जटिलताओं का विशिष्ट संसार निर्मित होता है।

इस प्रकार कृष्णा सोबती के साहित्य में परिवार केवल सामाजिक संस्था नहीं, बल्कि स्त्री के व्यक्तित्व-निर्माण और मानसिक संघर्ष का सक्रिय क्षेत्र है। प्रस्तुत शोध-पत्र में कृष्णा सोबती की प्रमुख रचनाओं के संदर्भ में पारिवारिक संबंधों और स्त्री-मनोविज्ञान के अंतर्संबंधों का विश्लेषण किया गया है।

बीज शब्द:

कृष्णा सोबती, स्त्री-मनोविज्ञान, परिवार, विवाह, मातृत्व, स्त्री-अस्मिता, पारिवारिक संबंध, स्त्री चेतना, मनोवैज्ञानिक संघर्ष।

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति का इतिहास अत्यंत व्यापक और बहुआयामी रहा है। प्रारंभिक साहित्य में स्त्री को प्रायः त्याग, सहनशीलता, पतिव्रत, मातृत्व और पारिवारिक मर्यादा के आदर्शों से जोड़कर देखा गया। आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा, आर्थिक विकास और स्त्री चेतना के विस्तार के साथ स्त्री की साहित्यिक छवि में भी परिवर्तन आया। स्त्री अब केवल पुरुष-केन्द्रित सामाजिक संरचना की परिधि में स्थित पात्र नहीं रही, बल्कि वह अपने अस्तित्व और अधिकारों को पहचानने वाली स्वतंत्र चेतना के रूप में साहित्य में उपस्थित हुई। इसी परिवर्तनशील साहित्यिक परिदृश्य में कृष्णा सोबती का रचनात्मक योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्त्री जीवन को केवल सामाजिक समस्या के रूप में नहीं

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग, पंडित दीनदयाल उपाध्याय शेखावाटी विश्वविद्यालय, सीकर, राजस्थान**

† **हिंदी विभाग, PDUSU (सेठ नंद किशोर पटवारी राजकीय महाविद्यालय नीमकाथाना), सीकर**

देखा, बल्कि उसके भीतर सक्रिय भावनात्मक, मानसिक, शारीरिक और अस्तित्वगत स्तरों को भी अभिव्यक्ति दी। उनके यहाँ स्त्री के जीवन को समझने के लिए उसके पारिवारिक परिवेश को समझना आवश्यक है, क्योंकि भारतीय समाज में परिवार स्त्री के व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक पहचान को निर्धारित करने वाली प्रमुख संस्था रहा है।

परिवार व्यक्ति को सुरक्षा, प्रेम, अपनापन और सामाजिक पहचान प्रदान करता है, किंतु वही परिवार जब रूढ़ मान्यताओं, पितृसत्तात्मक नियंत्रण और नैतिक अनुशासन का माध्यम बन जाता है, तब स्त्री के लिए मानसिक दबाव का कारण भी बन सकता है। कृष्णा सोबती ने इसी द्वंद्व को अपने साहित्य में अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी स्त्रियाँ परिवार को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करतीं; वे परिवार के भीतर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती हैं। यही विशेषता उनके स्त्री पात्रों को अधिक मानवीय और मनोवैज्ञानिक रूप से विश्वसनीय बनाती है। वे प्रेम चाहती हैं, सम्मान चाहती हैं, शारीरिक और भावनात्मक संतुष्टि चाहती हैं तथा अपने निर्णय स्वयं लेने की आकांक्षा रखती हैं। इसलिए कृष्णा सोबती के साहित्य में पारिवारिक संबंध और स्त्री मनोविज्ञान एक-दूसरे से गहरे रूप में जुड़े हुए हैं।

कृष्णा सोबती की स्त्री-दृष्टि

कृष्णा सोबती की स्त्री-दृष्टि का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे स्त्री को किसी एक आदर्श या रूढ़ छवि में सीमित नहीं करतीं। उनकी स्त्रियाँ विविध सामाजिक और मानसिक परिस्थितियों से निर्मित होती हैं। वे प्रेम करती हैं, क्रोधित होती हैं, इच्छाएँ रखती हैं, विरोध करती हैं, टूटती हैं और पुनः अपने अस्तित्व को स्थापित करती हैं।

उनकी स्त्री न तो केवल पीड़िता है और न ही केवल विद्रोह का प्रतीक। वह विरोधाभासों से निर्मित एक जीवंत मनुष्य है। उसके भीतर प्रेम और क्रोध, समर्पण और विद्रोह, परिवार और स्वतंत्रता, इच्छा और सामाजिक नैतिकता—सभी के बीच संघर्ष चलता रहता है। यही कारण है कि कृष्णा सोबती के स्त्री पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। उनके साहित्य में स्त्री की मानसिक स्थिति को उसके सामाजिक और पारिवारिक परिवेश से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

परिवार और स्त्री मनोविज्ञान का अंतर्संबंध

परिवार व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण की पहली सामाजिक संस्था है। बाल्यावस्था से ही व्यक्ति परिवार के माध्यम से प्रेम, अनुशासन, नैतिकता, सामाजिक व्यवहार और लैंगिक भूमिकाओं की शिक्षा प्राप्त करता है। भारतीय परिवार व्यवस्था में स्त्री के लिए निर्धारित भूमिकाएँ लंबे समय तक पत्नी, बहू और माँ की भूमिकाओं के इर्द-गिर्द केंद्रित रही हैं। इन भूमिकाओं से स्त्री को सामाजिक सम्मान तो प्राप्त होता है, लेकिन यदि उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और भावनाओं को निरंतर दबाया जाए, तो उसके भीतर मानसिक द्वंद्व उत्पन्न हो सकता है। कृष्णा सोबती ने इस मनोवैज्ञानिक द्वंद्व को अपने साहित्य में गहराई से चित्रित किया है।

उनके यहाँ परिवार स्त्री के लिए एक साथ दो विपरीत भूमिकाएँ निभाता है –

परिवार सुरक्षा और अपनत्व देता है।	परिवार सामाजिक नियंत्रण भी स्थापित करता है।
परिवार प्रेम का आधार बनता है।	परिवार स्त्री की स्वतंत्रता को सीमित भी कर सकता है।
परिवार पहचान देता है।	परिवार व्यक्तिगत अस्मिता को दबा भी सकता है।

इस द्वंद्व के कारण कृष्णा सोबती की स्त्रियों के मन में अनेक प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ दिखाई देती हैं -असंतोष, विद्रोह, अकेलापन, आत्मसंघर्ष, अपराध-बोध, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की आकांक्षा।

विवाह संस्था और स्त्री का मनोविज्ञान

कृष्णा सोबती के साहित्य में विवाह केवल सामाजिक संस्था नहीं है; वह स्त्री के मानसिक जीवन को प्रभावित करने वाली महत्त्वपूर्ण संरचना है। पारंपरिक विवाह व्यवस्था में स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह पति और परिवार की आवश्यकताओं को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर रखे। कृष्णा सोबती इस व्यवस्था को सीधे खारिज करने के बजाय उसके भीतर मौजूद मनोवैज्ञानिक तनावों को सामने लाती हैं। उनके स्त्री पात्रों के लिए विवाह का अर्थ केवल सामाजिक सुरक्षा नहीं है। विवाह में प्रेम, शारीरिक संतुष्टि, संवाद, सम्मान और मानसिक समानता की आवश्यकता भी है। जब ये तत्व अनुपस्थित होते हैं, तब स्त्री के भीतर असंतोष और मानसिक बेचैनी उत्पन्न होती है।

यह स्थिति विशेष रूप से *मित्रो मरजानी* में दिखाई देती है। मित्रो पारंपरिक विवाह में रहते हुए भी अपनी इच्छाओं को व्यक्त करने का साहस रखती है। उसका व्यक्तित्व इस बात का प्रमाण है कि स्त्री की मानसिक और शारीरिक आवश्यकताओं को दबाकर स्वस्थ पारिवारिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। मित्रो का विद्रोह केवल पति के विरुद्ध विद्रोह नहीं है। वह उस मानसिक संरचना के विरुद्ध भी है जिसमें स्त्री की इच्छाओं को अनुचित माना जाता है। इस अर्थ में मित्रो का चरित्र स्त्री के मनोवैज्ञानिक आत्मसम्मान और अस्तित्व-बोध का प्रतिनिधित्व करता है।

'मित्रो मरजानी' में स्त्री मनोविज्ञान

कृष्णा सोबती के साहित्य में *मित्रो मरजानी* का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मित्रो हिंदी साहित्य की उन स्त्री पात्रों में है जो अपनी इच्छाओं और भावनाओं को बिना किसी संकोच के व्यक्त करती हैं। मित्रो का वैवाहिक जीवन उसके मनोवैज्ञानिक संघर्ष का केंद्र है। वह परिवार में रहती है, परिवार से जुड़ी हुई है और संबंधों का मूल्य समझती है, किंतु वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पूरी तरह समाप्त करने के लिए तैयार नहीं है। मित्रो की मनःस्थिति में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह अपनी इच्छा को अपराध नहीं मानती। पारंपरिक नैतिकता स्त्री की देह और कामना को नियंत्रित करती है, लेकिन मित्रो इस नियंत्रण को चुनौती देती है। उसका व्यवहार परिवार के लिए असहजता उत्पन्न करता है, क्योंकि वह उस मौन को तोड़ती है जिसे स्त्री के लिए सामाजिक रूप से अनिवार्य बना दिया गया है।

मित्रो का मनोविज्ञान इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह स्त्री की इच्छाओं के दमन और उसके व्यक्तित्व के विकास के बीच संबंध को स्पष्ट करता है। उसकी बेचैनी केवल निजी समस्या नहीं है; उसके पीछे वह सामाजिक संरचना है जो स्त्री से संयम और मौन की अपेक्षा करती है, जबकि पुरुष की इच्छाओं को अधिक स्वाभाविक माना जाता है। इस प्रकार मित्रो के माध्यम से कृष्णा सोबती यह स्थापित करती हैं कि स्त्री के मानसिक स्वास्थ्य और व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए उसकी भावनाओं और इच्छाओं की स्वीकृति आवश्यक है।

सास-बहू संबंध और स्त्री मनोविज्ञान

भारतीय परिवार में सास-बहू संबंधों को प्रायः संघर्ष के रूप में देखा जाता है, लेकिन कृष्णा सोबती इस संबंध को केवल संघर्ष तक सीमित नहीं करतीं। उनके साहित्य में स्त्रियों के बीच संबंधों में अनुभव, सहानुभूति, सामाजिक संस्कार और पीढ़ीगत अंतर भी मौजूद हैं। *मित्रो मरजानी* में सास और बहू के संबंध विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। मित्रो की उन्मुक्तता और स्पष्टवादिता परिवार की पारंपरिक संरचना के साथ तनाव उत्पन्न करती है, लेकिन इसी तनाव के भीतर स्त्रियों के बीच एक प्रकार की समझ भी विकसित होती है। यहाँ स्त्री-स्त्री संबंध का मनोवैज्ञानिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है। एक पीढ़ी की स्त्री दूसरी पीढ़ी की स्त्री को केवल नियंत्रित करने वाली शक्ति नहीं है; वह स्वयं भी उसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अनुभव कर चुकी है। इस दृष्टि से कृष्णा सोबती स्त्री-जीवन की जटिलता को समझने का अवसर देती हैं। स्त्री पर नियंत्रण करने वाली दूसरी स्त्री भी कई बार स्वयं उस व्यवस्था की उपज होती है जिसने उसे नियंत्रित किया है।

मातृत्व और स्त्री का भावनात्मक संसार

मातृत्व स्त्री के मनोविज्ञान का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष है। भारतीय समाज में मातृत्व को स्त्री की सर्वोच्च पहचान के रूप में प्रस्तुत किया गया है, लेकिन कृष्णा सोबती मातृत्व को केवल आदर्शीकृत रूप में नहीं देखतीं। उनके साहित्य में माँ एक संवेदनशील, अनुभवशील और स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है। *ऐ लड़की* में माँ-बेटी का संबंध विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ माँ और बेटी के बीच संवाद केवल पारिवारिक बातचीत नहीं है; वह स्त्री जीवन के अनुभवों, स्मृतियों और पीढ़ियों के बीच ज्ञान के हस्तांतरण का माध्यम बन जाता है। माँ अपने जीवन के अनुभवों के माध्यम से उस स्त्री संसार को सामने लाती है जिसे सामान्य इतिहास अक्सर दर्ज नहीं करता। उसके अनुभवों में परिवार, विवाह, स्त्री की सामाजिक स्थिति, प्रेम, पीड़ा, उम्र और मृत्यु-बोध सब शामिल हैं। इस रचना में मातृत्व का मनोवैज्ञानिक पक्ष अत्यंत संवेदनशील है। माँ और बेटी का संबंध केवल रक्त संबंध नहीं रह जाता, बल्कि वह दो पीढ़ियों की स्त्रियों के बीच अनुभवों की साझेदारी बन जाता है।

'ऐ लड़की' में माँ-बेटी संबंध का मनोविज्ञान

ऐ लड़की को स्त्री के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना माना जा सकता है। यहाँ संवाद के माध्यम से स्त्री जीवन के अनेक दबे हुए अनुभव सामने आते हैं। माँ का जीवन अतीत से वर्तमान की ओर जाने वाली स्मृतियों

का संसार है। बेटी वर्तमान की प्रतिनिधि है। इन दोनों के बीच संवाद दो पीढ़ियों की मानसिक संरचनाओं को सामने लाता है। माँ-बेटी के संबंध में प्रेम के साथ-साथ अनुभव का अंतर भी है। माँ ने जिस सामाजिक व्यवस्था को स्वीकारते हुए जीवन बिताया, बेटी उसे अलग दृष्टि से देखती है। इस प्रकार रचना में पीढ़ीगत परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी उभरता है। माँ का जीवन यह बताता है कि स्त्री की स्मृति केवल व्यक्तिगत स्मृति नहीं होती। उसमें एक पूरे सामाजिक युग की स्त्री-अनुभूति सुरक्षित रहती है।

परिवार, अकेलापन और स्त्री का मानसिक संघर्ष

परिवार का होना हमेशा मानसिक सुरक्षा की गारंटी नहीं है। व्यक्ति परिवार के बीच रहते हुए भी अकेला अनुभव कर सकता है। कृष्णा सोबती के साहित्य में यह अकेलापन विशेष रूप से स्त्री पात्रों के संदर्भ में दिखाई देता है।

स्त्री के अकेलेपन के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं –

भावनात्मक संवाद का अभाव,	वैवाहिक असंतोष,	सामाजिक अपेक्षाएँ,
अपनी इच्छाओं को व्यक्त न कर पाना,	परिवार में निर्णय लेने की सीमित स्वतंत्रता,	
पीढ़ियों के बीच दूरी,	सामाजिक प्रतिष्ठा का दबाव।	

यह अकेलापन धीरे-धीरे मानसिक तनाव का रूप ग्रहण कर सकता है। कृष्णा सोबती की स्त्रियाँ इस अकेलेपन को कभी मौन के माध्यम से, कभी विद्रोह के माध्यम से और कभी आत्मसंवाद के माध्यम से व्यक्त करती हैं।

स्त्री की देह और पारिवारिक नैतिकता

कृष्णा सोबती की स्त्री-दृष्टि का एक साहसिक पक्ष स्त्री की देह और यौन चेतना की अभिव्यक्ति है। पारंपरिक समाज में स्त्री की देह पर परिवार और समाज का नियंत्रण रहा है। स्त्री की कामना को प्रायः छिपाने योग्य विषय माना गया। कृष्णा सोबती इस मौन को तोड़ती हैं। वे स्त्री की देह को केवल सौंदर्य की वस्तु नहीं मानतीं, बल्कि उसके अनुभव और अस्तित्व का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनाती हैं।

मित्रो मरजानी में यह पक्ष विशेष रूप से प्रभावशाली है। मित्रो अपनी यौन इच्छाओं को स्वीकार करती है और उन्हें व्यक्त करने में संकोच नहीं करती। उसके माध्यम से लेखिका यह प्रश्न उठाती हैं कि यदि पुरुष की यौन इच्छा स्वाभाविक मानी जाती है तो स्त्री की इच्छा को असामान्य या अनैतिक क्यों माना जाए? इस प्रकार स्त्री की देह का प्रश्न अंततः उसके मनोवैज्ञानिक अधिकार का प्रश्न बन जाता है।

पितृसत्ता और स्त्री का मानसिक दबाव

कृष्णा सोबती के साहित्य में पितृसत्ता किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं है। यह एक व्यापक सामाजिक मानसिकता है। परिवार, विवाह, नैतिकता, परंपरा और सामाजिक प्रतिष्ठा के माध्यम से यह मानसिकता स्त्री के व्यवहार को नियंत्रित करती है। स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह – परिवार की प्रतिष्ठा बनाए रखे, पति के प्रति समर्पित रहे, अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करे, परिवार के निर्णयों को स्वीकार करे, सामाजिक मर्यादा का पालन करे, अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को परिवार के हित में त्याग दे।

इन अपेक्षाओं का निरंतर दबाव स्त्री के मन में द्वंद्व पैदा करता है। एक ओर वह परिवार को बनाए रखना चाहती है, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को खोना नहीं चाहती। कृष्णा सोबती की रचनाएँ इसी द्वंद्व को स्त्री मनोविज्ञान का केंद्रीय आधार बनाती हैं।

स्त्री-अस्मिता और पारिवारिक संबंध

कृष्णा सोबती के यहाँ स्त्री-अस्मिता परिवार से अलग किसी अमूर्त अवधारणा का नाम नहीं है। स्त्री अपनी अस्मिता का निर्माण परिवार के भीतर करती है।

वह पत्नी है, लेकिन केवल पत्नी नहीं है।
वह माँ है, लेकिन केवल माँ नहीं है।
वह बहू है, लेकिन केवल बहू नहीं है।

वह सबसे पहले एक स्वतंत्र मनुष्य है।

यही विचार कृष्णा सोबती के स्त्री पात्रों को विशिष्ट बनाता है। वे पारिवारिक भूमिकाओं को अस्वीकार नहीं करतीं, बल्कि इन भूमिकाओं के भीतर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए स्थान तलाशती हैं। इस प्रकार उनकी स्त्री-अस्मिता संघर्ष और संवाद दोनों से निर्मित होती है।

पीढ़ियों का अंतर और स्त्री मनोविज्ञान

कृष्णा सोबती के साहित्य में पीढ़ियों का अंतर स्त्री मनोविज्ञान को समझने की एक महत्त्वपूर्ण कुंजी है। पुरानी पीढ़ी की स्त्रियों ने जिन सामाजिक नियमों और मर्यादाओं को स्वीकार किया, नई पीढ़ी उनकी आलोचना करने लगी है। *ऐ लड़की* में यह पीढ़ीगत अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। माँ का अनुभव परंपरा से निर्मित है, जबकि बेटी आधुनिक चेतना से प्रभावित है। दोनों के बीच मतभेद के बावजूद संवाद बना रहता है। यहाँ कृष्णा सोबती का दृष्टिकोण अत्यंत मानवीय है। वे किसी एक पीढ़ी को पूर्णतः सही या गलत सिद्ध नहीं करतीं। वे दिखाती हैं कि प्रत्येक पीढ़ी अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज होती है।

स्त्री के विद्रोह का मनोवैज्ञानिक आधार

कृष्णा सोबती की स्त्रियों का विद्रोह आकस्मिक नहीं है। उसके पीछे लंबे समय से संचित अनुभव, दमन, असंतोष और आत्मसम्मान की भावना होती है। स्त्री जब अपने अस्तित्व को लगातार दबा हुआ महसूस करती है तो उसके भीतर प्रतिरोध की चेतना जन्म लेती है। यह प्रतिरोध कभी स्पष्ट रूप से सामने आता है और कभी व्यंग्य, भाषा, मौन या व्यवहार के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। मित्रो का विद्रोह इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है। वह परिवार को तोड़ना नहीं चाहती, लेकिन वह स्वयं को भी खोना नहीं चाहती। यही द्वंद्व उसके चरित्र को मनोवैज्ञानिक गहराई प्रदान करता है।

भाषा और स्त्री मनोविज्ञान

कृष्णा सोबती के साहित्य में भाषा केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं है; वह पात्रों के मनोविज्ञान को व्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। उनकी भाषा जीवंत, बोलचाल से जुड़ी, देशज और प्रसंगानुकूल है। विशेष रूप से स्त्री पात्रों की भाषा में उनकी मानसिक स्वतंत्रता दिखाई देती है। वे अपनी बात कहती हैं, प्रश्न करती हैं, व्यंग्य करती हैं और अपनी इच्छाओं को शब्द देती हैं। मित्रो की भाषा उसके व्यक्तित्व का विस्तार है। उसकी स्पष्टवादिता उसके मानसिक साहस को व्यक्त करती है। इसी प्रकार *ऐ लड़की* में संवादात्मक भाषा स्मृति, अनुभव और भावनात्मक निकटता को सामने लाती है। अतः कृष्णा सोबती के यहाँ भाषा और मनोविज्ञान का संबंध अत्यंत घनिष्ठ है।

प्रेम, भावनात्मकता और स्त्री मन

स्त्री के मनोविज्ञान को केवल संघर्ष और विद्रोह के आधार पर समझना अधूरा होगा। कृष्णा सोबती की स्त्रियाँ प्रेम और भावनात्मक संबंधों की आकांक्षा भी रखती हैं। उनके लिए प्रेम केवल रोमांटिक अनुभव नहीं है। प्रेम में सम्मान, संवाद, आत्मीयता और समानता की आवश्यकता है। जब प्रेम में स्वामित्व की भावना बढ़ जाती है, तब संबंध स्त्री के लिए मानसिक बंधन बन सकता है। इसलिए कृष्णा सोबती के साहित्य में प्रेम और स्वतंत्रता एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। स्वस्थ प्रेम वही है जिसमें दोनों व्यक्तियों की स्वतंत्रता और गरिमा बनी रहे।

परिवार के भीतर स्त्री की स्वतंत्रता

कृष्णा सोबती की स्त्री स्वतंत्रता परिवार-विरोधी स्वतंत्रता नहीं है। उनका स्त्री पात्र परिवार को पूरी तरह अस्वीकार करने की बजाय परिवार के भीतर सम्मानजनक स्थान की माँग करता है।

वह चाहती है कि उसके निर्णयों को महत्त्व दिया जाए।
वह चाहती है कि उसकी इच्छाओं को समझा जाए।
वह चाहती है कि उसे केवल कर्तव्यों के आधार पर न आँका जाए।

यह स्वतंत्रता स्त्री की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। यदि व्यक्ति को अपनी भावनाओं और निर्णयों की अभिव्यक्ति का अवसर न मिले तो उसके भीतर कुंठा और असंतोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कृष्णा सोबती इसी मानसिक स्वतंत्रता को स्त्री-अस्मिता का आधार बनाती हैं।

कृष्णा सोबती की स्त्रियाँ: पीड़िता से व्यक्तित्व तक

कृष्णा सोबती की स्त्रियाँ केवल पीड़ित पात्र नहीं हैं। वे परिस्थितियों से संघर्ष करती हैं और अपने व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। उनकी स्त्री –

परिस्थितियों को समझती है,	अपनी इच्छाओं को पहचानती है,
सामाजिक मर्यादाओं पर प्रश्न उठाती है,	अपने शरीर और मन पर अधिकार चाहती है,
पारिवारिक संबंधों में सम्मान चाहती है,	और अंततः अपने व्यक्तित्व को स्थापित करने का प्रयास करती है।

मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से कृष्णा सोबती की स्त्रियाँ

मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से किसी पात्र के व्यवहार को उसके चेतन और अचेतन अनुभवों के संदर्भ में समझा जाता है। कृष्णा सोबती के स्त्री पात्रों में दबे हुए अनुभव, इच्छाएँ, भय, स्मृतियाँ और सामाजिक दबाव अनेक बार उनके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। विशेष रूप से स्त्री की यौन इच्छाओं और सामाजिक नैतिकता के बीच संघर्ष को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है। स्त्री की इच्छा को दबाने की सामाजिक प्रक्रिया उसके व्यक्तित्व में तनाव पैदा करती है। इसी प्रकार परिवार के भीतर प्रेम की कमी, संवाद का अभाव और लगातार नियंत्रण व्यक्ति में मानसिक असंतोष को जन्म दे सकते हैं। कृष्णा सोबती इन स्थितियों को केवल सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि जीवंत पात्रों और परिस्थितियों के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं।

स्त्रीवादी दृष्टि से पारिवारिक संबंध

स्त्रीवादी दृष्टि परिवार को केवल निजी क्षेत्र नहीं मानती, बल्कि उसे सत्ता-संबंधों से जुड़ी सामाजिक संस्था के रूप में भी देखती है। कृष्णा सोबती का साहित्य इसी दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनके यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परिवार में निर्णय लेने का अधिकार किसके पास है? स्त्री की इच्छा को कितना महत्त्व दिया जाता है? विवाह में समानता कितनी है? स्त्री की देह पर उसका अपना अधिकार है या परिवार और समाज का? इन प्रश्नों के माध्यम से कृष्णा सोबती पारिवारिक संबंधों के भीतर छिपी सत्ता-संरचनाओं को उजागर करती हैं।

प्रमुख रचनाओं में पारिवारिक संबंध और स्त्री मनोविज्ञान: तुलनात्मक संकेत

रचना	**प्रमुख स्त्री-मनोवैज्ञानिक पक्ष**	**पारिवारिक संदर्भ**
मित्रो मरजानी	यौन चेतना, आत्मसम्मान, विद्रोह	विवाह और संयुक्त परिवार
सूरजमुखी अँधेरे के	मानसिक आघात, असुरक्षा, अंतर्द्वंद्व	सामाजिक एवं पारिवारिक प्रभाव
ऐ लड़की	स्मृति, मातृत्व, मृत्यु-बोध	माँ-बेटी संबंध
दिल-ओ-दानिश	प्रेम, संबंधों की जटिलता, सामाजिक मर्यादा	परिवार और सामाजिक प्रतिष्ठा
समय सरगम	वृद्धावस्था, अकेलापन, आत्मनिर्भरता	पारिवारिक परिवर्तन और पीढ़ीगत संबंध

इस तुलनात्मक दृष्टि से स्पष्ट होता है कि कृष्णा सोबती के साहित्य में परिवार एक स्थिर संस्था नहीं है। समय के साथ उसके स्वरूप और उसमें स्त्री की स्थिति दोनों बदलते हैं।

समकालीन संदर्भ में कृष्णा सोबती की प्रासंगिकता

आज भारतीय समाज में परिवार के स्वरूप में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। संयुक्त परिवारों की जगह एकल परिवार बढ़ रहे हैं, स्त्रियाँ शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं और विवाह एवं मातृत्व के प्रति दृष्टिकोण भी बदल रहे हैं। फिर भी स्त्री के मानसिक जीवन से जुड़े अनेक प्रश्न आज भी प्रासंगिक हैं—परिवार में समानता, घरेलू श्रम का विभाजन, वैवाहिक

संवाद, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, देह पर अधिकार, भावनात्मक सुरक्षा और पीढ़ियों के बीच संबंध। इस दृष्टि से कृष्णा सोबती का साहित्य आज भी महत्त्वपूर्ण है। उनकी रचनाएँ हमें यह समझने में सहायता करती हैं कि स्त्री की स्वतंत्रता केवल आर्थिक या सामाजिक स्वतंत्रता नहीं है; वह मानसिक और भावनात्मक स्वतंत्रता भी है।

निष्कर्ष

कृष्णा सोबती के साहित्य में पारिवारिक संबंध और स्त्री का मनोविज्ञान एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं। परिवार उनके साहित्य में स्त्री के जीवन की आधारभूत संस्था है, लेकिन यही संस्था कई बार उसके मानसिक संघर्ष का कारण भी बनती है। विवाह, पति-पत्नी संबंध, मातृत्व, सास-बहू संबंध, पीढ़ीगत अंतर, सामाजिक मर्यादा और पारिवारिक प्रतिष्ठा स्त्री के मन को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व हैं।

कृष्णा सोबती की विशेषता यह है कि वे स्त्री को केवल दया या सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखतीं। वे उसके भीतर मौजूद इच्छाओं, आकांक्षाओं, विरोधाभासों और आत्मसम्मान को स्वीकार करती हैं। *मित्रो मरजानी* की मित्रो अपनी देह और इच्छा के प्रति सजग होकर पारंपरिक नैतिकता को चुनौती देती है। *ऐ लड़की* में माँ-बेटी का संबंध स्त्री अनुभव की पीढ़ीगत निरंतरता को सामने लाता है। *सूरजमुखी अँधेरे के* में मानसिक आघात और अंतर्द्वंद्व के स्तर पर स्त्री की जटिल मनोदशा को समझा जा सकता है, जबकि *दिल-ओ-दानिश* में पारिवारिक और सामाजिक संबंधों की जटिलता सामने आती है।

कृष्णा सोबती की स्त्रियाँ परिवार से पलायन करने वाली स्त्रियाँ नहीं हैं; वे परिवार के भीतर अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करती हैं। वे यह स्वीकार नहीं करतीं कि पारिवारिक संबंधों को बनाए रखने के लिए स्त्री को अपने व्यक्तित्व का त्याग करना ही होगा। उनके लिए प्रेम तभी सार्थक है जब उसमें सम्मान हो, विवाह तभी सार्थक है जब उसमें समानता हो और परिवार तभी सार्थक है जब उसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा सुरक्षित रहे।

इस प्रकार कृष्णा सोबती के साहित्य में स्त्री का मनोविज्ञान पारिवारिक संबंधों की जटिल संरचना के भीतर विकसित होता है। उनकी रचनाएँ यह स्थापित करती हैं कि स्त्री के मानसिक संसार को समझने के लिए उसके सामाजिक और पारिवारिक परिवेश को समझना आवश्यक है। उनके साहित्य की स्त्री अपने भीतर के मौन को तोड़ती है, अपने अनुभवों को भाषा देती है और अपने अस्तित्व की स्वीकृति के लिए संघर्ष करती है। यही कृष्णा सोबती की स्त्री-दृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति और समकालीन हिंदी साहित्य में उनकी स्थायी प्रासंगिकता है।

संदर्भ

1. अरोड़ा, सुधा. (2009). *आम औरत: ज़िंदा सवाल*. सामयिक प्रकाशन.
2. खेतान, प्रभा. (2003). *उपनिवेश में स्त्री: मुक्ति-कामना की दस वार्ताएँ*. राजकमल प्रकाशन.
3. राजकिशोर. (2009). *स्त्री के लिए जगह* (2nd ed.). वाणी प्रकाशन.
4. सोबती, कृष्णा. (1967). *मित्रो मरजानी*. राजकमल प्रकाशन.
5. सोबती, कृष्णा. (1972). *सूरजमुखी अँधेरे के*. राजकमल प्रकाशन.
6. सोबती, कृष्णा. (1977). *हम हशमत*. राजकमल प्रकाशन.
7. सोबती, कृष्णा. (1979). *ज़िंदगीनामा*. राजकमल प्रकाशन.
8. सोबती, कृष्णा. (1980). *बादलों के घेरे*. राजकमल प्रकाशन.
9. सोबती, कृष्णा. (1991). *ऐ लड़की*. राजकमल प्रकाशन.
10. सोबती, कृष्णा. (1993). *दिलो-दानिश*. राजकमल प्रकाशन.
11. सोबती, कृष्णा. (2000). *समय सरगम*. राजकमल प्रकाशन.

Received: 03.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

स्त्री काल-अनुभव और स्त्री-अस्मिता: सीमोन द बोउवार की 'स्त्री उपेक्षिता' का पुनर्पाठ

डॉ. इन्दु दत्ता*
indu.dutta@pgdav.du.ac.in

बीसवीं शताब्दी का बौद्धिक इतिहास अनेक वैचारिक क्रांतियों का इतिहास है। मार्क्सवाद ने वर्ग की चेतना को, मनोविश्लेषण ने अवचेतन को, उत्तर औपनिवेशिक चिंतन ने साम्राज्यवादी सत्ता-संरचनाओं को तथा स्त्री-विमर्श ने लैंगिक असमानताओं को आधुनिक ज्ञानमीमांसा के केंद्र में स्थापित किया। इन सभी विमर्शों के बीच एक प्रश्न ऐसा भी है जो प्रत्यक्षतः कम दिखाई देता है पर मानवीय अस्तित्व की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है - वह है काल या समय का अनुभव।

मनुष्य का जीवन स्मृति, वर्तमान और भविष्य के मध्य निरंतर चलने वाली अंतः क्रिया से निर्मित होता है इसलिए समय का प्रश्न वस्तुतः अस्तित्व का प्रश्न है। किंतु लंबे समय तक यह विचार नहीं किया गया कि क्या स्त्री भी अपने समय का निर्माण उसी प्रकार कर पाती है जैसे पुरुष करता है? क्या उसके लिए भी भविष्य समान रूप से संभावनाओं का क्षेत्र है? क्या उसका वर्तमान उसके अपने निर्णयों का परिणाम है? यही प्रश्न सीमोन द बोउवार की प्रसिद्ध कृति 'The Secongd Sex' ('हिंदी अनुवार: स्त्री उपेक्षिता') के स्त्री-दर्शन का केंद्रीय आधार बनता है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्त्री विमर्श ने स्वयं को केवल सामाजिक समानता और अधिकारों तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उसने मनुष्य के अस्तित्व, स्वतंत्रता, समय बोध और आत्मचेतना से जुड़े उन प्रश्नों को भी अपने चिंतन के केंद्र में स्थापित किया। 'स्त्री उपेक्षिता' इसी वैचारिक परिवर्तन का प्रतिनिधि ग्रंथ है।

'The Secongd Sex'का प्रसिद्ध कथन - "स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है" सिर्फ सामाजिक निर्माणवाद का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि समय की अवधारणा को भी नए सिरे से समझने की प्रेरणा देता है। 'बनाया जाना' एक सतत प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत बचपन से वृद्धावस्था तक स्त्री को ऐसी सामाजिक भूमिकाओं में ढाला जाता है जो उसके समय, उसकी आकांक्षाओं और उसके भविष्य की दिशा निर्धारित करती हैं। इस प्रकार पितृसत्ता केवल वाह्य नियंत्रण की व्यवस्था नहीं रह जाती बल्कि वह स्त्री के काल-अनुभव का भी निर्माण करती है।

यहां काल-अनुभव का आशय घड़ी से मापे जाने वाले समय से नहीं बल्कि उस जीवित समय से है जिसे मनुष्य स्मृतियों, इच्छाओं, प्रतीक्षाओं, आशंकाओं और संभावनाओं के रूप में अनुभव करता है। सामान्यतः पुरुष का समय उपलब्धियों, इतिहास-निर्माण और सार्वजनिक जीवन से जुड़ा माना जाता है जबकि स्त्री का समय घरेलू श्रम, देखभाल, पुनरावृत्ति और प्रतीक्षा के बीच विभाजित कर दिया जाता है। यही विभाजन उसके अस्तित्व-बोध और आत्मनिर्माण को गहरे रूप में प्रभावित करता है।

भारतीय सामाजिक संदर्भ में यह प्रश्न और अधिक प्रासंगिक हो उठता है। यहां स्त्री का जीवन पुत्री, पत्नी, मां, बहु, संरक्षिका जैसी अनेक भूमिकाओं में विभाजित रहता है। इन भूमिकाओं के बीच उसका 'स्व' प्रायः अदृश्य हो जाता है। उसका अधिकांश समय दूसरों के जीवन को व्यवस्थित करने में व्यतीत होता है जिसके परिणामस्वरूप उसके व्यक्तिगत स्वप्न, बौद्धिक आकांक्षाएं और सृजनात्मक समय बार-बार स्थगित होते रहते हैं। यह स्थगन केवल सामाजिक नहीं बल्कि अस्तित्वगत भी है।

* **सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, पी. जी. डी. ए. वी. कॉलेज (प्रातः), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

इस शोधपत्र का उद्देश्य 'स्त्री उपेक्षिता' का पुनर्पाठ काल-अनुभव की अवधारणा के आलोक में करना है। इस अध्ययन का मूल प्रतिपाद्य यह है कि स्त्री अस्मिता का संकट केवल सामाजिक असमानता का परिणाम नहीं है बल्कि उसके समय पर स्थापित पितृसत्तात्मक नियंत्रण का भी परिणाम है इसलिए स्त्री-मुक्ति की प्रक्रिया को समग्रता में समझने के लिए 'काल-अनुभव' को विश्लेषण की एक केंद्रीय अवधारणा के रूप में ग्रहण करना आवश्यक है।

समय (काल) मानव जीवन का सर्वाधिक सार्वभौमिक अनुभव है। किंतु दर्शन में समय को केवल घड़ी की गति या घटनाओं के क्रम के रूप में नहीं देखा गया। मनुष्य समय को केवल मापता नहीं बल्कि उसे जीता भी है, इसलिए समय का वास्तविक स्वरूप अनुभव, स्मृति, प्रतीक्षा, आशा और भविष्य की संभावनाओं के माध्यम से उद्घाटित होता है। यही कारण है कि आधुनिक दर्शन में 'काल-अनुभव' (Temporality) को मानव अस्तित्व की आधारभूत संरचना माना गया है।

यदि समय को केवल भौतिक या वस्तुगत परिघटना के रूप में देखा जाए तो स्त्री और पुरुष दोनों का समय समान प्रतीत होगा किंतु जैसे ही समय को सामाजिक और अस्तित्वगत अनुभव के रूप में समझा जाता है यह स्पष्ट हो जाता है कि समय का अनुभव भी सत्ता-संबंधों से निर्मित होता है। व्यक्ति का समय उसके वर्ग, जाति, लिंग, श्रम और सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित होता है। इसी संदर्भ में स्त्री के काल-अनुभव का प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

स्त्री का जीवन केवल जैविक अवस्थाओं की शृंखला नहीं है बल्कि वह सामाजिक अपेक्षाओं द्वारा निर्मित समय-संरचना के भीतर विकसित होता है। बचपन से वृद्धावस्था तक उसके जीवन के प्रत्येक चरण को समाज पूर्वनिर्धारित अर्थ प्रदान करता है। परिणामस्वरूप उसका समय स्वतंत्र विकास का क्षेत्र न रहकर सामाजिक भूमिकाओं के निर्वाह का माध्यम बन जाता है। इस प्रकार काल-अनुभव केवल दार्शनिक अवधारणा नहीं बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्श का भी महत्वपूर्ण विषय है।

मार्टिन हाइडेगर ने अपनी प्रसिद्ध कृति Being and Time में प्रतिपादित किया कि मनुष्य का अस्तित्व मूलतः कालात्मक (Temporal) है। मनुष्य वर्तमान में रहते हुए भी निरंतर अतीत की स्मृतियों और भविष्य की संभावनाओं के बीच सक्रिय रहता है। हाइडेगर के अनुसार भविष्य केवल आने वाला समय नहीं बल्कि संभावनाओं का वह क्षेत्र है जहां व्यक्ति अपने चुनावों के माध्यम से स्वयं का निर्माण करता है। स्त्री-विमर्श की दृष्टि से यह विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि भविष्य संभावनाओं का क्षेत्र है तो प्रश्न उठता है कि क्या स्त्री को भी समान संभावनाएं उपलब्ध हैं? यदि समाज उसके भविष्य को पहले ही विवाह, मातृत्व और घरेलू भूमिकाओं तक सीमित कर देता है तो क्या उसके अस्तित्व को वास्तव में स्वतंत्र कहा जा सकता है? यही प्रश्न आगे चलकर सीमोन द बोउवार के स्त्री-दर्शन का केंद्रीय बनता है।

हेनरी बर्गसां के अनुसार समय केवल घड़ी से मापा जाने वाला यांत्रिक या गणितीय माप नहीं है बल्कि चेतना का सतत, अखंड और जीवंत प्रवाह है जिसे उन्होंने 'अवधि' या 'दुरे' (Duree) कहा। इस अवधारणा के अनुसार समय को खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता, वह स्मृतियों और अनुभवों की निरंतरता में प्रवाहित होता है।

एक स्त्री के संदर्भ में यह विचार विशेष महत्व रखता है। घरेलू जीवन में व्यतीत किया गया समय प्रायः इतिहास में दर्ज नहीं होता जबकि वही उसके जीवन का सबसे बड़ा अनुभव होता है। परिवार, बच्चों और संबंधों के निर्माण में लगाया उसका श्रम और समय सामाजिक मान्यता से वंचित रह जाता है। इस प्रकार स्त्री का जीवित समय सार्वजनिक इतिहास में अदृश्य बना रहता है।

ज्यां-पॉल सार्त्र के अनुसार मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। उसके प्रत्येक निर्णय से उसका भविष्य निर्मित होता है। किंतु यह स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब व्यक्ति को वास्तविक परिस्थितियों में निर्णय लेने का अवसर उपलब्ध हो।

सीमोन द बोउवार ने इसी बिंदु से आगे बढ़ते हुए प्रश्न उठाती हैं कि यदि सामाजिक संरचना ही स्त्री के निर्णयों को सीमित कर दे तो क्या केवल दार्शनिक स्तर पर उसे स्वतंत्र घोषित कर देना पर्याप्त होगा? यहीं से स्त्री अस्तित्व का प्रश्न अस्तित्ववादी दर्शन के भीतर एक नए विमर्श का रूप ग्रहण करता है।

सीमोन ने अस्तित्ववादी चिंतन को स्त्री अनुभव के साथ जोड़ते हुए उसे नया आयाम प्रदान किया। "The Second Sex" में उनका प्रसिद्ध कथन "One is not born, but rather becomes, a woman" केवल जैविक नियतिवाद का

खंडन नहीं करता बल्कि समय की अवधारणा को भी नए सिरे से परिभाषित करता है। 'स्त्री बनना' एक सतत सामाजिक प्रक्रिया है और प्रत्येक प्रक्रिया समय के भीतर ही घटित होती है। इसलिए स्त्री होना कोई प्राकृतिक नियति नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक निर्माण है।

बोउवार के अनुसार समाज स्त्री के समय को इस प्रकार संगठित करता है कि उसका 'वर्तमान' दूसरों की आवश्यकताओं में व्यतीत हो, उसका 'अतीत' परंपराओं से बंधा रहे और उसका 'भविष्य' पूर्वनिर्धारित भूमिकाओं तक सीमित रहे। परिणामस्वरूप उसका अस्तित्व उसके अपने चुनावों से कम और सामाजिक अपेक्षाओं से अधिक निर्मित होता है।

यहीं से काल-अनुभव सत्ता विश्लेषण की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा बन जाता है। पितृसत्ता केवल यह निर्धारित नहीं करती कि स्त्री क्या करेगी बल्कि यह भी तय करती है कि वह अपना समय किस प्रकार व्यतीत करेगी। अर्थात् उसका 'बचपन' अनुशासन में, 'युवावस्था' विवाह की तैयारी में, 'प्रौढ़ावस्था' परिवार की देखभाल में, 'वृद्धावस्था' त्याग और सेवा के आदर्श में व्यतीत होता है। इन सभी चरणों में उसका निजी समय निरंतर स्थगित होता रहता है और उसका जीवन प्रतीक्षा की एक अंतहीन संरचना में बदल जाता है यानि - 'जब पढ़ाई पूरी होगी', 'जब विवाह होगा', 'जब बच्चे बड़े हो जाएंगे', 'जब ज़िम्मेदारियां समाप्त होंगी' आदि-आदि। लेकिन यह 'जब' कभी नहीं आता।

यही कारण है कि स्त्री की सबसे बड़ी वंचना केवल अधिकारों से वंचित होना नहीं बल्कि अपने समय पर स्वामित्व खो देना है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को केवल सामाजिक रूप से 'अन्य' नहीं बनाती बल्कि उसके काल-अनुभव का भी उपनिवेशीकरण करती है। फलतः स्त्री-अस्मिता की पुनर्स्थापना का अर्थ केवल समाज अधिकार प्राप्त करना नहीं बल्कि अपने समय, स्मृति और भविष्य पर पुनः अधिकार स्थापित करना भी है। सीमोन द बोउवार की "The Second Sex" को समान्यतः स्त्री-अधिकारों के मूल ग्रंथ के रूप में देखा जाता है परंतु इसका महत्व केवल अधिकार-विमर्श तक सीमित नहीं है। यह कृति सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है जिनके माध्यम से स्त्री की पहचान निर्मित की जाती है। यदि इस कृति का पुनर्पाठ काल-अनुभव की अवधारणा के आलोक में किया जाए तो स्पष्ट होता है कि बोउवार का मूल प्रश्न केवल यह नहीं कि 'स्त्री क्या है?' बल्कि यह भी है कि 'स्त्री अपना समय किस प्रकार जीती है?' और समाज उसके समय का संगठन किस प्रकार करता है?

बोउवार के अनुसार स्त्री का जीवन स्वतंत्र संभावनाओं की यात्रा नहीं बन पाता क्योंकि उसका समय प्रारंभ से ही सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप नियोजित कर दिया जाता है। बाल्यावस्था से ही उसे यह सिखाया जाता है कि उसका भविष्य उसके निजी स्वप्नों से नहीं बल्कि परिवार, विवाह और मातृत्व से निर्धारित होगा। परिणामस्वरूप उसका वर्तमान निरंतर किसी आने वाली सामाजिक भूमिका की तैयारी में व्यतीत होता रहता है। यहां समय केवल प्रवाह नहीं बल्कि सामाजिक अनुशासन का माध्यम बन जाता है। "The Seond Sex" की वैचारिक शक्ति इसी विश्लेषण में निहित है।

सीमोन यह स्पष्ट करती हैं कि स्त्री के शरीर को प्राकृतिक नियति मान लेना एक वैचारिक भ्रम है। शरीर स्वयं में न तो स्वतंत्र है और न पराधीन क्योंकि उसका अर्थ सामाजिक संरचनाएं निर्धारित करती हैं। किशोरावस्था, ऋतुचक्र, गर्भधारण और मातृत्व जैसी जैविक अवस्थाएं स्वाभाविक हैं किंतु पितृसत्तात्मक संस्कृति उन्हें सामाजिक अनुशासन में रूपांतरित कर देती हैं। इस प्रकार स्त्री का जैविक समय (Biological Time) धीरे-धीरे सामाजिक समय (Social Time) में परिवर्तित हो जाता है।

समाज स्त्री के जीवन को विभिन्न चरणों में बांटकर प्रत्येक चरण के लिए पूर्वनिर्धारित अपेक्षाएं निर्मित करता है - 'अब विवाह का समय है', 'अब मातृत्व का समय है', 'अब परिवार को प्राथमिकता देने का समय है', 'अब तुम्हारे त्याग का समय है' आदि- आदि। इन सभी अवस्थाओं का निर्धारण स्त्री स्वयं नहीं करती बल्कि सामाजिक व्यवस्था करती है। फलतः उसके जीवन की समय सारिणी उसके अपने निर्णयों से नहीं बल्कि वाह्य अपेक्षाओं से संचालित होती हैं। इस प्रकार स्त्री के शरीर पर नियंत्रण वस्तुतः उसके समय पर नियंत्रण का ही रूप है।

घरेलू 'श्रम' के विश्लेषण में बोउवार एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करती हैं। भोजन बनाना, घर की सफाई करना, बच्चों की देखभाल करना, कपड़े धोना, परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करना जैसे कार्य समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य हैं परंतु इनकी प्रकृति पुनरावृत्तिमूलक है। इन कार्यों का कोई स्थायी ऐतिहासिक परिणाम दिखाई नहीं देता। दूसरी ओर पुरुष का श्रम सामान्यतः 'उपलब्धि', 'उत्पादन' और 'सार्वनिक मान्यता' से जुड़ता है। परिणामस्वरूप

पुरुष का समय इतिहास का अंग बन जाता है जबकि स्त्री का समय प्रतिदिन उसी चक्र में लौट आता है। यही स्थिति कालगत असमानता (Temporal Inequality) को जन्म देती है।

मातृत्व के संबंध में भी सीमोन का दृष्टिकोण अत्यंत संतुलित है। वे मातृत्व का विरोध नहीं करतीं बल्कि उसके अनिवार्यीकरण का प्रतिरोध करती हैं। उनके अनुसार मातृत्व तभी सार्थक और स्वतंत्र अनुभव है जब वह स्त्री की स्वायत्त इच्छा और निर्णय का परिणाम हो। किंतु जब मातृत्व को स्त्री की एकमात्र पहचान और नियति के रूप में स्थापित कर दिया जाता है तब उसके जीवन का समूचा समय उसी के इर्द-गिर्द संगठित होने लगता है। शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सहभागिता और बौद्धिक विकास त कमातृत्व की पूर्वधारणा के अनुसार नियोजित किए जाने लगते हैं। इस प्रकार मातृत्व जैविक अनुभव से अधिक सामाजिक समय-संरचना का उपकरण बन जाता है।

The Second Sex में बोउवार ने स्त्री को 'अन्य' (Other) के रूप में निर्मित किए जाने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। परंतु इस अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि यह 'अन्यता' केवल सामाजिक या सांस्कृतिक नहीं बल्कि कालगत भी है। वह व्यक्ति अन्य है 'जिसका इतिहास दूसरे लिखते हैं', 'जिसका वर्तमान दूसरे नियंत्रित करते हैं' और 'जिसका भविष्य दूसरे निर्धारित करते हैं।' इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि पितृसत्ता स्त्री के काल-अनुभव का उपनिवेशीकरण करती है। वह स्त्री के श्रम, प्रतीक्षा, स्वप्न, सृजनशीलता और भविष्य - सभी पर अपना नियंत्रण स्थापित करती है। परिणामस्वरूप स्त्री का समय उसका निजी अनुभव न रहकर सामाजिक व्यवस्था का संसाधन बन जाता है।

स्पष्ट है कि 'स्त्री उपेक्षिता' का पुनर्पाठ स्त्री-अस्मिता के प्रश्न को एक नए आयाम से उद्घाटित करता है। यह ग्रंथ बताता है कि स्त्री-मुक्ति का प्रश्न केवल अधिकारों, समानता अथवा प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं है वह स्त्री के अपने समय, स्मृति, श्रम और भविष्य पर पुनः अधिकार स्थापित करने का प्रश्न भी है। इसी बिंदु पर बोउवार का स्त्री-दर्शन समकालीन स्त्री-विमर्श के लिए नई वैचारिक संभावनाएं प्रस्तुत करता है।

यदि सीमोन की अवधारणाओं को भारतीय स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो अनेक वैचारिक समानताएं स्पष्ट रूप से उभरती हैं। यद्यपि भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां यूरोपीय समाज से भिन्न है फिर भी स्त्री के समय, श्रम और अस्तित्व पर पितृसत्तात्मक नियंत्रण दोनों संदर्भों में समान रूप से दिखाई देता है।

महादेवी वर्मा ने शृंखला की कड़ियां में बार-बार यह प्रश्न उठाया कि भारतीय स्त्री का जीवन स्वयं उसके लिए कितना है। उनके अनुसार त्याग तभी मूल्यवान है जब वह स्त्री की स्वतंत्र इच्छा का परिणाम हो। यदि वह सामाजिक दबाव अथवा सांस्कृतिक अनिवार्यता से उत्पन्न हो तो वह स्वतंत्रता नहीं बल्कि बंधक का रूप ग्रहण कर लेता है।

प्रभा खेतान ने 'उपनिवेश में स्त्री' में स्त्री को सांस्कृतिक उपनिवेश के रूप में देखने का प्रयास किया है। उनके विचारों को बोउवार की 'अन्यता' की अवधारणा के साथ पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि उपनिवेशीकरण केवल स्त्री के शरीर या श्रम का नहीं बल्कि उसके समय का भी होता है। स्त्री के जीवन की प्राथमिकताएं, दायित्व और भविष्य इस प्रकार निर्धारित किए जाते हैं कि उसके निजी समय और आत्मविकास की संभावनाएं क्रमशः सीमित होती जाती हैं।

कृष्णा सोबती के स्त्री पात्र भी पारंपरिक समय-संरचना को चुनौती देते हैं। वे सामाजिक मर्यादाओं के भीतर रहते हुए भी अपने लिए निजी समय, स्वतंत्र निर्णय और आत्मसम्मान का आग्रह करते हैं। इस प्रकार उनके साहित्य में स्त्री की अस्मिता केवल सामाजिक प्रतिरोध के रूप में नहीं बल्कि अपने समय पर अधिकार स्थापित करने के संघर्ष के रूप में भी सामने आती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि भारतीय स्त्री-विमर्श का एक महत्वपूर्ण पक्ष स्त्री के काल-अनुभव से भी जुड़ा हुआ है। यद्यपि अधिकांश आलोचनात्मक विमर्श अधिकार, समानता, प्रतिनिधित्व और पहचान पर केंद्रित रहे हैं किंतु स्त्री के समय पर नियंत्रण का प्रश्न अपेक्षाकृत कम चर्चा में आया है। यह शोध इसी उपेक्षित पक्ष को रेखांकित करने का प्रयास करता है।

इक्कीसवीं शताब्दी को सूचना प्रौद्योगिकी, वैश्वीकरण और डिजिटल संस्कृति का युग माना जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता और तकनीकी विकास ने स्त्री को पहले की अपेक्षा अधिक अवसर प्रदान

किए हैं। यह आंशिक रूप से सत्य भी है परंतु यदि इस परिवर्तन का विश्लेषण काल अनुभव के संदर्भ में किया जाए तो अनेक नई जटिलताएं सामने आती हैं।

आज कार्यरत स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह एक सफल पेशेवर होने के साथ-साथ आदर्श मां, पत्नी, बहू और गृहिणी की भूमिकाओं का भी समान दक्षता से निर्वाह करे। परिणामस्वरूप उसके जीवन में 'दोहरे' या 'तिहरे' श्रम (Doube/Triple Burden) की स्थिति उत्पन्न होती है। कार्यालय का कार्य समाप्त होने के बाद भी घरेलू श्रम और देखभाल का अधिकांश दायित्व उसी पर बना रहता है। इस प्रकार उसकी उपलब्धियां बढ़ती हैं किंतु उसका निजी समय लगातार संकुचित होता जाता है। प्रभा खेतान कहती हैं कि "चूंकि वह पढ़ी-लिखी है इसलिए तेज-तर्रार समझी जाती है, सीधी तो मानी ही नहीं जा सकती। स्पष्टवादिता उसका गुनाह माना जाता है। वह घर निभाने की सोचे घर बिगाड़ने की नहीं। सब कुछ तो उसी पर निर्भर करता है? समाज ने इतनी स्वतंत्रता दी, परिवार उसका काम करने की इजाज़त देता है यही क्या कम रहमदिली है। फिर शिकायत क्यों?" (स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ सं. 14) उसकी यह स्थिति बताती है कि भले ही आधुनिकता ने स्त्री की भूमिकाएं बदली हैं पर समय का लैंगिक विभाजन पूरी तरह समाप्त नहीं किया।

डिजिटल युग ने इस स्थिति को और अधिक जटिल बना दिया है। मोबाइल फोन, ई-मेल और सोशल मीडिया ने कार्य और निजी जीवन के बीच की सीमाओं को धुंधला कर दिया है। विशेष रूप से शिक्षा, सेवा और देखभाल से जुड़े क्षेत्रों में कार्यरत महिलाओं से निरंतर 'उपलब्ध रहने की अपेक्षा' की जाती है। इसका सीधा प्रभाव उनके विश्राम, आत्मचिंतन और सृजनात्मक समय पर पड़ता है। इसलिए समकालीन स्त्री विमर्श में 'समय पर स्वामित्व (Ownership of Time) एक अत्यंत महत्वपूर्ण विमर्श के रूप में उभर रहा है। 'स्त्री उपेक्षिता' में प्रभा खेतान कहती हैं कि "आज स्त्री के विभिन्न पक्षों पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है लेकिन मैं यह सोचती हूं कि यह पुस्तक हमारे देश में आज भी बहस का मुद्दा हो सकती है। हम भारतीय कई तहों में जीते हैं। यदि हम मन की सलवटों को समझते हैं तो यह जरूर स्वीकारेंगे कि औरत का मानवीय रूप सहोदरा कही जाने के बावजूद स्वीकृत नहीं है। हमारे देश में औरत यदि पढ़ी-लिखी है और काम करती है तो उससे समाज और परिवार की उम्मीदें अधिक होती हैं। लोग चाहते हैं कि वह सारी भूमिकाओं को बिना किसी शिकायत के निभाए।" (स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ सं. 14)

भारतीय समाज में आज भी विवाह, मातृत्व और पारिवारिक उत्तरदायित्वों को स्त्री के जीवन की अनिवार्य अवस्थाओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। शिक्षा और रोज़गार के अवसरों में वृद्धि के बसवजूद उसके भविष्य की कल्पना अभी भी व्यापक रूप से पारिवारिक भूमिकाओं के आधार पर की जाती है। इस कारण स्त्री की समय-संरचना पर पितृसत्तात्मक प्रभाव पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है बल्कि उसने नए सामाजिक रूप धारण कर लिए हैं।

इस संदर्भ में महादेवी वर्मा, प्रभा खेतान, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, मृणाल पांडे तथा अन्य भारतीय लेखिकाओं का साहित्य यह स्पष्ट करता है कि स्त्री का संघर्ष केवल समान अधिकारों का संघर्ष नहीं है; वह अपने व्यक्तित्व, आत्मनिर्णय और समय की पुनर्प्राप्ति का भी संघर्ष है। यही वह बिंदु है जहां भारतीय स्त्री-विमर्श और सीमोन का चिंतन एक गहरे वैचारिक संवाद की स्थापना करते हैं।

अतः कहा जा सकता हैं कि भारतीय स्त्री-विमर्श में काल-अनुभव की अवधारणा को अधिक गंभीरता से शामिल किया जाना चाहिए। इससे घरेलू श्रम, देखभाल, भावनात्मक श्रम, सामाजिक पुनरुत्पादन तथा स्त्री-अस्मिता जैसे प्रश्नों का अधिक व्यापक और गहन विश्लेषण संभव हो सकेगा।

The Second Sex का पुनर्पाठ यह स्पष्ट करता है कि स्त्री अस्मिता का प्रश्न केवल सामाजिक समानता या विधिक अधिकारों का प्रश्न नहीं है बल्कि वह मानव अस्तित्व, स्वतंत्रता और काल-अनुभव से गहराई से जुड़ा हुआ है। सीमोन ने यह प्रतिपादित किया कि स्त्री को 'अन्य' (Other) के रूप में निर्मित करना केवल सामाजिक प्रक्रिया नहीं बल्कि एक ऐसी सत्ता-व्यवस्था का परिणाम है जो उसके जीवन, श्रम, स्मृति और भविष्य पर नियंत्रण स्थापित करती है।

इस अध्ययन का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि पितृसत्ता स्त्री के काल-अनुभव का भी उपनिवेशीकरण करती है। वह स्त्री के 'वर्तमान' को पारिवारिक दायित्वों में, 'अतीत' को परंपराओं में और 'भविष्य' को पूर्वनिर्धारित भूमिकाओं में बांध देती है।

परिणामस्वरूप स्त्री का समय उसके आत्मविकास का माध्यम न रहकर दूसरों की अपेक्षाओं की पूर्ति का साधन बन जाता है। यही कारण है कि स्त्री के अस्तित्व-बोध, आत्मनिर्णय और सृजनात्मकता पर गहरा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष :-

इस शोध से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री-मुक्ति का प्रश्न केवल समान अवसरों या अधिकारों की प्राप्ति तक सीमित नहीं है। वास्तविक मुक्ति तभी संभव है जब स्त्री अपने समय, स्मृति, श्रम और भविष्य पर स्वयं अधिकार स्थापित कर सके। इस दृष्टि से काल-अनुभव स्त्री-विमर्श की एक महत्वपूर्ण विश्लेषणात्मक अवधारणा के रूप में उभरता है जिसके माध्यम से पितृसत्तात्मक सत्ता संरचनाओं को अधिक सूक्ष्मता से समझा जा सकता है। भारतीय स्त्री-विमर्श के संदर्भ में भी यह अवधारणा विशेष रूप से प्रासंगिक सिद्ध होती है। महादेवी वर्मा, प्रभा खेतान, कृष्णा सोबती तथा अन्य लेखिकाओं के साहित्य में स्त्री का संघर्ष केवल अधिकारों की प्राप्ति का संघर्ष नहीं है बल्कि अपने व्यक्तित्व, आत्मनिर्णय और समय की पुनर्प्राप्ति का भी संघर्ष है। इस प्रकार 'The Second Sex'और भारतीय स्त्री-विमर्श के बीच एक सार्थक वैचारिक संवाद स्थापित होता है।

समग्रतः स्त्री-विमर्श में काल-अनुभव को प्रमुखता से स्वीकार किए जाने की आवश्यकता है। इससे स्त्री-अस्मिता, घरेलू श्रम, देखभाल, भावनात्मक श्रम, सामाजिक पुनरुत्पादन तथा लैंगिक सत्ता-संबंधों के अध्ययन को नई वैचारिक दिशा प्राप्त हो सकती है।

संदर्भ

बोउवार, सिमोन द. *स्त्री: उपेक्षिता*. अनुवाद प्रभा खेतान, हिंद पॉकेट बुक्स, 2002.

खेतान, प्रभा. *उपनिवेश में स्त्री*. राजकमल प्रकाशन, 2003.

खेतान, प्रभा. *स्त्री पक्ष*. राजकमल प्रकाशन.

पुष्पा, मैत्रेयी. *खुली खिड़कियां*. राजकमल प्रकाशन, 2003.

पांडे, मृणाल. *परिधि पर स्त्री*. राजकमल प्रकाशन.

राजकिशोर, संपादक. *स्त्री के लिए जगह*. वाणी प्रकाशन.

अनामिका. *स्त्रीत्व का मानचित्र*. वाणी प्रकाशन.

जैन, निर्मला. *साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन*. राधाकृष्ण प्रकाशन.

सिंह, नामवर. *वाद-विवाद-संवाद*. राजकमल प्रकाशन.

वर्मा, महादेवी. *शृंखला की कड़ियां*. लोकभारती प्रकाशन, 2020.

Butler, Judith, Gender Trouble:Feminism and the Subversion of Identity, Routledge, New York, 1990

Hooks, Bell, Feminist Theory:From Margin to Center, South End Press, Boston, 1984

Wollstonecraft, Mary, A Vindication of the Rights of Woman, J. Johnson, London, 1792

Millett, Kate, Sexual Politics, Doubleday, New York, 1970

Friedan, Betty, The Feminine Mystique, W. W. Norton & Company, New York, 1963

Received: 04.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

भारतीय ज्ञान परंपरा में संत ज्ञानेश्वर का योगदान

राम फरांडे*
ram.farande@gmail.com

सारांश

भारत की सनातन सांस्कृतिक परम्परा में संत ज्ञानेश्वर ने आध्यात्मिक और साहित्यिक परिदृश्य पर एक अमिट छाप छोड़ी है इसलिए भारतीय ज्ञान परंपरा में संत ज्ञानेश्वर का योगदान अतुलनीय है। संत ज्ञानेश्वर अपने ग्रंथ ज्ञानेश्वरी के लिए प्रसिद्ध हैं जो श्रीमद्भगवद्गीता की जटिल शिक्षाओं को सरल मराठी भाषा के माध्यम से सभी के लिए सुलभ बनाती है। संत ज्ञानेश्वर की गणना भारत के महान संतों में होती है। इनका जन्म 1275 ई. में भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को महाराष्ट्र राज्य के अहमदनगर ज़िले में पैठण के पास आपेगाँव में हुआ था। ज्ञानेश्वर के बड़े भाई निवृत्तिनाथ की गुरु गैगीनाथ से भेंट हो गई। वे विट्ठल पंत के गुरु रह चुके थे। उन्होंने निवृत्तिनाथ को योगमार्ग की दीक्षा और कृष्ण उपासना का उपदेश दिया। बाद में निवृत्तिनाथ ने ज्ञानेश्वर को भी दीक्षित किया। संत ज्ञानेश्वर ने भी 21 वर्ष की आयु में ही संसार का त्यागकर जाग्रत समाधि ग्रहण कर ली। पंद्रह वर्ष की उम्र में ही ज्ञानेश्वर कृष्णभक्त और योगी बन चुके थे। बड़े भाई निवृत्तिनाथ के कहने पर उन्होंने एक वर्ष के अंदर ही भगवद्गीता पर टीका लिखी जो 'ज्ञानेश्वरी' नाम से जानी गई। यह ग्रंथ मराठी भाषा का अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ 10,000 पद्यों में लिखा गया है। यह भी अद्वैत-वादी रचना है, किंतु यह योग पर भी बल देती है। 28 अभंगों की इन्होंने 'हरिपाठ' नामक एक पुस्तिका लिखी है, जिस पर भागवतमत का प्रभाव है। भक्ति का उदगार इसमें अत्यधिक है। इसके अतिरिक्त संत ज्ञानेश्वर के रचित कुछ अन्य ग्रंथ हैं 'अमृतानुभव', 'चांगदेवपासष्टी', 'योगवसिष्ठ टीका' आदि हैं । इन्होने उज्जयिनी, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, वृंदावन, द्वारका, पंढरपुर आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा की। आज भी संत ज्ञानेश्वर भारतीय ज्ञान परंपरा में अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है जिसमें ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय है।

बीज शब्द:

भारतीय ज्ञान परंपरा, संत ज्ञानेश्वर, ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, भक्ति आंदोलन, लोकभाषा, सामाजिक समरसता, अध्यात्म, लोकमंगल।

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा विश्व की प्राचीनतम और समृद्ध ज्ञान परंपराओं में से एक है जिसकी मूल विशेषता ज्ञान को केवल बौद्धिक उपलब्धि न मानकर जीवन समाज और लोक कल्याण से जोड़ना है। इस परंपरा में संतों और भक्त कवियों ने भारतीय दर्शन, अध्यात्म और सामाजिक चेतना को जनसाधारण तक

***शोधार्थी, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र**

पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संत ज्ञानेश्वर इसी परंपरा के ऐसे महान संत, दार्शनिक और कवि हैं जिन्होंने संस्कृत में निहित दार्शनिक ज्ञान को लोकभाषा मराठी के माध्यम से सामान्य जन तक पहुँचाया। संत ज्ञानेश्वर का व्यक्तित्व भारतीय ज्ञान परंपरा में ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग और लोककल्याण के समन्वय का प्रतिनिधित्व करता है। उनकी प्रमुख कृति ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता का मराठी भावानुवाद एवं दार्शनिक व्याख्या है। इसके माध्यम से उन्होंने गीता के गूढ़ दार्शनिक विचारों को सरल, सहज और लोकग्राह्य बनाया। उनकी दूसरी महत्वपूर्ण रचना अमृतानुभव उनके गहन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिंतन को अभिव्यक्त करती है। उनके अभंगों में भी मानवतावादी दृष्टि, भक्ति, आत्मज्ञान और सामाजिक समरसता का संदेश दिखाई देता है।

भारतीय ज्ञान परंपरा के संदर्भ में संत ज्ञानेश्वर के योगदान का अध्ययन किया गया है। विशेष रूप से उनके ज्ञान-दर्शन, लोकभाषा के माध्यम से ज्ञान के प्रसार भक्ति आंदोलन, सामाजिक समरसता, आध्यात्मिक चेतना तथा लोक मंगल की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है। साथ ही वर्तमान समय में उनके विचारों की प्रासंगिकता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। भारत की सांस्कृतिक पहचान उसकी दीर्घकालीन ज्ञान परंपरा से निर्मित हुई है। भारतीय ज्ञान परंपरा में जीवन के विभिन्न पक्षों दर्शन, अध्यात्म, धर्म, समाज, प्रकृति, नैतिकता और मानव संबंधों को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा गया। भारतीय चिंतन में ज्ञान का उद्देश्य केवल सूचना प्राप्त करना नहीं बल्कि मनुष्य को आत्मबोध विवेक और लोक कल्याण की दिशा में प्रेरित करना है। भारतीय परंपरा में वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, बौद्ध जैन दर्शन तथा विभिन्न दार्शनिक परंपराओं ने ज्ञान की व्यापक अवधारणा को विकसित किया। मध्यकाल में संत परंपरा ने इस ज्ञान को जनसाधारण से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। महाराष्ट्र की संत परंपरा में संत ज्ञानेश्वर का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। संत ज्ञानेश्वर ने ऐसे समय में भारतीय दार्शनिक चिंतन को लोकभाषा से जोड़ा जब धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों की भाषा सामान्य जनता के लिए सहज नहीं थी। उन्होंने भगवद्गीता के संदेश को मराठी में प्रस्तुत करके ज्ञान को सामाजिक एवं भाषायी सीमाओं से बाहर निकालने का कार्य किया। इस दृष्टि से उनका योगदान केवल धार्मिक या साहित्यिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है बल्कि भारतीय ज्ञान के लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से भी जुड़ा हुआ है।

शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं

1. भारतीय ज्ञान परंपरा की अवधारणा के संदर्भ में संत ज्ञानेश्वर के योगदान का अध्ययन।

2. संत ज्ञानेश्वर के दर्शन एवं आध्यात्म चिंतन का विश्लेषण करना।

3. ज्ञानेश्वरी के माध्यम से ज्ञान के लोक भाषायी प्रसार माध्यम अध्ययन करना।

4. संत ज्ञानेश्वर के सामाजिक समरसता संबंधी विचारों को समझना।

शोध प्राविधि

प्रस्तुत शोध कार्य में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध प्रकृति का प्रयोग किया गया है। शोध के लिए प्राथमिक तथा द्वितीय स्रोतों का प्रयोग प्रमुख रूप से किया गया है। जिसमें संत ज्ञानेश्वर के प्रमुख रचनाएं भारतीय दर्शन से संबंधित संत साहित्य, उपलब्ध साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन में वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक दृष्टिकोण को आधार बनाते हुए। ज्ञानेश्वर के विचारों को भारतीय ज्ञान परंपरा के व्यापक संदर्भ में विश्लेषित किया गया है।

भारत की ज्ञान परम्परा और संत ज्ञानेश्वर योगदान

भारतीय ज्ञान परंपरा विश्व की प्राचीन एवं निरंतर विकसित होने वाली ज्ञान परंपराओं में से एक है। इसकी विशेषता केवल ज्ञान के संचय में नहीं बल्कि ज्ञान को जीवन आचरण, समाज, प्रकृति और आध्यात्मिक चेतना से जोड़ने में निहित है। वैदिक परंपरा से विकसित भारतीय ज्ञान दृष्टि में लौकिक ज्ञान एवं कर्म, धर्म एवं अध्यात्म तथा भौतिक एवं नैतिक जीवन के बीच समन्वय स्थापित किया गया। इस परंपरा में विद्या को केवल बौद्धिक उपलब्धि न मानकर व्यक्ति के आत्मविकास तथा जीवन मुक्ति का माध्यम के रूप में माना गया था। सत्य, विनम्रता, अनुशासन, आत्मसंयम, कर्तव्य बोध, प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता तथा समस्त प्राणियों के प्रति सम्मान इसके महत्वपूर्ण आधार रहे हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा के विकास में संत परंपरा का विशेष योगदान रहा है। संतों ने ज्ञान अध्यात्म और भक्ति को केवल विद्वानों या विशिष्ट वर्ग तक सीमित न रखते हुए सामान्य जन जीवन से जोड़ा। महाराष्ट्र की संत परंपरा में संत ज्ञानेश्वर का स्थान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। तेरहवीं शताब्दी के संत ज्ञानेश्वर ने ज्ञान योग और भक्ति को एक समन्वित दृष्टि में प्रस्तुत किया तथा मराठी भाषा के माध्यम से दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों को व्यापक समाज तक पहुँचाने का कार्य किया। ज्ञानेश्वर की दृष्टि में ज्ञान केवल शास्त्रीय अध्ययन का विषय नहीं था बल्कि आत्मबोध सदाचार भक्ति और लोक कल्याण से जुड़ा हुआ था। उनके चिंतन में व्यक्ति और समाज आत्मा और परमात्मा तथा ज्ञान और भक्ति के बीच संबंध दिखाई देता है। उनका विश्व दृष्टिकोण संकीर्ण धार्मिक या सामाजिक सीमाओं से आगे बढ़कर सार्वभौमिक कल्याण की ओर उन्मुख था। ज्ञानेश्वरी के अंत में व्यक्त पसायदान की प्रार्थना में व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा समस्त प्राणियों के कल्याण सद्भाव और मैत्री की कामना की गई है। संत ज्ञानेश्वर के योगदान का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उन्होंने भारतीय दार्शनिक परंपरा को लोकभाषा और लोक जीवन से जोड़ा। उनके साहित्य में भारतीय ज्ञान परंपरा के गूढ़ तत्वों का सरल एवं काव्यात्मक रूप दिखाई देता है। इस प्रकार ज्ञानेश्वर ने परंपरा और लोक, दर्शन और भक्ति तथा शास्त्र और जीवन के मध्य एक सेतु निर्मित किया। उनके साहित्य ने आगे चलकर महाराष्ट्र की वारकरी संत परंपरा को वैचारिक आधार प्रदान किया और एकनाथ तथा तुकाराम जैसे संतों की परंपरा पर भी प्रभाव डाला।

भारतीय ज्ञान परंपरा के संदर्भ में संत ज्ञानेश्वर का योगदान केवल धार्मिक या साहित्यिक क्षेत्र तक सीमित नहीं माना जा सकता। उन्होंने ज्ञान को जीवनोपयोगी बनाया आध्यात्मिक अनुभूति को लोकभाषा में व्यक्त किया तथा व्यक्तिगत आत्मबोध को सामाजिक एवं सार्वभौमिक कल्याण से जोड़ा। इस दृष्टि से संत ज्ञानेश्वर भारतीय ज्ञान परंपरा के ऐसे प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं जिन्होंने प्राचीन दार्शनिक मूल्यों को लोकजीवन की चेतना से जोड़कर उन्हें नई सामाजिक एवं सांस्कृतिक ऊर्जा प्रदान की।

दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिंतन

संत ज्ञानेश्वर का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिंतन भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराओं के समन्वय का महत्वपूर्ण उदाहरण है। उनके विचारों में उपनिषद, भगवद्गीता, वेदांत, योग, नाथ परंपरा तथा भक्ति की अंतर्धाराएँ दिखाई देती हैं। उनके चिंतन को किसी एक दार्शनिक मत की संकीर्ण सीमा में बाँधना कठिन है क्योंकि उन्होंने ज्ञान, भक्ति, कर्म और योग को परस्पर पूरक रूप में देखा। उनके दर्शन में आत्मा और परमात्मा की एकता अद्वैत की अनुभूति तथा ईश्वर के प्रति प्रेमपूर्ण भक्ति का विशेष महत्व है। ज्ञानेश्वर के चिंतन का प्रमुख आधार आत्मबोध है उनके अनुसार वास्तविक ज्ञान व्यक्ति को बाहरी भेदों से ऊपर उठाकर आत्मतत्त्व की अनुभूति की ओर ले जाता है। इसी कारण उनके दर्शन में ज्ञान और भक्ति विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।

ज्ञान व्यक्ति को सत्य की अनुभूति कराता है जबकि भक्ति उस अनुभूति को प्रेम समर्पण और आचरण से जोड़ती है। ज्ञानेश्वरी में भगवद्गीता के कर्मयोग ज्ञानयोग और भक्तियोग की व्याख्या करते हुए उन्होंने जीवन में कर्म करते हुए आध्यात्मिक चेतना विकसित करने का मार्ग प्रस्तुत किया। ज्ञानेश्वर के आध्यात्मिक चिंतन में सगुण और निर्गुण तथा द्वैत और अद्वैत के बीच समन्वय दिखाई देता है। ईश्वर को केवल निराकार दार्शनिक सत्ता के रूप में देखने के बजाय उन्होंने भक्ति के माध्यम से उसे अनुभव करने की संभावना को स्वीकार किया। वारकरी परंपरा में विठ्ठल भक्ति इसी समन्वयवादी दृष्टि से जुड़ती है। इस भक्ति में ईश्वर के प्रति प्रेम, आत्मीयता, वात्सल्य और समर्पण की भावना दिखाई देती है। इस प्रकार ज्ञानेश्वर का आध्यात्मिक चिंतन केवल दार्शनिक विमर्श नहीं बल्कि जीवनानुभव से जुड़ा हुआ है।

अमृतानुभव में व्यक्त उनके चिंतन में अद्वैत आत्मानुभूति और शिव शक्ति के एकत्व की अवधारणा महत्वपूर्ण है। उनके लिए आध्यात्मिक अनुभूति ऐसी अवस्था है जिसमें साधक बाहरी से ऊपर उठकर अस्तित्व की एकात्मता का अनुभव करता है। इस दृष्टि से ज्ञानेश्वर का चिंतन भारतीय अद्वैत परंपरा को भक्ति और अनुभव की भूमि पर स्थापित करता है। उनके दर्शन का एक महत्वपूर्ण पक्ष सार्वभौमिकता है। पसायदान में वे दुष्ट प्रवृत्तियों के नाश, सत्कर्म की वृद्धि, प्राणिमात्र में मैत्री तथा विश्वकल्याण की कामना करते हैं। यह उनके आध्यात्मिक चिंतन को सामाजिक एवं नैतिक आयाम प्रदान करता है। इस प्रकार उनका आध्यात्मिक दर्शन व्यक्ति की मुक्ति के साथ-साथ व्यापक लोकमंगल को भी महत्व देता है। संत ज्ञानेश्वर का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिंतन ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग, आत्मानुभूति, अद्वैत और लोक कल्याण का समन्वित दर्शन है। उनकी मौलिकता इसी में है कि उन्होंने दार्शनिक तत्त्वों को जीवन और लोकभाषा से जोड़ा तथा आध्यात्मिक अनुभूति को सामाजिक सद्भाव और मानवकल्याण की दिशा प्रदान की।

ज्ञानेश्वरी के माध्यम से ज्ञान के लोकभाषायी प्रसार

संत ज्ञानेश्वर के योगदान का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष ज्ञानेश्वरी के माध्यम से ज्ञान का लोकभाषायी प्रसार है। ज्ञानेश्वरी जिसे भावार्थदीपिका भी कहा जाता है भगवद्गीता पर आधारित मराठी भाष्य है। इसकी रचना तेरहवीं शताब्दी में हुई और यह मराठी साहित्य तथा महाराष्ट्र की आध्यात्मिक परंपरा का अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। ज्ञानेश्वर ने गीता के दार्शनिक विचारों को संस्कृत के शास्त्रीय दायरे से निकालकर मराठी की लोकाभिमुख काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया। ज्ञानेश्वरी की सबसे बड़ी विशेषता इसकी भाषा और अभिव्यक्ति है। ज्ञानेश्वर ने ओवी छंद का प्रयोग करते हुए गीता के गूढ़ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धांतों को उदाहरणों उपमाओं और दैनिक जीवन से जुड़े प्रसंगों के माध्यम से समझाया। इससे दर्शन केवल विद्वानों के अध्ययन का विषय न रहकर सामान्य जन की समझ और अनुभूति का हिस्सा बन सका। उपलब्ध स्रोतों में भी यह उल्लेख मिलता है कि ज्ञानेश्वरी ने संस्कृत में उपलब्ध गीता के दार्शनिक ज्ञान को सामान्य मराठी भाषी समाज तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ज्ञान के इस लोकभाषायी प्रसार का सामाजिक महत्व भी अत्यंत व्यापक था। मध्यकालीन समाज में शास्त्रीय ज्ञान तक पहुँच भाषा शिक्षा और सामाजिक स्थिति से प्रभावित थी। ज्ञानेश्वर ने मराठी को दार्शनिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर ज्ञान के प्रसार की संभावनाओं को व्यापक किया। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी केवल गीता की व्याख्या नहीं रही बल्कि मराठी भाषा में दार्शनिक अभिव्यक्ति की क्षमता को स्थापित करने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ बनी। ज्ञानेश्वरी में ज्ञान के साथ विश्वकल्याण की भावना भी जुड़ी हुई है। पसायदान इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसमें व्यक्तिगत मुक्ति या निजी लाभ की अपेक्षा प्राणिमात्र में मैत्री, सद्भाव, सत्कर्म और सार्वभौमिक कल्याण की कामना की गई है। "दुरितांचे तिमिर

जावो" जैसी प्रार्थना सामाजिक एवं नैतिक अंधकार के समाप्त होने और सद्भाव के उदय की आकांक्षा व्यक्त करती है। ज्ञानेश्वरी का प्रभाव साहित्यिक क्षेत्र से आगे बढ़कर महाराष्ट्र की सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना पर भी पड़ा। वारकरी परंपरा में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और बाद की संत परंपरा में इसके विचारों की निरंतरता दिखाई देती है। ज्ञानेश्वरी ने मराठी को धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विमर्श की सशक्त भाषा बनाने में योगदान दिया तथा ज्ञान को लोकजीवन से जोड़ने का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी को ज्ञान के लोक भाषायीकरण की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। संत ज्ञानेश्वर ने जटिल दार्शनिक विचारों को सरल काव्यात्मक और लोकाभिमुख भाषा में प्रस्तुत करके ज्ञान के सामाजिक प्रसार को व्यापक बनाया। यही कारण है कि ज्ञानेश्वरी भारतीय ज्ञान परंपरा में शास्त्रीय ज्ञान और लोकभाषा के बीच सेतु के रूप में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

सामाजिक समरसता

संत ज्ञानेश्वर के चिंतन का एक महत्वपूर्ण आयाम सामाजिक समरसता है। उनके समय का समाज विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और जातिगत विभाजनों से प्रभावित था। ऐसे वातावरण में ज्ञानेश्वर ने भक्ति और आध्यात्मिक अनुभूति को व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। उनके चिंतन में मनुष्य के आध्यात्मिक मूल्य को जन्म, जाति या सामाजिक स्थिति से अधिक महत्व दिया गया। इसी कारण उनकी परंपरा में विभिन्न सामाजिक समूहों से आने वाले संतों और भक्तों की सहभागिता दिखाई देती है। ज्ञानेश्वर की सामाजिक दृष्टि को उनकी व्यक्तिगत जीवन परिस्थितियों से भी समझा जा सकता है। सामाजिक बहिष्कार के अनुभव ने उनके चिंतन में मानवीय संवेदना और व्यापकता को गहराई प्रदान की। उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान को किसी एक वर्ग का अधिकार न मानकर सामान्य समाज तक पहुँचाने का प्रयास किया। ज्ञानेश्वरी का मराठी में लिखा जाना इसी व्यापक दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण उदाहरण है। ज्ञान का लोक भाषायीकरण अपने आप में सामाजिक समावेशन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। वारकरी परंपरा में सामाजिक समरसता का आधार भक्ति और विठ्ठल के प्रति समान भाव रहा। इस परंपरा ने विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों के लोगों को साझा आध्यात्मिक अनुभव से जोड़ने में भूमिका निभाई। ज्ञानेश्वर की परंपरा के साथ नामदेव, चोखामेला, जनाबाई आदि संतों का उल्लेख महाराष्ट्र की संत परंपरा में सामाजिक विविधता और आध्यात्मिक सहभागिता के संदर्भ में किया जाता है। इस परंपरा में भक्ति को सामाजिक दूरी कम करने वाले माध्यम के रूप में देखा गया। संत ज्ञानेश्वर की सामाजिक समरसता की भावना पसायदान में भी स्पष्ट दिखाई देती है। जे खळांचि व्यंकटी संडो" तथा "भूतां परस्परे पडो मैत्र जीवांचे" जैसी प्रार्थनाओं में दुष्ट प्रवृत्तियों के समाप्त होने और प्राणिमात्र में मैत्री स्थापित होने की कामना की गई है। यह दृष्टि सामाजिक समरसता को केवल जातिगत प्रश्न तक सीमित नहीं रखती, बल्कि उसे व्यापक नैतिक एवं मानवीय संबंधों से जोड़ती है। ज्ञानेश्वर के सामाजिक चिंतन को आधुनिक अर्थों में पूर्ण सामाजिक समानता या आधुनिक जाति विरोधी आंदोलन के समान नहीं माना जाए। उनकी भक्ति दृष्टि ने आध्यात्मिक समानता और सामाजिक अवरोधों को चुनौती दी लेकिन उसे आधुनिक सामाजिक समानता की अवधारणा से सीधे समान करना ऐतिहासिक रूप से उचित नहीं होगा। इस प्रकार संत ज्ञानेश्वर की सामाजिक समरसता की अवधारणा का मूल आधार मानव मात्र के प्रति मैत्री भक्ति में व्यापक सहभागिता, ज्ञान की सार्वभौमिक पहुँच आध्यात्मिक समानता और लोककल्याण है। उन्होंने ज्ञान और भक्ति के माध्यम से सामाजिक दूरी को कम करने की वैचारिक भूमि तैयार की। उनके विचारों की समकालीन प्रासंगिकता इसी में है कि वर्तमान समाज में जाति वर्ग और अन्य सामाजिक विभाजनों के बीच संवाद सह अस्तित्व, करुणा और मानवीय बंधुत्व को मजबूत करने के लिए उनके समन्वयवादी चिंतन से प्रेरणा ली जा सकती है।

निष्कर्ष

भारतीय ज्ञान परम्परा की निरंतर प्रवाहित धारा में संत ज्ञानेश्वर का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारतीय दर्शन, अध्यात्म, भक्ति और लोकजीवन के मध्य समन्वय स्थापित करते हुए ज्ञान को व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। उनके चिंतन में ज्ञान और भक्ति, कर्म और अध्यात्म, सगुण और निर्गुण तथा द्वैत और अद्वैत का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। इस समन्वयवादी दृष्टिकोण ने भारतीय ज्ञान परम्परा को अधिक व्यापक, लोकाभिमुख और मानवतावादी स्वरूप प्रदान किया। संत ज्ञानेश्वर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन ज्ञानेश्वरी है। उन्होंने भगवद्गीता के गूढ़ दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों को मराठी भाषा में सरल, सुबोध और काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत कर ज्ञान को लोकभाषा के माध्यम से सामान्य जन तक पहुँचाया। इस प्रकार ज्ञानेश्वरी शास्त्रीय ज्ञान और लोकजीवन के बीच एक महत्वपूर्ण सेतु बनी। इसके माध्यम से ज्ञान, भक्ति और आध्यात्मिक चेतना का व्यापक प्रसार हुआ तथा मराठी भाषा को दार्शनिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम मिला। संत ज्ञानेश्वर के चिंतन का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष सामाजिक समरसता है। उन्होंने भक्ति, मैत्री, करुणा, दया और लोककल्याण को महत्व दिया तथा आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य की समानता की भावना को बल दिया। पसायदान में व्यक्त विश्वकल्याण, सत्कर्म और प्राणिमात्र में मैत्री की भावना उनके व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है। संत ज्ञानेश्वर भारतीय ज्ञान परम्परा, लोकभाषायी ज्ञान-विस्तार, आध्यात्मिक समन्वय और सामाजिक समरसता के महत्वपूर्ण प्रवक्ता के रूप में आज भी प्रासंगिक हैं।

संदर्भ :-

1. माचवे प्रभाकर (2022) संत ज्ञानेश्वर परिचय तथा कविताएँ दिल्ली : हिन्द पॉकेट बुक्स
2. जोशी,भैय्या जी (2020) ज्ञानेश्वरी प्रसाद, दिल्ली : प्रभात प्रकाशन
3. सप्रे. ना.वि. (2017). महाराष्ट्र के संत महात्मा, वाराणसी : अनुराग प्रकाशन.
4. शुक्ल, रजनीश (2021) भारतीय ज्ञान परम्परा और विचारक, दिल्ली : प्रभात प्रकाशन.
5. Patil, A. (2019, November 7). *Bharatiya gyan-parampara: Janhit-rashtrahit ki siddhi*. **Sablog**. https://sablog.in/indian-knowledge-tradition-public-interest-achievement-of-national-interest-nov-2019/6888/
6. Gadgil, G. (1991). *Dynaneshwari: The fountainhead of Marathi literature*. **Triveni Journal**. https://www.wisdomlib.org/history/compilation/triveni-journal/d/doc71803.html

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 05.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

बिहार में प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) की ऋण एवं विविध कृषि-आर्थिक सेवाओं का स्वरूप, विस्तार एवं उपयोगिता : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सिन्टु कुमार / Sintu kumar *
sintu460885@gmail.com

डॉ० ललित नारायण मिश्रा/ Dr. Lalit Narayan Mishra †
drlnmishra@gmail.com

सारांश

ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों की ऋण एवं कृषि संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राथमिक कृषि साख समितियाँ (PACS) महत्वपूर्ण सहकारी संस्थाओं के रूप में कार्य करती हैं। प्रस्तुत अध्ययन में बिहार के संदर्भ में PACS की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विकास, वर्तमान स्वरूप, संरचना, विस्तार, कार्यप्रणाली तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका का अध्ययन किया गया है। अध्ययन में PACS द्वारा किसानों को उपलब्ध कराई जाने वाली ऋण एवं अन्य कृषि-आर्थिक सेवाओं की उपयोगिता तथा उनकी प्रमुख समस्याओं को भी समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन क्षेत्र बिहार राज्य है और इसके लिए वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध-विधि का प्रयोग करते हुए द्वितीयक आँकड़ों को आधार बनाया गया है। बिहार की ग्रामीण प्रधान सामाजिक एवं आर्थिक संरचना को देखते हुए ग्रामीण क्षेत्रों में PACS की भूमिका महत्वपूर्ण है, क्योंकि राज्य में कृषि एवं कृषि मजदूरी का कार्यशील जनसंख्या में प्रमुख स्थान है। अध्ययन से स्पस्ट है कि PACS का विकास प्रारंभ में मुख्य रूप से कृषि ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से हुआ, लेकिन समय के साथ इनके कार्यक्षेत्र में काफी विस्तार हुआ है। वर्तमान में PACS को कृषि-आदान, भंडारण, कृषि यंत्र, डेयरी, मत्स्य पालन तथा अन्य ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों से जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है। PACS को 25 से अधिक आर्थिक गतिविधियों से जोड़ने की व्यवस्था इनके बढ़ते कार्यक्षेत्र को दर्शाती है। इसी प्रकार 79,630 कार्यशील PACS के कम्प्यूटरीकरण की व्यवस्था से सदस्यता, ऋण, जमा, खरीद, भंडारण तथा लेखा-परीक्षण जैसे कार्यों को डिजिटल व्यवस्था से संचालित करने का प्रयास किया जा रहा है। PACS को सामान्य सेवा केंद्र के रूप में विकसित कर 300 से अधिक ई-सेवाएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी इनके कार्यक्षेत्र को और व्यापक बनाती है। कृषि यंत्र किराया केंद्र तथा भंडारण जैसी सुविधाएँ किसानों को कृषि कार्यों के लिए आवश्यक साधन एवं सेवाएँ स्थानीय स्तर पर उपलब्ध कराने की दिशा में उपयोगी हैं। इससे स्पष्ट होता है कि बिहार में PACS अब केवल ऋण उपलब्ध कराने वाली संस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि किसानों की विभिन्न कृषि एवं आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली बहुउद्देशीय ग्रामीण संस्थाओं के रूप में विकसित हो रही हैं। साथ ही किसानों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए ऋण सुविधाओं को मजबूत करने, कृषि-आदान एवं भंडारण सुविधाओं का विस्तार करने, कृषि यंत्र किराया केंद्रों को प्रभावी बनाने, कम्प्यूटरीकरण एवं डिजिटल सेवाओं को सुचारु रूप से लागू करने तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार आर्थिक गतिविधियों को विकसित करने की आवश्यकता सामने आती है।

बीज शब्द :

प्राथमिक कृषि साख समितियाँ (PACS), सहकारी साख व्यवस्था, कृषि ऋण, कृषि-आर्थिक सेवाएँ, बहुउद्देशीय PACS, कम्प्यूटरीकरण, कृषि-आदान, भंडारण, कृषि यंत्र, सामान्य सेवा केंद्र (CSC), बिहार।

* **शोधार्थी, अर्थशास्त्र विभाग, भू० ना० मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा - 852113 (बिहार)**

† **एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, आर० एम० कॉलेज, सहरसा - 852201 (बिहार)**

प्रस्तावना

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका होने के कारण किसानों की ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक सुदृढ़ एवं संस्थागत साख व्यवस्था का होना आवश्यक है। भारत में सहकारी साख व्यवस्था का विकास इसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से हुआ है। 25 मार्च 1904 को सहकारी ऋण समितियाँ अधिनियम, 1904 लागू किया गया था, जिसने ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख समितियों के गठन को आधार प्रदान किया है। इसके बाद सहकारी समितियाँ अधिनियम, 1912 के माध्यम से सहकारी संस्थाओं के कार्यक्षेत्र को और विस्तृत किया गया। वर्ष 1914 में एडवर्ड मैकलेगन समिति द्वारा सहकारी साख व्यवस्था के लिए त्रिस्तरीय संरचना की सिफारिश की गई है, जिसमें प्राथमिक सहकारी समितियों को आधार स्तर पर रखा गया। इस ऐतिहासिक विकास ने आगे चलकर प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) के संस्थागत विकास का आधार तैयार किया है(सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2025)। समय के साथ प्राथमिक कृषि साख समितियों का स्वरूप और कार्यक्षेत्र व्यापक होता गया है। प्रारंभिक दौर में इनका मुख्य उद्देश्य किसानों को कृषि संबंधी ऋण उपलब्ध कराना था, किंतु वर्तमान समय में PACS को ग्रामीण अर्थव्यवस्था की आधारभूत बहु-सेवा संस्थाओं के रूप में विकसित किया जा रहा है। इनके माध्यम से किसानों की अल्पकालीन एवं मध्यम अवधि की ऋण आवश्यकताओं के साथ-साथ कृषि संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने पर बल दिया जा रहा है। देश में एक लाख से अधिक PACS तथा लगभग 13 करोड़ छोटे एवं सीमांत किसानों का इनसे जुड़ाव इस संस्थागत व्यवस्था के व्यापक विस्तार को दर्शाता है। वर्तमान समय में PACS की कार्यप्रणाली को अधिक प्रभावी, पारदर्शी एवं आधुनिक बनाने के लिए इनके कम्प्यूटरीकरण पर विशेष बल दिया जा रहा है। कम्प्यूटरीकरण परियोजना के अंतर्गत 79,630 PACS को शामिल किया गया है तथा सामान्य लेखा प्रणाली एवं प्रबंधन सूचना प्रणाली के माध्यम से इनके कार्यो को व्यवस्थित करने का प्रयास किया जा रहा है। साथ ही मॉडल उपविधियों के माध्यम से PACS को 25 से अधिक आर्थिक गतिविधियों से जोड़ने का प्रावधान किया गया है, जिनमें कृषि वितरण, भंडारण, खाद्यान्न खरीद, कृषि यंत्र किराया केंद्र, उचित मूल्य दुकान, सामुदायिक सिंचाई तथा सामान्य सेवा केंद्र जैसी गतिविधियाँ शामिल हैं(सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2025)। इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्राथमिक कृषि साख समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को संस्थागत ऋण उपलब्ध कराने, कृषि-आदानों की आपूर्ति करने, भंडारण एवं विपणन जैसी सुविधाओं को बढ़ावा देने तथा विभिन्न ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। प्रस्तुत अध्ययन में PACS की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं विकास, भारत एवं बिहार में उनकी संरचना एवं विस्तार एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में भूमिका तथा उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली ऋण एवं अन्य कृषि-आर्थिक सेवाओं का अध्ययन किया गया है। इसके माध्यम से PACS के वर्तमान स्वरूप, कार्यक्षेत्र तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उनकी उपयोगिता को समझने का प्रयास किया गया है। PACS को केवल कृषि ऋण उपलब्ध कराने वाली संस्था तक सीमित न रखकर उन्हें बहुउद्देशीय संस्था के रूप में विकसित करने की दिशा में कार्य किया जा रहा है। सहकारिता मंत्रालय की सामग्री में PACS के आर्थिक सुदृढ़ीकरण के अंतर्गत आदर्श उपविधियों, कम्प्यूटरीकरण तथा गाँव एवं पंचायत स्तर पर बहुउद्देशीय PACS, डेयरी एवं मत्स्य सहकारी समितियों की स्थापना जैसी पहलों का उल्लेख किया गया है(सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार)।

अध्ययन क्षेत्र: बिहार राज्य

बिहार राज्य की कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 94,163 वर्ग किलोमीटर है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार राज्य की कुल जनसंख्या 10,40,99,452 थी। इसमें ग्रामीण जनसंख्या 9,23,41,436 तथा शहरी जनसंख्या 1,17,58,016 थी। इस प्रकार राज्य की कुल जनसंख्या में ग्रामीण आबादी का हिस्सा बहुत अधिक था, जबकि शहरी आबादी केवल 11.29 प्रतिशत थी। वर्ष 2001 से 2011 के बीच बिहार की जनसंख्या में 25.42 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इसी अवधि में पुरुष जनसंख्या में 25.52 प्रतिशत तथा महिला जनसंख्या में 25.32 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। राज्य का जनसंख्या घनत्व 1,106 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर था। लिंगानुपात के अनुसार प्रति 1,000 पुरुषों पर 918 महिलाएँ थीं; ग्रामीण क्षेत्रों में यह अनुपात 921 तथा शहरी क्षेत्रों में 895 था। बिहार में कुल 44,874 गाँव थे, जिनमें 39,073 आबाद गाँव तथा 5,801 गैर-आबाद गाँव शामिल थे। इसके साथ ही राज्य में 199 नगर थे, जिनमें 139 वैधानिक नगर तथा 60 जनगणना नगर शामिल थे। इन आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि बिहार की जनसंख्या एवं बस्तियों की संरचना में ग्रामीण क्षेत्र का प्रभुत्व था। ग्रामीण जनसंख्या का बड़ा आधार और गाँवों की अधिक संख्या राज्य की ग्रामीण प्रधान संरचना को स्पष्ट करती है(Directorate of Census Operations, Bihar, 2011)। साथ ही बिहार की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को साक्षरता तथा कार्यशील जनसंख्या को समझना आवश्यक है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार बिहार राज्य की साक्षरता दर 61.8 प्रतिशत थी। पुरुष साक्षरता दर 71.2

प्रतिशत तथा महिला साक्षरता दर 51.5 प्रतिशत थी, जो पुरुष एवं महिला साक्षरता के बीच अंतर को व्यक्त करता है। राज्य में अनुसूचित जाति की जनसंख्या 15.91 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या 1.28 प्रतिशत थी। कुल कार्यशील जनसंख्या का हिस्सा 33.36 प्रतिशत तथा गैर-कार्यशील जनसंख्या का हिस्सा 66.64 प्रतिशत था। कार्यशील जनसंख्या में मुख्य कार्यकर्ताओं का हिस्सा 20.52 प्रतिशत तथा सीमांत कार्यकर्ताओं का हिस्सा 12.84 प्रतिशत था। व्यावसायिक संरचना में कृषकों का हिस्सा 20.72 प्रतिशत, कृषि मजदूरों का 52.83 प्रतिशत, घरेलू उद्योग में कार्यरत व्यक्तियों का 4.06 प्रतिशत तथा अन्य कार्यों में संलग्न व्यक्तियों का 22.38 प्रतिशत था। कृषकों में पुरुषों का हिस्सा 22.78 प्रतिशत तथा महिलाओं का 15.27 प्रतिशत था। कृषि मजदूरों में पुरुषों का हिस्सा 49.84 प्रतिशत तथा महिलाओं का 60.77 प्रतिशत था। घरेलू उद्योग में पुरुषों का हिस्सा 3.02 प्रतिशत तथा महिलाओं का 6.83 प्रतिशत था, जबकि अन्य कार्यों में पुरुषों का हिस्सा 24.36 प्रतिशत तथा महिलाओं का 17.13 प्रतिशत था (Directorate of Census Operations, Bihar, 2011)। इससे स्पष्ट होता है कि बिहार की कार्यशील जनसंख्या में कृषि एवं कृषि मजदूरी का महत्वपूर्ण स्थान था। विशेष रूप से कृषि मजदूरों का 52.83 प्रतिशत हिस्सा राज्य की अर्थव्यवस्था में कृषि-आधारित रोजगार की प्रमुखता को दर्शाता है। वहीं साक्षरता के आँकड़े राज्य की शैक्षिक स्थिति तथा पुरुष एवं महिला साक्षरता के बीच विद्यमान अंतर को स्पष्ट करता हैं।

साहित्य समीक्षा

शैलजा एवं हेब्बार (2018) ने *Role of Primary Agricultural Cooperative Societies in Rural Financing* में ग्रामीण वित्त व्यवस्था में प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियों (PACS) की भूमिका का अध्ययन किया है। अध्ययन में PACS को छोटे एवं सीमांत किसानों के लिए संस्थागत वित्त का प्रमुख स्रोत बताया गया है। इनके द्वारा अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋण उपलब्ध कराने के साथ किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति तथा ग्रामीण वित्तीय समावेशन और कृषि विकास में योगदान का उल्लेख किया गया है।

मजूमदर, चक्रवर्ती एवं भंडारी (2014) के अनुसार भारत के छह क्षेत्रों में PACS द्वारा दिए गए कृषि ऋण की वसूली क्षमता का अध्ययन किया है। अध्ययन में पाया गया कि ऋण-वसूली का प्रदर्शन विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रहा तथा ऋण की बकाया राशि PACS की वित्तीय व्यवहार्यता को प्रभावित करती है। अध्ययन में PACS को व्यवहार्य बनाए रखने के लिए पर्याप्त एवं समय पर ऋण प्रवाह तथा उपयुक्त नीतिगत उपायों की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

शिंदे (2013) ने *Growth & Performance of Primary Agricultural Cooperative Credit Societies in India* में वर्ष 2006–07 से 2010–11 के दौरान भारत में PACS के विकास एवं प्रदर्शन का अध्ययन किया। अध्ययन में कृषि ऋण वितरण, ऋण-वसूली, लाभ में रहने वाली समितियों तथा घाटे में रहने वाली समितियों के आधार पर PACS के प्रदर्शन का विश्लेषण किया गया। अध्ययन से स्पस्ट हुआ कि इस अवधि में PACS की ऋण वितरण क्षमता एवं वसूली क्षमता में सुधार हुआ तथा लाभ में रहने वाली समितियों और कुल लाभ में वृद्धि हुई, जबकि घाटे में रहने वाली समितियों एवं कुल हानि में कमी आई है।

पांडा, भट्टाचार्जी, चटर्जी एवं बसु (2023) के अध्ययन में PACS के अस्तित्व एवं दीर्घकालीन स्थायित्व को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण कारकों का अध्ययन किया है। अध्ययन में विशेषज्ञों एवं संबंधित हितधारकों की जानकारी के आधार पर महत्वपूर्ण कारकों के बीच संबंधों का विश्लेषण किया गया। अध्ययन के निष्कर्ष में प्रबंधन की गुणवत्ता एवं कर्मचारियों की प्रेरणा को PACS के अस्तित्व के लिए प्रमुख कारक तथा ऋण-वसूली को स्थायित्व के लिए अत्यंत संवेदनशील कारक बताया गया है।

मोहाना एवं करुणाहरण (2020) ने भारत और तमिलनाडु में प्राथमिक कृषि सहकारी साख समितियों (PACCS) के प्रदर्शन की तुलनात्मक स्थिति का अध्ययन किया। अध्ययन में समितियों की संख्या, सदस्यता, ऋण लेने वाले सदस्यों, कुल ऋण, ऋण की बकाया राशि, वसूली तथा अतिदेय ऋण जैसे संकेतकों का उपयोग किया गया। अध्ययन में पाया गया कि अध्ययन अवधि में PACCS की संख्या, सदस्यता, ऋण लेने वाले सदस्यों तथा कुल ऋण में वृद्धि की प्रवृत्ति रही है।

कुमार एवं मेहता (2018) ने हरियाणा में वर्ष 2000–01 से 2014–15 के दौरान PACS के प्रदर्शन एवं संभावनाओं का अध्ययन किया। अध्ययन में PACS की संख्या, सदस्यता, चुकता शेयर पूँजी, जमा, कार्यशील पूँजी तथा ऋण वितरण आदि को आधार बनाया गया। अध्ययन से पता चला कि अध्ययन अवधि में PACS की संख्या में कमी आयी है, जबकि सदस्यता, शेयर पूँजी, जमा तथा कार्यशील पूँजी में वृद्धि हुई है। दूसरी ओर लाभ में रहने वाली PACS की संख्या में कमी तथा घाटे में

रहने वाली समितियों की संख्या में वृद्धि देखी गई है। इससे PACS की वित्तीय स्थिरता से जुड़ी समस्याओं की ओर संकेत मिलता है।

सिंह, सिंह, कौर, बरवाल एवं ठाकुर (2026) ने पंजाब में PACS के प्रदर्शन का अध्ययन किया। इनके अनुसार पंजाब में PACS की संख्या में कमी आई है, जबकि चुकता शेयर पूँजी, रिजर्व, जमा और उधार में वृद्धि हुई है। कृषि ऋण में भी वृद्धि हुई, लेकिन कुल ऋण में कृषि ऋण की हिस्सेदारी में कमी देखी गई है। इसने PACS को मजबूत करने के लिए सरकारी सहयोग, ऋण पोर्टफोलियो में विविधता, तकनीक में निवेश, सामान्य सेवा केंद्र तथा पारदर्शी कार्यप्रणाली को आवश्यक बताया है।

खट्टर, सिदाना, कुमार एवं प्रिस्किला (2025) ने पंजाब में PACS के संस्थागत परिवर्तन, वित्तीय प्रदर्शन एवं आर्थिक प्रभाव का अध्ययन किया। अध्ययन में 1980 से 2022 तक के द्वितीयक आँकड़ों का उपयोग किया गया। अध्ययन में PACS की सदस्यता, शेयर पूँजी तथा ऋण वितरण में उल्लेखनीय वृद्धि पाई गई है, लेकिन ऋण की बकाया राशि में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। इनके अनुसार PACS ने कृषि ऋण उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, लेकिन बढ़ती बकाया राशि उनकी वित्तीय स्थिरता के लिए चुनौती है। इसलिए PACS की प्रभावशीलता बढ़ाने के लिए लक्षित नीतिगत सुधार आवश्यक हैं।

शोध-अंतर

उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि PACS से संबंधित पूर्व शोधों में मुख्यतः कृषि ऋण, ऋण-वसूली, वित्तीय प्रदर्शन, सदस्यता, ऋण वितरण, वित्तीय स्थिरता, प्रबंधन तथा संस्थागत विकास जैसे पक्षों पर अधिक ध्यान दिया गया है। वहीं बिहार के संदर्भ में PACS की संरचना, विस्तार एवं कार्यप्रणाली, उनकी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में भूमिका तथा ऋण के साथ उपलब्ध अन्य कृषि-आर्थिक सेवाओं की उपयोगिता का समग्र अध्ययन अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। इसी प्रकार PACS की प्रमुख समस्याओं तथा उनकी कार्यक्षमता में सुधार के उपायों को बिहार के संदर्भ में एक साथ लेकर अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में बिहार को अध्ययन क्षेत्र मानते हुए PACS के ऐतिहासिक विकास एवं वर्तमान स्वरूप, भारत एवं बिहार में उनकी संरचना एवं कार्यप्रणाली, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका, ऋण एवं अन्य कृषि-आर्थिक सेवाओं की उपयोगिता तथा प्रमुख समस्याओं का अध्ययन किया जाएगा।

अध्ययन के उद्देश्य

1. प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विकास एवं वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट करना।
2. भारत एवं बिहार में PACS की संरचना, विस्तार एवं कार्यप्रणाली का विवेचन करना।
3. बिहार में PACS की स्थिति एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका का मूल्यांकन करना।
4. PACS द्वारा प्रदान की जाने वाली ऋण एवं अन्य कृषि-आर्थिक सेवाओं की उपयोगिता को रेखांकित करना।
5. PACS की प्रमुख समस्याओं का विश्लेषण करते हुए उनकी कार्यक्षमता में सुधार के लिए उपयुक्त सुझाव प्रस्तुत करना।

परिकल्पनाएँ

1. PACS के विकास के साथ उसके स्वरूप एवं कार्यक्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है।
2. भारत एवं बिहार में PACS की संरचना, विस्तार एवं कार्यप्रणाली में महत्वपूर्ण अंतर पाया जाता है।
3. बिहार में PACS की गतिविधियों का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव है।
4. PACS द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली ऋण एवं कृषि-आर्थिक सेवाएँ लाभार्थियों के लिए उपयोगी हैं।
5. PACS की प्रमुख समस्याएँ उसकी कार्यक्षमता को प्रभावित करती हैं तथा इनके समाधान से PACS की कार्यक्षमता में सुधार संभव है।

शोध-विधि

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध-विधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन के लिए द्वितीयक आँकड़ों को आधार बनाया गया है। इसके अंतर्गत सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार की *वार्षिक रिपोर्ट 2024–25*, प्राथमिक सहकारी समितियों के आर्थिक सुदृढ़ीकरण संबंधी दस्तावेज, Directorate of Census Operations, Bihar, 2011, PACS की मॉडल उपविधियाँ तथा सामान्य सेवा केंद्र सेवाओं से संबंधित सरकारी दस्तावेजों का उपयोग किया गया है। इन स्रोतों के माध्यम से भारत एवं बिहार में PACS के विकास, संरचना, विस्तार, कार्यप्रणाली, ऋण व्यवस्था, कृषि-आर्थिक

सेवाओं, कम्प्यूटरीकरण एवं बहुउद्देशीय गतिविधियों का अध्ययन किया गया तथा उपलब्ध आँकड़ों एवं तथ्यों के आधार पर विश्लेषण, व्याख्या एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, विकास एवं वर्तमान स्वरूप:

भारत में प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) का विकास सहकारी साख व्यवस्था के विस्तार से जुड़ा है। 25 मार्च 1904 को सहकारी ऋण समितियाँ अधिनियम, 1904 लागू होने से भारत में औपचारिक सहकारी साख व्यवस्था को कानूनी आधार मिला। वर्ष 1911 तक 5,300 सहकारी समितियाँ स्थापित हो चुकी थीं तथा उनकी सदस्य संख्या तीन लाख से अधिक हो गई थी। इसके बाद सहकारी समितियाँ अधिनियम, 1912 लागू हुआ। वर्ष 1914 में एडवर्ड मैकलेगन समिति ने त्रिस्तरीय सहकारी संरचना की सिफारिश की, जिसमें प्राथमिक सहकारी समितियों को आधार स्तर, केंद्रीय सहकारी बैंकों को मध्य स्तर तथा प्रांतीय सहकारी बैंकों को शीर्ष स्तर पर रखने का सुझाव दिया गया। इस व्यवस्था ने भारत में सहकारी साख संस्थाओं के विकास को संगठित आधार प्रदान किया है। समय के साथ PACS के कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ और वर्तमान में इन्हें केवल कृषि ऋण प्रदान करने वाली संस्था के बजाय बहुउद्देशीय ग्रामीण संस्था के रूप में विकसित किया जा रहा है। सहकारिता मंत्रालय की *वार्षिक रिपोर्ट 2024–25* के अनुसार देश में एक लाख से अधिक PACS हैं तथा लगभग 13 करोड़ छोटे एवं सीमांत किसान इनसे जुड़े हैं। कम्प्यूटरीकरण परियोजना में 79,630 PACS को शामिल किया गया है। मॉडल उपविधियों के माध्यम से PACS को 25 से अधिक आर्थिक गतिविधियों, जैसे डेयरी, मत्स्य पालन, भंडारण, उर्वरक एवं बीज वितरण, कृषि यंत्र किराया केंद्र तथा उचित मूल्य दुकान आदि से जोड़ने का प्रावधान किया गया है। इससे PACS के वर्तमान बहुउद्देशीय स्वरूप का पता चलता है (सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2025)। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि PACS का विकास भारत में सहकारी साख व्यवस्था के क्रमिक विस्तार के साथ हुआ है। समय के साथ इनका स्वरूप केवल कृषि ऋण तक सीमित न रहकर बहुउद्देशीय ग्रामीण संस्था के रूप में विकसित हुआ है। वर्तमान में इनके कार्यक्षेत्र के विस्तार और आधुनिकीकरण से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इनकी उपयोगिता और अधिक बढ़ी है।

भारत एवं बिहार में PACS की संरचना, विस्तार एवं कार्यप्रणाली

भारत में प्राथमिक कृषि साख समितियाँ (PACS) ग्रामीण सहकारी साख व्यवस्था की आधारभूत इकाई के रूप में कार्य करती हैं। सहकारी साख व्यवस्था में PACS का संबंध जिला स्तर के जिला केंद्रीय सहकारी बैंकों (DCCBs) तथा राज्य स्तर के राज्य सहकारी बैंकों (StCBs) से जुड़ा हुआ है। *वार्षिक रिपोर्ट 2024–25* के अनुसार 31 मार्च 2025 तक देश में 1,08,375 PACS/FSS/LAMPS दर्ज थीं और इनके सदस्यों की संख्या 13,93,66,734 थी। इतनी बड़ी संख्या में समितियों और सदस्यों की उपस्थिति ग्रामीण क्षेत्रों में PACS के व्यापक विस्तार को दर्शाती है। वर्तमान समय में इनके कार्यों को अधिक व्यवस्थित एवं पारदर्शी बनाने के लिए कम्प्यूटरीकरण पर विशेष जोर दिया जा रहा है। कम्प्यूटरीकरण परियोजना के अंतर्गत 79,630 PACS को शामिल किया गया है तथा ईआरपी व्यवस्था के माध्यम से सदस्यता, ऋण, जमा, लेखा-परीक्षण, खरीद, भंडारण एवं अन्य कार्यों को डिजिटल रूप से संचालित करने की व्यवस्था विकसित की जा रही है (सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2025)। बिहार में PACS का विस्तार भी ग्रामीण सहकारी साख व्यवस्था के महत्वपूर्ण आधार के रूप में दिखाई देता है। सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार के अनुसार 31 मार्च 2022 तक बिहार में 3,779 कार्यशील PACS थीं, जबकि इसी अवधि में देश में कार्यशील PACS की कुल संख्या 67,251 थी। यहाँ कार्यशील PACS से आशय उन समितियों से है जिनका 31 मार्च 2022 तक लेखापरीक्षण किया जा चुका था। राष्ट्रीय स्तर की तुलना में बिहार में कार्यशील PACS की यह संख्या राज्य में ग्रामीण क्षेत्रों तक सहकारी साख व्यवस्था की पहुँच को दर्शाती है। इस प्रकार बिहार में PACS ग्रामीण स्तर पर सहकारी साख व्यवस्था की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करती हैं (सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2023)। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में PACS का व्यापक विस्तार है और ये ग्रामीण सहकारी साख व्यवस्था की महत्वपूर्ण आधारभूत कड़ी के रूप में कार्य करती हैं। बिहार में भी कार्यशील PACS की पर्याप्त संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख व्यवस्था की पहुँच को दर्शाती है। साथ ही, कम्प्यूटरीकरण के माध्यम से इनकी कार्यप्रणाली को अधिक व्यवस्थित और आधुनिक बनाया जा रहा है।

बिहार में PACS की स्थिति एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका का मूल्यांकन

बिहार में प्राथमिक कृषि साख समितियाँ (PACS) ग्रामीण सहकारी साख व्यवस्था की महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। सहकारिता मंत्रालय के अनुसार 31 मार्च 2022 तक बिहार में 3,779 कार्यशील PACS थीं। कार्यशील PACS से आशय

उन समितियों से है जिनका 31 मार्च 2022 तक लेखापरीक्षण किया जा चुका था (सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2023)। ये समितियाँ किसानों की अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋण तथा कृषि-आदान संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य करती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इनकी पहुँच अधिक होने के कारण इन्हें सरकारी योजनाओं एवं सेवाओं को किसानों तक पहुँचाने के माध्यम के रूप में भी विकसित किया जा रहा है। PACS की कार्यप्रणाली को सरल, व्यवस्थित और आधुनिक बनाने के लिए कम्प्यूटरीकरण की व्यवस्था की गई है। इसके अंतर्गत PACS को ईआरपी आधारित राष्ट्रीय सॉफ्टवेयर से जोड़ा जा रहा है, जिससे सदस्यता, ऋण, जमा, लेखा-परीक्षण, खरीद और भंडारण जैसे कार्यों को डिजिटल रूप से संचालित करने में सहायता मिलेगी। इसके साथ ही PACS को सामान्य सेवा केंद्र (CSC) के रूप में विकसित किया जा रहा है। इनके माध्यम से बैंकिंग, बीमा, आधार, स्वास्थ्य तथा कृषि-आदान आदि सहित 300 से अधिक ई-सेवाएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है और 31 मार्च 2025 तक 44,116 PACS CSC सेवाएँ प्रदान कर रही थीं (सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2025)। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बिहार में PACS किसानों की ऋण एवं कृषि संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ नई तकनीक और विभिन्न सेवाओं से भी जुड़ रही हैं। साथ ही PACS की भूमिका अब केवल ऋण देने तक सीमित नहीं है, बल्कि इनके कार्यक्षेत्र में कृषि-आदान, डिजिटल सेवाओं तथा ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों को भी शामिल किया जा रहा है।

PACS द्वारा प्रदान की जाने वाली ऋण एवं अन्य कृषि-आर्थिक सेवाओं की उपयोगिता :

PACS किसानों की अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ उर्वरक, बीज, कीटनाशक तथा भंडारण जैसी कृषि संबंधी सुविधाएँ उपलब्ध कराने का कार्य करती हैं। इनके कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाने के लिए मॉडल उपविधियों के अंतर्गत PACS को 25 से अधिक आर्थिक गतिविधियाँ संचालित करने की अनुमति दी गई है। इनमें डेयरी, मत्स्य पालन, गोदाम, खाद्यान्न खरीद, उर्वरक एवं बीज, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण, कृषि यंत्र किराया केंद्र, उचित मूल्य दुकान, सामुदायिक सिंचाई, व्यावसायिक प्रतिनिधि तथा सामान्य सेवा केंद्र जैसी गतिविधियाँ शामिल हैं। PACS को बहुउद्देशीय संस्था के रूप में विकसित करने के अंतर्गत कृषि यंत्र किराया केंद्र के माध्यम से किसानों को कृषि मशीनरी, ट्रैक्टर, टिलर आदि उपलब्ध कराने की व्यवस्था भी की गई है। इसके साथ ही PACS के कम्प्यूटरीकरण के माध्यम से सदस्यता, जमा, ऋण, खरीद, भंडारण एवं लेखा-परीक्षण जैसी गतिविधियों को डिजिटल व्यवस्था से जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है, जिससे इनके कार्यों को अधिक व्यवस्थित एवं पारदर्शी बनाने में सहायता मिलती है (सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, 2025) । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि PACS किसानों को केवल ऋण उपलब्ध कराने तक सीमित नहीं हैं, बल्कि कृषि की आवश्यक वस्तुओं, मशीनरी, भंडारण तथा विभिन्न आर्थिक सेवाओं को उपलब्ध कराने वाली बहुउद्देशीय संस्थाओं के रूप में कार्य कर रही हैं।

विश्लेषण

बिहार में PACS की उपयोगिता को केवल ऋण उपलब्ध कराने के आधार पर नहीं समझा जा सकता हैं, क्योंकि इनके कार्यक्षेत्र को धीरे-धीरे विभिन्न कृषि एवं ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों से जोड़ा जा रहा है। PACS किसानों की ऋण आवश्यकताओं के साथ कृषि-आदान, भंडारण, डेयरी, मत्स्य पालन, खाद्यान्न संबंधी कार्य तथा कृषि यंत्र जैसी सुविधाओं से जुड़ रही हैं। 25 से अधिक आर्थिक गतिविधियों को PACS के माध्यम से संचालित करने की अनुमति दिया जाना इनके बदलते स्वरूप को दर्शाता है। विशेष रूप से कृषि यंत्र किराया केंद्र के माध्यम से कृषि मशीनरी, ट्रैक्टर और टिलर जैसी सुविधाएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था किसानों के लिए कृषि कार्यों में मशीनरी की पहुँच को आसान बनाने की दिशा को ओर इंकित करता है। इस प्रकार PACS की सेवाएँ कृषि उत्पादन से जुड़ी अनेक आवश्यकताओं को स्थानीय स्तर पर पूरा करने की ओर बढ़ रही हैं। PACS के विस्तार का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष इनके कम्प्यूटरीकरण और डिजिटल सेवाओं से जुड़ना है। उपयुक्त आँकड़ों के अनुसार 79,630 कार्यशील PACS को राष्ट्रीय ईआरपी आधारित सॉफ्टवेयर से जोड़ने की प्रक्रिया अपनाई गई है। इससे सदस्यता, ऋण, जमा, खरीद, भंडारण और लेखा-परीक्षण जैसे कार्यों को डिजिटल व्यवस्था से संचालित करने का प्रयास किया जा रहा है। इसी प्रकार PACS को सामान्य सेवा केंद्र के रूप में विकसित करके ग्रामीण नागरिकों को 300 से अधिक ई-सेवाएँ उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है। PACS स्तर पर विकेंद्रीकृत गोदामों के निर्माण की पहल भी इनके कृषि-आर्थिक कार्यक्षेत्र को विस्तृत करती है। इन व्यवस्थाओं से यह संकेत मिलता है कि PACS को ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय सेवाओं के साथ-साथ कृषि, भंडारण और डिजिटल सेवाओं के स्थानीय केंद्र के रूप में विकसित किया जा रहा है।

इससे स्पस्ट होता है कि PACS का स्वरूप ऋण-केंद्रित संस्था से बहुउद्देशीय ग्रामीण आर्थिक संस्था की ओर बढ़ रहा है। जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों और अन्य नागरिकों को आवश्यक सुविधाएँ स्थानीय स्तर पर उपलब्ध हुआ है। अतः बिहार में PACS की उपयोगिता को ऋण वितरण के साथ-साथ कृषि-आदान, कृषि यंत्र, भंडारण, डिजिटल सेवाओं और अन्य आर्थिक गतिविधियों के संयुक्त रूप में देखा जाना अधिक उपयुक्त है।

निष्कर्ष

बिहार में प्राथमिक कृषि साख समितियों (PACS) का स्वरूप और कार्यक्षेत्र समय के साथ व्यापक हुआ है। इनकी भूमिका अब केवल किसानों को ऋण उपलब्ध कराने तक सीमित नहीं है, बल्कि कृषि-आदान, भंडारण, कृषि यंत्र, डेयरी, मत्स्य पालन तथा डिजिटल सेवाओं जैसी गतिविधियों से भी जुड़ रही है। PACS को 25 से अधिक आर्थिक गतिविधियों से जोड़ने की व्यवस्था, 79,630 कार्यशील PACS के कम्प्यूटरीकरण तथा 300 से अधिक ई-सेवाओं से जुड़ने की पहल इनके बहुउद्देशीय स्वरूप को स्पष्ट करती है। कृषि यंत्र किराया केंद्र तथा भंडारण जैसी सुविधाएँ किसानों की कृषि संबंधी आवश्यकताओं को स्थानीय स्तर पर पूरा करने में उपयोगी हो सकती हैं। अतः बिहार में PACS को केवल ऋण प्रदान करने वाली संस्था के रूप में नहीं, बल्कि किसानों की विभिन्न कृषि एवं आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने वाली बहुउद्देशीय ग्रामीण संस्था के रूप में देखना अधिक उपयुक्त है। इनके कार्यक्षेत्र का यह विस्तार ग्रामीण अर्थव्यवस्था में PACS की उपयोगिता को और अधिक महत्वपूर्ण बनाता है।

सुझाव

1. PACS द्वारा उपलब्ध कराए जाने वाले ऋण को किसानों की कृषि संबंधी आवश्यकताओं के अनुरूप सरल और समय पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था को मजबूत किया जाना चाहिए। ऋण सुविधा के साथ किसानों को आवश्यक कृषि सेवाओं से भी जोड़ा जाना चाहिए, ताकि इसका लाभ अधिक प्रभावी रूप से प्राप्त हो सके।
2. PACS के माध्यम से बीज, उर्वरक तथा अन्य आवश्यक कृषि-आदानों की उपलब्धता को मजबूत किया जाना चाहिए। इससे किसानों को कृषि कार्य के समय आवश्यक सामग्री स्थानीय स्तर पर प्राप्त करने में सुविधा होगी।
3. PACS के अंतर्गत कृषि यंत्र किराया केंद्रों की व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए, ताकि किसानों को ट्रैक्टर, टिलर तथा अन्य कृषि मशीनरी आवश्यकता के अनुसार किराये पर उपलब्ध हो सके और उन्हें महँगी कृषि मशीनरी खरीदने की आवश्यकता कम पड़े।
4. PACS स्तर पर गोदाम एवं भंडारण सुविधाओं के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इससे किसानों को अपनी कृषि उपज को स्थानीय स्तर पर सुरक्षित रखने की सुविधा मिलेगी और PACS की कृषि-आर्थिक भूमिका भी अधिक मजबूत होगी।
5. PACS के कम्प्यूटरीकरण के साथ कर्मचारियों को आवश्यक तकनीकी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। सदस्यता, ऋण, जमा, खरीद, भंडारण और लेखा-परीक्षण जैसे कार्यों को डिजिटल व्यवस्था से जोड़ने के लिए पर्याप्त तकनीकी क्षमता विकसित करना आवश्यक है।
6. PACS को सामान्य सेवा केंद्र के रूप में विकसित करने की व्यवस्था का प्रभावी उपयोग किया जाना चाहिए। बैंकिंग, बीमा, आधार, स्वास्थ्य तथा अन्य ई-सेवाओं को ग्रामीण नागरिकों तक पहुँचाने से PACS की उपयोगिता और अधिक व्यापक हो सकती है।
7. PACS को विभिन्न आर्थिक गतिविधियों से जोड़ते समय स्थानीय आवश्यकता और उपलब्ध संसाधनों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। जिस क्षेत्र में डेयरी, मत्स्य पालन, भंडारण, कृषि यंत्र या अन्य गतिविधियों की अधिक आवश्यकता हो, वहाँ उसी के अनुसार गतिविधियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।
8. PACS के कार्यक्षेत्र के विस्तार के साथ उनकी प्रबंधन क्षमता, मानव संसाधन और आर्थिक क्षमता को भी मजबूत किया जाना चाहिए। इससे विभिन्न ऋण एवं कृषि-आर्थिक सेवाओं का संचालन अधिक व्यवस्थित रूप से किया जा सकेगा और PACS ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अपनी बहुउद्देशीय भूमिका को अधिक प्रभावी ढंग से निभा सकेंगी।

संदर्भ :

1. Directorate of Census Operations, Bihar. (2011). *District census handbook: Saharsa, village and town wise primary census abstract (PCA)*. Census of India 2011 (pp. 15–16).

2. Khattar, V., Sidana, B. K., Kumar, S., & Priscilla, L. (2025). Institutional transformation of primary agricultural cooperative societies in Punjab. *Journal of Agricultural Development and Policy, 35*(1), 190–195. https://doi.org/10.63066/23220457.35.1.023

3. Kumar, M., & Mehta, V. P. (2018). Performance and prospects of primary agricultural credit societies (PACS) in Haryana during 2000–01 to 2014–15. *International Journal of Current Microbiology and Applied Sciences, 7*(4), 20–32. https://doi.org/10.20546/ijcmas.2018.704.003

4. Mazumder, R., Chakravarty, C., & Bhandari, A. K. (2014). *Recovery performance of primary agriculture credit societies in India: An assessment* (IZA Discussion Paper No. 8294). Institute for the Study of Labor.

5. Mohana, R., & Karunahara, K. (2020). A study of trends in comparative performance of primary agricultural cooperative credit societies (PACCS) in India and Tamil Nadu since 2007–08 to 2016–17. *International Journal of Management, 11*(11).

6. Panda, D. K., Bhattacharjee, K., Chatterjee, D., & Basu, S. (2023). Survival and sustenance strategy of primary agricultural cooperative credit societies in India: A fuzzy interpretive structural modelling approach. *International Journal of Social Economics, 50*(6), 821–838. https://doi.org/10.1108/IJSE-05-2022-0331

7. Shailaja, N. R., & Hebbar, C. K. (2018). Role of primary agricultural cooperative societies in rural financing. *International Journal of Management IT and Engineering, 8*(12), 244–252.

8. Shinde, P. K. (2013). Growth & performance of primary agricultural cooperative credit societies in India. *Investment Management and Financial Innovations*.

9. Singh, H., Singh, R., Kaur, L., Barwal, P., & Thakur, S. (2026). Performance of primary agricultural credit societies in Punjab, India. *Asian Journal of Agricultural Extension, Economics & Sociology, 44*(6), 20–29. https://doi.org/10.9734/ajaees/2026/v44i62949

10. सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार. (2023), पृ. 2

11. सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार. (2025). *वार्षिक रिपोर्ट (2024–25)* , पृ. 18–19, 26, 42–45

12. सहकारिता मंत्रालय, भारत सरकार. (n.d.), पृ. 3

Received: 06.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

इक्कीसवीं सदी में भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का योगदान

(Contribution of the Rashtriya Swayamsevak Sangh to the Cultural Resurgence of India in the Twenty-First Century)

प्रकाश कुमार*
djssbhinmal@gmail.com

डॉ. अखिलेश कुमार सिंह†
drakhileshmu@gmail.com

सारांश

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) भारत का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन है। इसकी स्थापना वर्ष 1925 में डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने की थी। इस संगठन ने प्रारंभ से ही भारतीय समाज में संगठन, अनुशासन, समरसता, सेवा और सांस्कृतिक चेतना को बढ़ावा देने पर बल दिया। इक्कीसवीं सदी में भारतीय समाज और राजनीति में त्वरित गति से हो रहे परिवर्तनों के बीच राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की गतिविधियों, सेवा कार्य और प्रभाव का क्षेत्र भी व्यापक हुआ है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, भारतीय परंपराओं, सामाजिक संगठन, शिक्षा, युवा गतिविधियों तथा राष्ट्रीय चेतना के माध्यम से संघ ने भारतीय सार्वजनिक जीवन में अपनी एक विशिष्ट उपस्थिति दर्ज करायी है।

प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य इक्कीसवीं सदी में भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका का वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। अध्ययन में संघ की वैचारिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक दृष्टिकोण, सामाजिक सेवा, शिक्षा एवं संगठनात्मक गतिविधियों तथा भारतीय समाज पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया गया है। साथ ही, संघ की भूमिका से जुड़े सकारात्मक और आलोचनात्मक दोनों दृष्टिकोणों को समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों यथा; पुस्तकों, शोध आलेखों तथा उपलब्ध दस्तावेजों पर आधारित है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इक्कीसवीं सदी में संघ ने सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक संगठन और सेवा गतिविधियों के माध्यम से भारतीय सार्वजनिक जीवन में अपनी उपस्थिति को व्यापक बनाया है। हालांकि, उसके सांस्कृतिक दृष्टिकोण को लेकर समाज और अकादमिक जगत में विभिन्न मत भी मौजूद हैं।

मुख्य शब्द:

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, भारतीय संस्कृति, सामाजिक सेवा, राष्ट्रीय चेतना।

प्रस्तावना

भारत एक ऐसा देश है जहाँ भाषा, धर्म, परंपरा, जीवनशैली और सामाजिक रीतियों एवं सरोकारों की एक अद्भुत विविधता देखने को मिलती है। हर क्षेत्र की अपनी एक खास सांस्कृतिक पहचान है, लेकिन फिर भी भारतीय समाज में एक साझी सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक जुड़ाव के कई तत्त्व मौजूद हैं। भारतीय संस्कृति का स्वरूप लंबे समय के ऐतिहासिक विकास,

* **शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय**
माधव विश्वविद्यालय, पिंडवाड़ा, सिरोही, राजस्थान – 307026, भारत

† **एसोसिएट प्रोफेसर (सह-प्राध्यापक), राजनीति विज्ञान विभाग, मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान संकाय**
माधव विश्वविद्यालय, पिंडवाड़ा, सिरोही, राजस्थान – 307026, भारत

विभिन्न परंपराओं, विचारों और सामाजिक अनुभवों के बीच आपसी संपर्क और समझ से बना है। इसलिए इसे किसी एक धार्मिक, भाषाई या क्षेत्रीय परंपरा में सीमित नहीं किया जा सकता। आधुनिक भारत में संस्कृति पर जो बहस हो रही है, वो केवल परंपरा और आधुनिकता के रिश्ते तक ही सीमित नहीं है; ये राष्ट्रीय पहचान, सामाजिक एकता, सामुदायिक जीवन और राजनीतिक विचारधारा से भी जुड़ी हुई है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की स्थापना विजयादशमी के दिन 27 सितंबर 1925 में डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने की थी। संघ का मुख्य उद्देश्य एक संगठित और अनुशासित समाज के निर्माण के जरिए राष्ट्र को पुनर्निर्माण की दिशा में ले जाना था। संघ की कार्यशैली में शाखा को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया, जिसके जरिए स्वयंसेवकों में अनुशासन, संगठन, सामाजिक संपर्क और राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना को विकसित करने का प्रयास किया गया। समय के साथ संघ ने अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ाया और विभिन्न सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक तथा सेवा संगठनों के माध्यम से वृहद् स्तर पर सामाजिक क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। संघ की दक्षिणपंथी विचारधारा में भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक संगठन और राष्ट्र के प्रति समर्पण को काफी महत्व दिया गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक दृष्टि को समझने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का विचार भी महत्वपूर्ण है। संघ भारतीय राष्ट्र की पहचान को उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपराओं से जोड़कर देखता है। इस नजरिए में भारतीय सभ्यता की निरंतरता, सामाजिक एकता, और सांस्कृतिक चेतना पर खास जोर दिया जाता है। संघ के विचारों पर विनायक दामोदर सावरकर और एम. एस. गोलवलकर जैसे विचारकों का भी प्रभाव पड़ा है। हिंदुत्व और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से जुड़े इन विचारों ने भारतीय राजनीति और समाज में लंबे समय से वैचारिक बहस को प्रभावित किया है (Jaffrelot, 2007)। इक्कीसवीं सदी में, भारत में सामाजिक और आर्थिक बदलाव, वैश्वीकरण, शहरीकरण, तकनीकी विकास और संचार माध्यमों का विस्तार, सामाजिक जीवन को तेजी से बदल रहा है। इंटरनेट और सोशल मीडिया के उभार ने विचारों के प्रसार और सांस्कृतिक संवाद के नए रास्ते खोले हैं। एक ओर तो आधुनिकता और वैश्वीकरण के कारण जीवन जीने के तरीके में बदलाव आ रहा है, दूसरी ओर भारतीय समाज के एक हिस्से में अपनी सांस्कृतिक जड़ों, परंपराओं, भाषाओं, धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीकों और ऐतिहासिक विरासत के प्रति रुचि भी बढ़ी है। ऐसे में, सांस्कृतिक पहचान और उसके संरक्षण का विषय और भी महत्वपूर्ण हो गया है।

इस संदर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका का विश्लेषण करना काफी महत्वपूर्ण है। इक्कीसवीं सदी में संघ की गतिविधियाँ सिर्फ शाखा और संगठन के निर्माण तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि ये शिक्षा, सामाजिक सेवा, ग्रामीण विकास, युवा कार्यक्रमों, सांस्कृतिक आयोजनों और विभिन्न सामाजिक अभियानों में भी फैली हुई हैं। Andersen और Damle द्वारा किए गए अध्ययन में भी आरएसएस और उससे जुड़े संगठनों के राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में विस्तार तथा उनके व्यापक प्रभाव का परीक्षण किया गया है (Andersen & Damle, 2019)।

इसलिए, इक्कीसवीं सदी में भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदर्भ में आरएसएस की भूमिका को सिर्फ उसके राजनीतिक प्रभाव के आधार पर समझना काफी नहीं होगा। हमें उसके सामाजिक कार्यों, सांस्कृतिक गतिविधियों, शिक्षा, संगठनात्मक विस्तार और राष्ट्रीय चेतना के प्रयासों को भी ध्यान में रखना होगा। इसके साथ ही यह भी देखना होगा कि संघ की सांस्कृतिक गतिविधियों ने भारतीय समाज की विविधता, सामाजिक एकता और सार्वजनिक जीवन पर किस प्रकार का प्रभाव डाला है? इसी दृष्टिकोण से, यह शोध लेख राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक भूमिका का वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

अध्ययन का उद्देश्य एवं पद्धति

इस लेख का मुख्य मकसद इक्कीसवीं सदी में भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका को समझना है। इसमें संघ के सांस्कृतिक नजरिए, सामाजिक गतिविधियों, सेवा कार्यों, शिक्षा और युवा कार्यक्रमों के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में उसकी भूमिका का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन मुख्यतः वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक रूप में किया गया है, जिसमें किताबों, शोध लेखों और सार्वजनिक स्रोतों का इस्तेमाल किया गया है। शोध प्रस्ताव में संघ के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक विधियों के साथ-साथ प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों के उपयोग पर जोर दिया गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की वैचारिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा को बेहतर ढंग से समझने के लिए उसके सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा पर ध्यान देना जरूरी है। संघ के नज़रिए में, राष्ट्र केवल एक राजनीतिक सीमा का नाम नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा समुदाय है, जो साझा ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना से निर्मित होता है। संघ की सोच में भारतीय सभ्यता की निरंतरता और सांस्कृतिक एकता पर खास ध्यान दिया जाता है। हिंदुत्व की अवधारणा इस व्यापक विचारधारा का एक अहम हिस्सा रही है। विनायक दामोदर सावरकर ने *Hindutva: Who is a Hindu?* में हिंदुत्व को भारतीय सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचान से जोड़ने की कोशिश की। इसके बाद, एम. एस. गोलवलकर समेत संघ के कई प्रमुख विचारकों ने राष्ट्र, संस्कृति और समाज के आपसी रिश्तों पर अपने विचार साझा किए। इन विचारों का अध्ययन हिंदू राष्ट्रवाद के विकास को समझने में बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है (Jaffrelot, 2007)।

तथापि आरएसएस की सांस्कृतिक भूमिका को सिर्फ राजनीतिक विचारधारा के हिसाब से नहीं समझा जा सकता। संघ की शाखाओं की व्यवस्था, स्वयंसेवक प्रशिक्षण, सामाजिक सेवा और संगठनात्मक गतिविधियाँ भी इसके काम का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। Andersen और Damle ने संघ के संगठनात्मक विस्तार और उसके विभिन्न संबद्ध संगठनों के द्वारा शिक्षा, सामाजिक कार्य और सार्वजनिक जीवन में बढ़ती भागीदारी पर गौर किया है (Andersen & Damle, 2019)।

सांस्कृतिक चेतना और भारतीय परंपराओं का संरक्षण

इक्कीसवीं सदी में भारतीय संस्कृति का संरक्षण और उसके पुनर्पाठ का सवाल काफी महत्वपूर्ण हो गया है। वैश्वीकरण और आधुनिक संचार माध्यमों ने दुनियाभर के समाजों को एक-दूसरे के और करीब ला दिया है। इस दौरान, स्थानीय भाषाओं, परंपराओं और सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने की चुनौतियाँ भी दिखाई देने लगी हैं। आरएसएस भारतीय परंपराओं, त्यौहारों, भारतीय जीवन-मूल्यों, योग, संस्कृत और स्थानीय सांस्कृतिक परंपराओं को सामाजिक जीवन में समाहित करने पर जोर देता है। संघ से जुड़े विभिन्न संगठनों के माध्यम से शिक्षा, संस्कृति, ग्रामीण समाज और सामाजिक सेवा के क्षेत्रों में गतिविधियाँ संचालित की जाती हैं। इस तरह, सांस्कृतिक पुनरुत्थान को अतीत की वापसी के रूप में नहीं, बल्कि वर्तमान सामाजिक जीवन से जोड़कर देखा जाता है।

इस संदर्भ में आरएसएस की एक अहम भूमिका यह है कि उसने सांस्कृतिक विषयों को संगठनात्मक गतिविधियों में समाहित किया। शाखाओं में शारीरिक प्रशिक्षण, सामूहिक गतिविधियाँ, प्रार्थना और सामाजिक संपर्क के माध्यम से स्वयंसेवकों में अनुशासन और सामूहिक पहचान विकसित करने का प्रयास किया जाता है। कुछ अकादमिक अध्ययनों में आरएसएस के प्रशिक्षण और शारीरिक संस्कृति को राष्ट्र और सांस्कृतिक पहचान की भावना विकसित करने का माध्यम माना गया है (McDonald, 1999)।

सामाजिक सेवा और सांस्कृतिक पुनरुत्थान

भारतीय संस्कृति की एक खासियत रही है सेवा और सामाजिक उत्तरदायित्व की परंपरा। आरएसएस और उससे जुड़े संगठनों ने समय के साथ सेवा कार्यों को अपने कार्यों का एक अहम हिस्सा बना लिया है। प्राकृतिक आपदाओं, स्वास्थ्य, शिक्षा, ग्रामीण विकास और जरूरतमंद समुदायों की सहायता के क्षेत्रों में कई सेवा गतिविधियाँ चलाई गई हैं। आधुनिक अकादमिक अध्ययन भी आरएसएस के सेवा कार्यों को इसके व्यापक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जोड़कर देखते हैं। Beckerlegge के अध्ययन के अनुसार, आरएसएस जैसी संस्थाओं में *seva* यानी मानव सेवा का विचार बहुत अहम है और सेवा गतिविधियों को सांस्कृतिक और सामाजिक उद्देश्यों से जोड़ने पर जोर दिया जाता है (Beckerlegge, 2023)।

सामाजिक सेवा का ये पहलू सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदर्भ में इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि संस्कृति केवल धार्मिक या ऐतिहासिक प्रतीकों तक सीमित नहीं होती। सामाजिक व्यवहार, सेवा, सहयोग, अनुशासन और सामुदायिक उत्तरदायित्व भी संस्कृति के महत्वपूर्ण हिस्से हैं। इस नजरिए से संघ की सेवा गतिविधियाँ उसके सांस्कृतिक दृष्टिकोण को सामाजिक व्यवहार में व्यक्त करने का जरिया बनती हैं।

शिक्षा, युवा और सामाजिक संगठन

किसी भी समाज में सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण और प्रसार में शिक्षा की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण होती है। आरएसएस से जुड़े संगठनों ने शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालयों, छात्र संगठनों और विभिन्न शैक्षणिक गतिविधियों के माध्यम से अपनी उपस्थिति बनाई है। संघ के अनुसार शिक्षा का मकसद सिर्फ नौकरी पाना नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण और सामाजिक जिम्मेदारी का भाव विकसित करना भी है। युवा वर्ग के संदर्भ में संघ की गतिविधियाँ महत्वपूर्ण हैं। युवा किसी भी समाज का भविष्य होते हैं। शाखाओं और विभिन्न संगठनों के माध्यम से युवाओं को सामाजिक गतिविधियों, अनुशासन, शारीरिक प्रशिक्षण और राष्ट्रीय मुद्दों से जोड़ने का प्रयास किया जाता है। इस प्रक्रिया से संघ अपने सांस्कृतिक विचारों को नई पीढ़ी तक पहुँचाने की कोशिश करता है।

हालाँकि, शिक्षा और सांस्कृतिक गतिविधियों में संघ की भूमिका पर अलग-अलग राय हैं। समर्थक इसे भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय मूल्यों को मजबूत करने का साधन मानते हैं, वहीं आलोचक इस बात को लेकर चिंतित हैं कि इससे एक खास सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अधिक तवज्जो मिल सकती है। इसलिए संघ की शैक्षणिक और सांस्कृतिक भूमिका का मूल्यांकन संतुलित तरीके से करना जरूरी है।

भारतीय राजनीति और सांस्कृतिक प्रभाव

आरएसएस खुद को मुख्यतः एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन के रूप में पेश करता है, लेकिन भारतीय राजनीति में इसका असर लंबे समय से चर्चा में रहा है। संघ से जुड़े कई संगठनों ने राजनीतिक, सामाजिक, श्रमिक, छात्र और धार्मिक क्षेत्रों में कार्य किया है। भारतीय जनता पार्टी के साथ संघ के संबंध को समझना भी इसी संदर्भ में महत्वपूर्ण है। Andersen और Damle के अध्ययन में आरएसएस और भाजपा के बीच के रिश्तों का तथा संघ के राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव का विस्तृत अध्ययन किया गया है। उनके अनुसार, संघ और उससे जुड़े संगठन भारतीय राजनीति और सार्वजनिक नीति पर प्रभाव डालने वाली एक व्यापक संगठनात्मक संरचना का हिस्सा हैं (Andersen & Damle, 2019)।

इक्कीसवीं सदी में भारतीय राजनीति में सांस्कृतिक पहचान, राष्ट्रवाद और भारतीय परंपराओं से जुड़े मामलों की महत्ता बढ़ गई है। ऐसे माहौल में आरएसएस के सांस्कृतिक विचारों की सार्वजनिक चर्चा भी बढ़ी है। Jaffrelot के अध्ययन में हिंदू राष्ट्रवाद और भारतीय राजनीति के संबंधों को आधुनिक भारतीय राजनीतिक बदलाव के महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में समझा गया है (Jaffrelot, 2007)। इसका ये मतलब नहीं है कि भारतीय राजनीति में होने वाला हर सांस्कृतिक परिवर्तन सीधे आरएसएस के प्रभाव का नतीजा है। भारतीय समाज में बहुत से संगठन, राजनीतिक दल, धार्मिक संस्थाएँ, सामाजिक आंदोलन और मीडिया भी सक्रिय हैं। इसीलिए आरएसएस के प्रभाव का आकलन एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ में करना जरूरी है।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान: एक विश्लेषण

इक्कीसवीं सदी में भारत में सांस्कृतिक पुनरुत्थान पर बात कई स्तरों पर हो रही है। भारतीय भाषाओं, योग, आयुर्वेद, पारंपरिक ज्ञान, धार्मिक पर्यटन, स्थानीय परंपराओं और राष्ट्रीय प्रतीकों के प्रति बढ़ती रुचि इसका एक पहलू है। आरएसएस ने इन विषयों को सामाजिक संगठन और राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संघ की खासियत उसकी दीर्घकालिक संगठनात्मक कार्यप्रणाली है। दैनिक शाखाओं, स्वयंसेवकों और विभिन्न सामाजिक संगठनों के माध्यम से सांस्कृतिक विचारों को रोजमर्रा के सामाजिक जीवन से जोड़ने का प्रयास किया जाता है। इसी वजह से संघ का प्रभाव केवल चुनावी राजनीति तक ही सीमित नहीं है। Andersen और Damle के अनुसार, आरएसएस का विस्तार राजनीति के साथ-साथ शिक्षा, व्यापार और अन्य सामाजिक क्षेत्रों तक हो गया है।

दूसरी ओर, सांस्कृतिक पुनरुत्थान की अवधारणा को लेकर सावधानी बरतना भी जरूरी है। भारत एक बहुधार्मिक, बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक समाज है। इसलिए किसी भी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मूल्यांकन भारतीय समाज की विविधता और संवैधानिक मूल्यों के संदर्भ में करना चाहिए। आरएसएस का समर्थन करने वाले इसे भारतीय सांस्कृतिक आत्मविश्वास बढ़ाने वाला प्रयास मानते हैं, जबकि आलोचक इसे बहुसंख्यक सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विस्तार मानते हैं। दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए ही इसका निष्पक्ष मूल्यांकन किया जा सकता है।

निष्कर्ष

इक्कीसवीं सदी में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अपनी उपस्थिति को बढ़ाया है। सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक संगठन, सेवा कार्य, शिक्षा, युवा गतिविधियाँ और राष्ट्रीय भावना के माध्यम से संघ ने भारतीय सार्वजनिक जीवन को प्रभावित करने की कोशिश की है। इसके सांस्कृतिक दृष्टिकोण का आधार भारतीय परंपरा, राष्ट्रीय एकता और सामाजिक संगठन पर बल देना है। संघ की भूमिका का महत्व इस बात में भी दिखाई देता है कि उसने संस्कृति को केवल धार्मिक या ऐतिहासिक विषय नहीं मानकर, सामाजिक संगठन और सेवा से जोड़ने का प्रयास किया है। उसके सेवा कार्यों और संगठनात्मक गतिविधियों ने भी उसके प्रभाव को बढ़ाने में योगदान किया है। अकादमिक अध्ययनों में भी आरएसएस की सांस्कृतिक और सेवा संबंधी गतिविधियों को उसके व्यापक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ से जोड़कर देखा गया है (Beckerlegge, 2023)।

फिर भी, भारत जैसे विविधतापूर्ण लोकतांत्रिक समाज में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का मूल्यांकन समावेशिता, सामाजिक सद्भाव और संवैधानिक मूल्यों के संदर्भ में होना चाहिए। इस दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का योगदान भारतीय संस्कृति और सामाजिक चेतना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय बना हुआ है। इक्कीसवीं सदी में इसका बढ़ता सामाजिक विस्तार ये दर्शाता है कि भारतीय राजनीति और समाज को समझने के लिए उसकी सांस्कृतिक भूमिका को गंभीरता से समझना जरूरी है।

संदर्भ-

1. Andersen, W. K., & Damle, S. D. (2018). *The RSS: A View to the Inside*. Penguin Random House India.
2. Andersen, W. K., & Damle, S. D. (2019). *Messengers of Hindu Nationalism: How the RSS Reshaped India*. Oxford University Press.
3. Beckerlegge, G. (2023). Man-making, nation-building and national reconstruction: The engaged Hinduism of the RSS and the Vivekananda Kendra. *Journal of Dharma Studies, 6*, 1–17.
4. Jaffrelot, C. (Ed.). (2007). *Hindu Nationalism: A Reader*. Princeton University Press.
5. McDonald, I. (1999). ‘Physiological patriots’?: The politics of physical culture and Hindu nationalism in India. *International Review for the Sociology of Sport, 34*(4), 413–429.
6. Savarkar, V. D. (1923). *Hindutva: Who is a Hindu?*
7. Golwalkar, M. S. (1966). *Bunch of Thoughts*. Sahitya Sindhu Prakashan.

Received: 07.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

'पीली छतरी वाली लड़की' कहानी की समाजशास्त्रीय समीक्षा

शिवम कुमार सिंह*
shivamkumarsingh12908@gmail.com

सारांश

समकालीन हिन्दी साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण कथाकारों, कवियों और विचारकों में 'उदय प्रकाश' का स्थान अद्वितीय है। इनका जन्म 1 जनवरी 1952 ई. को मध्यप्रदेश के सीतापुर गाँव में हुआ था। इन्होंने विज्ञान में स्नातक तथा हिन्दी साहित्य में स्नातकोत्तर किया। तत्पश्चात जवाहरलाल नेहरु विश्व विद्यालय में शोध छात्र भी रहे।

उदय प्रकाश ने हिन्दी कहानी को नया मुहावरा, नई भाषा और समकालीन यथार्थ की नई दृष्टि दी। इनकी रचनाओं में 'सामाजिक अन्याय', 'जातिगत भेदभाव', 'पूँजीवाद' 'भ्रष्ट व्यवस्था', 'बेरोजगारी' और 'मनुष्य की अस्मिता जैसे प्रश्न मुख्य रूप से उपस्थित होते हैं। इनकी कहानियाँ 'यथार्थ', 'व्यंग्य' और 'प्रतीकात्मकता' को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करती है। आपकी प्रमुख कृतियाँ, 'पीली छतरी वाली लड़की' 'तिरिछ' 'वॉरेन हेस्टिंग्स का सांड' 'मोहनदास', 'पॉल गोमरा का स्कूटर' आदि हैं। आपको 'साहित्य अकादेमी पुरस्कार', 'भरत भूषण अग्रवाल पुरस्कार', 'मुक्ति बोध सम्मान', 'श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार' आदि से सम्मानित किया गया है।

बीज शब्द

पीली छतरी वाली लड़की, उदय प्रकाश, समाजशास्त्रीय दृष्टि, समकालीन यथार्थ, वैश्वीकरण, वर्गीय असमानता, जातिगत भेदभाव, स्त्री-विमर्श, उपभोक्तावाद, विश्वविद्यालयी व्यवस्था, सत्ता-संरचना, संस्थागत भ्रष्टाचार।

समाजशास्त्र की भूमिका

'साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि' की भूमिका में 'मैनेजर पाण्डेय' लिखते है कि "हिन्दी में साहित्य के समाजशास्त्र की चर्चा लगभग बीसवीं सदी के अस्सी के दशक में शुरू हो गई थी। उसी दशक के साहित्य में समाजशास्त्र से संबंधित कुछ किताबें भी छपीं। तत्पश्चात् कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में साहित्य के समाजशास्त्र का प्रवेश हुआ और शोध में साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रयोग भी आरंभ हुआ।"[1] साहित्य के समाजशास्त्र के विषय में 'मैनेजर पाण्डेय', अपनी किताब 'साहित्य और समाजशात्रीय दृष्टि' में कहते हैं कि "समाजशास्त्र आधुनिक पश्चिमी चिंतन की देन है और साहित्य का समाजशास्त्र तो और भी बाद की साहित्य विद्या है। वह पश्चिम में भी अभी विकासशील अवस्था में है।"[2] अतः हम कह सकते हैं कि धीरे-धीरे हिन्दी साहित्य में समाजशास्त्रीय अनुशीलन की अनेक दृष्टियों का विकास हुआ। यह विकास एक ओर समाजशास्त्र और दूसरी ओर साहित्यालोचन में विभिन्न दृष्टियों के विकास से प्रभावित हुआ। 'मैनेजर पाण्डेय' के अनुसार,आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के क्षेत्र में तीन दृष्टियाँ सक्रिय हैं जिनका लक्ष्य है- "साहित्य में समाज की खोज , समाज में साहित्य की सता और साहित्यकार की स्थिति का विवेचन तथा साहित्य और पाठक के संबंध का शिलेषण।"[3] हम देखते हैं कि साहित्य के समाजशास्त्र की दो मुख्य धाराएँ हैं, मीमांसापरक और अनुभववादी। एक में साहित्य के सामाजिक महत्व के अर्थ का विश्लेषण होता है और दूसरी धारा में साहित्य के समाजिक अस्तित्व का। इसी संदर्भ में फ्रांस के 'रोबेर एस्कार्पी' ने यह धारणा रखी कि -"साहित्य को समझने के लिए साहित्यिक तथ्य की विशिष्ट स्थिति को समझना जरूरी है।"[4] तो हम कह सकते है कि साहित्य का सामाजिक अस्तित्व 'लेखक', 'पुस्तक', और 'पाठक' के अंतः संबंधों से निर्धारित होता है।

---

* **शोधार्थी, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय मोतिहारी, गाँधी परिसर बनकट, बिहार-845401**

कहानी का संक्षिप्त कथासार

कहानी का केन्द्र एक विश्वविद्यालय परिसर है, जहाँ विभिन्न सामाजिक वर्ग, जातियों और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों से आए छात्र-छात्राएँ शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इसी वातावरण में एक साधारण, आर्थिक रूप से संघर्षशील युवक और 'पीली छतरी वाली लड़की' (अंजली) के बीच आकर्षण और संवाद का संबंध विकसित होता है। यह संबंध केवल व्यक्तिगत नहीं है; इसके पीछे सामाजिक संरचना, वर्गीय दूरी, सांस्कृतिक असमानता और बदलते समय की मानसिकता काम कर रही है। इसके साथ ही विश्वविद्यालय जो ज्ञान और समानता का केन्द्र माना जाता है, इस कहानी में यह राजनीति, भ्रष्टाचार, जातीय ध्रुवीकरण, अवसरवाद और बाजारवादी मूल्यों का केन्द्र बनकर उभरता है।

कहानी का अंत किसी आदर्श समाधान के साथ नहीं होता, बल्कि यह पाठक को यह सोचने के लिए छोड़ देती है कि बदलते भारत में मनुष्य की पहचान, प्रेम, शिक्षा और नैतिकता किस प्रकार बाज़ार और सत्ता के दबाव में परिवर्तित हो रहे हैं।

समाजशास्त्रीय समीक्षा

'पीली छतरी वाली लड़की', उदय प्रकाश द्वारा लिखित एक प्रसिद्ध कहानी है। जिसका प्रकाशन सन् 2005 ईस्वी में हुआ। इस कहानी ने तत्कालीन समाज के लगभग सभी परिदृश्यों को अपने में समाहित किए हुए है। कहानी में तत्कालीन परिदृश्य जैसे कि 'वैश्वीकरण और उदारीकरण का प्रभाव', 'वर्गीय असमानता' 'जातिगत भेदभाव' 'शिक्षा व्यवस्था का संकट', 'स्त्री की सामाजिक स्थिति', 'उपभोक्तावाद और सामाजिक स्थिति' 'सत्ता और संस्थागत भ्रष्टाचार' आदि केन्द्र में हैं, जिसके कारण यह कहानी आज के समय में भी समाज को आईना दिखा रही है।

1991 के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया तेज हुई। इसके परिणामस्वरूप बाज़ार का प्रभाव जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देने लगा। शिक्षा, संस्कृति, प्रेम, रोजगार और नैतिकता भी बाजारवादी मूल्यों से प्रभावित होने लगे। 'पीली छतरी वाली लड़की' इसी संक्रमणकाल की कहानी है। विश्वविद्यालय अब केवल ज्ञान का केन्द्र नहीं रह गया बल्कि वह प्रतियोगितावाद और अवसरवाद का केन्द्र बन गया है। इस कहानी में पात्रों की आकांक्षाएँ, उनके सपने और संबंध भी बाजारवादी संस्कृति से प्रभावित दिखाई देते हैं। वस्तुओं का आकर्षण, आधुनिक जीवन शैली और उपभोक्तावादी संस्कृति व्यक्ति के भीतर नई इच्छाएँ पैदा करती हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक संबंध भी उपयोगितवादी बन जाते हैं। इसी संदर्भ में कहानी के एक पात्र 'किन्नू दा' कहते हैं कि "दरअसल अब ये दुनिया ट्रेडर्स की, व्यापारियों की हो गई है। इसपर राहुल प्रश्न करता है कि क्या ये जो भूमंडलीकरण हो रहा है, यह उन्हीं के लिए है, जो विश्व - बाजार के हिस्से हैं।"[5] राहुल और किन्नू दा के बातों से हमें यह समझ में आता है कि बाज़ारवाद के प्रभाव ने मनुष्य की जिजीविषा ही छीन लिया है। लोगों की इक्षाओं तक को भी नियंत्रित किया जा रहा है।मनुष्य अब बस एक खरीदार बन के रह गया है।विश्वविद्यालय भी इससे अछूता नहीं है। यहाँ वर्गीय असमानता, नस्लभेद ने ऐसा जकड़ रखा है कि लगभग सभी उससे प्रभावित हैं। यहाँ वर्गीय विभाजन केवल धन के अंतर का नहीं है बल्कि भाषा, पहनावे, रहन-सहन, सांस्कृतिक अभिरुचियों और व्यवहार में भी दिखाई देता है। कहानी में विश्वविद्यालय के बाहरी गुंडे जो परिसर में अपना कब्जा जमा लिए हैं, उनके द्वारा अलग-अलग राज्यों से आए छात्रों के लिए बड़े ही भद्दे शब्दों का प्रयोग किया जाता है -"मणिपुर, अरुणाचल, असम जैसे उत्तर-पूर्व के प्रान्तों से आने वाले छात्रों को ये गुडे 'मल्लू या 'मंकी' बोलते थे और दक्षिण भारत के किसी भी राज्य से आने वाला लड़का इनके लिए 'रुंडू' होता था।"[6] भारतीय समाज में जाति आज भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक संरचना है। आधुनिक शिक्षा और लोकतंत्र के बावज़ूद जातिगत पहचान पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। कहानी में छात्रों के बीच जातिय समूह, संगठन और पहचान मौजूद है। आज भी अनेक अवसरों, नियुक्तियों और सामाजिक संबंधों पर भी जाति का प्रभाव दिखाई दे ही देता है। कहानी में इसका चित्रण व्यय के रूप अंजली और उसकी दोस्त के बीच बात-चित के दौरान दिखाया गया है "भुट्टा खायेंगी ? मेरे पास आधा बचा है। रेणु ने पेशकश की। पंडितानी है। तेरा जुठा भुट्टा खाएगी तो उसका धरम भ्रष्ट हो जाएगा। सीमा ने व्यंग्य किया।"[7]

इस प्रकार हम देखते है कि जातिगत अंतर लोगो के नसों में बस चुका है।आपसी बातचीत के दौरान भी इस अंतर की झलक दिख जा रही है। जैसा की हम जानते है शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान, विज्ञान और सामाजिक चेतना का विकास होना चाहिए। परंतु यह विश्वविद्यालय इस नैतिकता से कोसों दूर है। यहाँ शिक्षा का व्यापारीकरण, शोध की उपेक्षा, राजनीतिक हस्तक्षेप, छात्र-संगठनों का संघर्ष और प्रशासनिक भ्रष्टाचार का ताना-बना है। विश्वविद्यालय के वातावरण के साथ साथ यहाँ के विद्यार्थियों के मूल्य भी बदल चुके हैं जिसके फलस्वरूप ज्ञान की अपेक्षा डिग्री और पद उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से कहानी का एक महत्वपूर्ण पक्ष स्त्री चित्रण भी है। 'पीली छतरी वाली लड़की' केवल एक पात्र ही नहीं, बल्कि आधुनिक भारतीय स्त्री का प्रतीक भी है। वह शिक्षित है, वह स्वतंत्र दिखाई देती है और वह सार्वजनिक जीवन में उपस्थित है, फिर भी उसके चारों और पुरुष प्रधान दृष्टि सक्रिय रहती है। समाज उसे उसके व्यक्तित्व से अधिक उसके रूप व्यवहार और आकर्षण के आधार पर देखता है। इसका चित्रण लेखक ने कहानी में व्यंग्यात्मक रूप से किया है- "लड़की चोट खाना बहुत पसंद करती है।.......... लड़की तो वो चीज है, जिसको जितना मारो, जितना कूटो, उसे उतना मजा मिलता है।"[8] लेखक इस व्यंग्य के माध्यम से समाज के उन लोगों की मानसिकता को उजागर कर रहे हैं जो स्त्री को केवल भोग की वस्तु समझते है और एक अबला के रूप में देखते हैं। कहानी में यह भी दिखाया गया है कि कॉपरेट्स वाले आधुनिक महिला को जूती की नोक समझते है और अमीर आनंद की वस्तु। इस कहानी में यह स्पष्ट रूप से दिखता है कि उपभोक्तावाद भारतीय समाज का प्रमुख मूल्य बन गया है। अब व्यक्ति की पहचान उसके चरित्र से अधिक उसकी उपयोग क्षमता से होने लगी है। कहानी में वस्तुएँ, ब्रांड, आधुनिक जीवन शैली और आकर्षक उपस्थिति सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक बन गए हैं। इसकी झलक हमें राहुल के सोचने में दिखती है कि "यही यह आदमी है - खाऊ,तोंदियल, कामक, लुच्चा, जालसाज और रईस जिसकी सेवा के खातिर इस व्यवस्था और सरकार का निर्माण किया गया हैं। इसी आदमी के सुख और भोग के लिए इतना बड़ा बाज़ार है और इतनी सारी पुलिस और फ़ौज हैं।"[9] लेखक इस परिवर्तन की आलोचना करते हुए संकेत करते है कि जब मनुष्य स्वयं एक 'उपयोग की वस्तु' बन जाए तब मानवीय संवेदनाएँ कमज़ोर पड़ जाती है।

कहानी में विश्वविद्यालय प्रशासन, शिक्षक, छात्र संगठन और राजनीतिक हस्तक्षेप एक जटिल सता तंत्र का निर्माण करते हैं। जिसमें किसी की आवाज़ नहीं सुनी जाएगी। बात उसी की चलेगी जिसके हाथ में शक्ति होगी। एक दिन जब राहुल, अणिमा, आभा, दीप्ति, मनमोहन, और राजू कैंटिन जा रहे होते है तब कुछ लड़कों के झुंड में से किसी ने पत्थर मारकर राहुल और अणिमा को घायल कर देता है। इस बात की शिकायत करने हेतु जब ये लोग प्रॉक्टर के ऑफिस पहुंचते है। तब प्रॉक्टर चतुर्वेदी का जवाब ऐसा था कि "देखो, ये दिल्ली नहीं है, न लन्दन। यहाँ ऐसा फैशन करके लड़कियों के साथ मौज-मस्ती करोगे तो कुछ न कुछ होगा ही। लड़कियों पर तो सभी की निगाह रहती है। स्टूडेंट को तो छोड़ो टीचर भी पीछे नहीं। आज पत्थर खाया है, कल फेल कर दिए जाओगे।"[10]

इसप्रकार की बात से यह साफ समझ में आ रहा है कि विश्वविद्यालय में शिक्षक भी उन्हीं गुंडो के तरह हैं जो व्यवस्था के लापरवाही से पैदा हुए है। इसलिए उदय प्रकाश ने प्रॉक्टर के माध्यम से विश्वविद्यालय की स्थिति, यहाँ के शिक्षकों का विचार, परिवेश आदि सभी व्यवस्थाओं का पोल खोलकर रख दिया है। कहानी का एक महत्वपूर्ण पक्ष समकालीन युवा वर्ग का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक संकट भी है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी रोजगार की अनिश्चितता, प्रतियोगिता का दबाव, भविष्य की असुरक्षा युवाओं को तनावग्रस्त बनाती है। इसीलिए वे अपने अस्तित्व और पहचान के लिए संघर्ष करते दिखाई देते हैं।

निष्कर्ष :

इस प्रकार 'पीली छतरी वाली लड़की' अपने समय के सामाजिक अंतर्विरोधों को सामने लाने वाली कहानी है। विश्वविद्यालयी परिवेश के माध्यम से उदय प्रकाश ने वर्ग, जाति, स्त्री और सत्ता से जुड़े प्रश्नों को उभारा है। कहानी यह भी दिखाती है कि आधुनिकता के बावज़ूद सामाजिक भेदभाव और असमानता अलग-अलग रूपों में मौजूद हैं। यही इसे समकालीन समाज को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण बनाता है।

संदर्भ :-

1. पाण्डेय, मैनेजर. (2018). *साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि* (चतुर्थ संस्करण.). पंचकुला: आधार प्रकाशन, पृ. 9.
2. पाण्डेय, मैनेजर. (2018). *साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि* (चतुर्थ संस्करण.). पंचकुला: आधार प्रकाशन, पृ. 19.
3. पाण्डेय, मैनेजर. (2018). *साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि* (चतुर्थ संस्करण.). पंचकुला: आधार प्रकाशन, पृ. 29.

4. पाण्डेय, मैनेजर. (2018). *साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि* (चतुर्थ संस्करण.). पंचकुला: आधार प्रकाशन, पृ. 27.

5. प्रकाश, उदय. (2019). *पीली छतरी वाली लड़की* (छठा संस्करण.). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 25.

6. प्रकाश, उदय. (2019). *पीली छतरी वाली लड़की* (छठा संस्करण.). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 22.

7. प्रकाश, उदय. (2019). *पीली छतरी वाली लड़की* (छठा संस्करण.). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 32.

8. प्रकाश, उदय. (2019). *पीली छतरी वाली लड़की* (छठा संस्करण.). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 8.

9. प्रकाश, उदय. (2019). *पीली छतरी वाली लड़की* (छठा संस्करण.). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 12.

10. प्रकाश, उदय. (2019). *पीली छतरी वाली लड़की* (छठा संस्करण.). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 27.

Received: 08.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

भारत में महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा : एक सामाजिक-कानूनी विश्लेषण
(Sexual Violence Against Women in India: A Socio-Legal Analysis)

पिंकी सारथी / Pinky Sarthi*
sarthipinky7@gmail.com

सारांश

भारत में महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा लगातार एक गंभीर सामाजिक चिंता बनी हुई है। वर्तमान समय में हम यौन हिंसा के विभिन्न नए रूपों में सामने आने वाले परिणामों को देख रहे हैं। यह केवल एक सामाजिक और कानूनी अपराध ही नहीं है, बल्कि एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या भी है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के आंकड़ों के अनुसार, वर्ष 2024 में भारत में बलात्कार के 29,535 मामले दर्ज किए गए। हालांकि, ये आंकड़े समस्या के वास्तविक स्वरूप और व्यापकता को पूरी तरह प्रदर्शित नहीं करते हैं, क्योंकि यौन हिंसा के कई मामले दर्ज नहीं हो पाते हैं या औपचारिक रूप से रिकॉर्ड नहीं किए जाते हैं।

यह शोध पत्र यौन हिंसा के सामाजिक मूल कारणों, ऐसे अपराधों से संबंधित कानूनी व्यवस्था—भारतीय दंड संहिता (IPC) से लेकर भारतीय न्याय संहिता (BNS), 2023 तक—कम सजा/दोषसिद्धि दर के कारणों तथा न्याय व्यवस्था के सामने आने वाली चुनौतियों का विश्लेषण करता है। यह अध्ययन इस बात को रेखांकित करता है कि यौन हिंसा केवल एक कानूनी मुद्दा नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक दृष्टिकोणों में गहराई से निहित हैं। इसलिए, इस समस्या का व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना आवश्यक है। महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा को कम करने के लिए पितृसत्तात्मक दृष्टिकोणों को संबोधित करना तथा न्याय व्यवस्था के कार्यान्वयन और कार्यप्रणाली में सुधार करना आवश्यक कदम हैं। व्यापकता को पूरी तरह प्रदर्शित नहीं करते हैं, क्योंकि यौन हिंसा के कई मामले दर्ज नहीं हो पाते हैं या औपचारिक रूप से रिकॉर्ड नहीं किए जाते हैं।यह शोध पत्र यौन हिंसा के सामाजिक मूल कारणों, ऐसे अपराधों से संबंधित कानूनी व्यवस्था—भारतीय दंड संहिता (IPC) से लेकर भारतीय न्याय संहिता (BNS), 2023 तक—कम सजा/दोषसिद्धि दर के कारणों तथा न्याय व्यवस्था के सामने आने वाली चुनौतियों का विश्लेषण करता है। यह अध्ययन इस बात को रेखांकित करता है कि यौन हिंसा केवल एक कानूनी मुद्दा नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक दृष्टिकोणों में गहराई से निहित हैं। इसलिए, इस समस्या का व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना आवश्यक है। महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा को कम करने के लिए पितृसत्तात्मक दृष्टिकोणों को संबोधित करना तथा न्याय व्यवस्था के कार्यान्वयन और कार्यप्रणाली में सुधार करना आवश्यक कदम हैं।

मुख्य शब्द :

यौन हिंसा, महिलाएँ, न्याय व्यवस्था, पितृसत्ता, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB), भारतीय न्याय संहिता (BNS), 2023

प्रस्तावना

भारत में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा एक गंभीर सामाजिक एवं कानूनी समस्या है। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा विभिन्न रूपों में सामने आती है, जिनमें घरेलू हिंसा, बलात्कार, यौन उत्पीड़न, एसिड अटैक, मानव तस्करी तथा कन्या भ्रूण हत्या प्रमुख हैं। समय-समय पर सामने आए अनेक चर्चित मामलों ने भारतीय समाज और न्याय व्यवस्था को प्रभावित किया तथा महिलाओं की सुरक्षा से संबंधित कानूनों में सुधार की आवश्यकता को रेखांकित किया। इनमें महाराष्ट्र का मथुरा बलात्कार मामला (1972), उत्तर प्रदेश का माया त्यागी मामला (1980), राजस्थान का भंवरी देवी मामला (1992), कोलकाता का गैरी पीयर्सन/मिस

* **Guest lecturer, Department of Sociology, PD Commerce and Arts College Raigarh (CG)**

बर्मिंघम मामला (1994), महाराष्ट्र का जलगाँव सेक्स स्कैंडल (1994), दिल्ली का प्रियदर्शिनी मट्टू मामला (1996) तथा दिल्ली का निर्भया मामला (2012) उल्लेखनीय हैं।

इन घटनाओं ने महिलाओं की सुरक्षा, न्याय तक उनकी पहुँच तथा यौन अपराधों से संबंधित कानूनी व्यवस्था पर व्यापक विमर्श को जन्म दिया। विशेष रूप से भंवरी देवी मामले से संबंधित न्यायिक हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने 1997 में विशाखा दिशानिर्देश जारी किए, जिन्होंने कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न की रोकथाम के लिए महत्वपूर्ण विधिक आधार प्रदान किया। बाद में इसी क्षेत्र में कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न (रोकथाम, प्रतिषेध और निवारण) अधिनियम, 2013 (POSH Act) अस्तित्व में आया। इसी प्रकार, 16 दिसंबर 2012 की निर्भया घटना के बाद यौन अपराधों से संबंधित कानूनों में व्यापक संशोधन किए गए। इसके बावजूद महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा की समस्या पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। अतः प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भारत में महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा के सामाजिक एवं कानूनी पहलुओं का विश्लेषण करना तथा इसके प्रभावी समाधान की संभावनाओं का अध्ययन करना है।

साहित्य समीक्षा

भारत में महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा एक महत्वपूर्ण सामाजिक, कानूनी और मानवाधिकार संबंधी समस्या है। इस विषय पर विभिन्न समाजशास्त्रियों, शोधकर्ताओं तथा कानूनी विशेषज्ञों ने सामाजिक संरचना, लैंगिक असमानता, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, महिलाओं की सामाजिक स्थिति तथा कानूनी संरक्षण के संदर्भ में अध्ययन किया है।

Susan Brownmiller ने अपनी पुस्तक Against Our Will: Men, Women and Rape (1975) में बलात्कार को केवल व्यक्तिगत अपराध के रूप में न देखकर महिलाओं पर नियंत्रण और पुरुष सत्ता से जुड़े व्यापक सामाजिक संबंधों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया। उनके अध्ययन से यह समझने में सहायता मिलती है कि यौन हिंसा के पीछे लैंगिक शक्ति-संबंध महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

Diana Scully ने Understanding Sexual Violence (1990) में यौन हिंसा से संबंधित सामाजिक धारणाओं, अपराध की परिस्थितियों तथा पीड़ित महिलाओं के अनुभवों का अध्ययन किया। उनका कार्य यौन हिंसा को समझने में सामाजिक और संस्थागत कारकों के महत्व को सामने लाता है।

भारतीय संदर्भ में महिलाओं के खिलाफ हिंसा पर किए गए अध्ययनों में पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था, लैंगिक असमानता, सामाजिक रूढ़ियों तथा महिलाओं की आर्थिक और सामाजिक निर्भरता को महत्वपूर्ण कारकों के रूप में देखा गया है। इन अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि यौन हिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार या कानूनी अपराध के रूप में समझना पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके सामाजिक कारणों और परिणामों का अध्ययन भी आवश्यक है। भारत में यौन अपराधों से संबंधित कानूनी व्यवस्था में समय के साथ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। Criminal Law (Amendment) Act, 2013 तथा 2018 के बाद यौन अपराधों से संबंधित कानूनी प्रावधानों को अधिक व्यापक बनाया गया। वर्तमान में Bharatiya Nyaya Sanhita (BNS), 2023 के अंतर्गत यौन अपराधों से संबंधित प्रावधान लागू हैं। इसके अतिरिक्त कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न तथा बच्चों के यौन अपराधों से सुरक्षा के लिए अलग-अलग कानूनी व्यवस्थाएँ भी मौजूद हैं। हाल के अध्ययनों में यह भी सामने आया है कि कानूनी प्रावधानों की उपलब्धता के बावजूद महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा की समस्या पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। रिपोर्टिंग में सामाजिक कलंक, परिवार का दबाव, पीड़िता को दोष देने की प्रवृत्ति, न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता तथा जागरूकता की कमी जैसी समस्याएँ बाधा बन सकती हैं।

इस प्रकार उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा एक बहुआयामी समस्या है, जिसमें सामाजिक संरचना, लैंगिक शक्ति-संबंध, सांस्कृतिक मान्यताएँ, कानूनी व्यवस्था तथा संस्थागत प्रतिक्रिया सभी की भूमिका होती है।

शोध-अंतराल (Research Gap)

उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि भारत में महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा पर अनेक अध्ययन किए गए हैं। इनमें मुख्य रूप से यौन हिंसा के सामाजिक कारणों, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, लैंगिक असमानता, कानूनी प्रावधानों

तथा महिलाओं के अनुभवों पर चर्चा की गई है। इसके बावजूद वर्तमान सामाजिक और कानूनी परिस्थितियों के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण शोध-अंतराल दिखाई देते हैं।

पहला, अनेक अध्ययन यौन हिंसा के किसी एक विशेष रूप या विशेष क्षेत्र पर केंद्रित रहे हैं। महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा के विभिन्न रूपों को एक साथ सामाजिक, कानूनी और संस्थागत दृष्टिकोण से समझने वाले समग्र अध्ययनों की आवश्यकता बनी हुई है।

दूसरा, कानूनी सुधारों के बावजूद कानून और उसके वास्तविक क्रियान्वयन के बीच मौजूद अंतर पर अधिक समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता है। विशेष रूप से Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 के लागू होने के बाद यौन अपराधों से संबंधित कानूनी व्यवस्था को सामाजिक संदर्भ में समझना एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

तीसरा, उपलब्ध अध्ययनों में महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा के पीछे कार्य करने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों तथा आधुनिक डिजिटल वातावरण के बदलते प्रभाव को एक साथ समझने की आवश्यकता दिखाई देती है। डिजिटल संचार और सोशल मीडिया के विस्तार ने यौन उत्पीड़न तथा हिंसा के कुछ नए रूपों को भी चर्चा का विषय बनाया है।

चौथा, यौन हिंसा की घटनाओं की आधिकारिक रिपोर्टिंग और वास्तविक घटनाओं के बीच संभावित अंतर भी महत्वपूर्ण शोध का विषय है। सामाजिक कलंक, परिवार का दबाव, पीड़िता को दोष देने की प्रवृत्ति तथा न्याय व्यवस्था पर विश्वास जैसे कारकों का रिपोर्टिंग व्यवहार पर प्रभाव अधिक गहराई से समझने की आवश्यकता है।

अतः वर्तमान अध्ययन का उद्देश्य महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा को केवल अपराध के रूप में नहीं, बल्कि एक सामाजिक एवं कानूनी समस्या के रूप में समझना है। अध्ययन सामाजिक कारणों, कानूनी प्रावधानों, संस्थागत प्रतिक्रिया तथा समकालीन परिस्थितियों को एक समग्र दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करता है।

शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. भारत में महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा की **वर्तमान स्थिति एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन करना।**
2. IPC के 2013 एवं 2018 के संशोधनों, **POCSO अधिनियम तथा BNS, 2023** के यौन हिंसा संबंधी प्रावधानों का विश्लेषण करना।
3. यौन हिंसा के सामाजिक कारकों, विशेषकर **पितृसत्ता, परिवार एवं सामाजिक मानसिकता** का अध्ययन करना।
4. **कम दोषसिद्धि एवं रिपोर्टिंग** के कारणों का विश्लेषण करना।
5. यौन हिंसा की रोकथाम के लिए **प्रभावी समाधान एवं सुझाव प्रस्तुत करना।**

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है। अध्ययन में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) की रिपोर्ट, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS), शोध-पत्र, सरकारी दस्तावेज, ऑनलाइन आँकड़े, न्यायिक निर्णय तथा विश्वसनीय समाचार-पत्रों को स्रोत के रूप में उपयोग किया गया है। शोध में उपलब्ध सामग्री के अध्ययन एवं व्याख्या के लिए तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

कानूनी ढांचा: विकास और वर्तमान स्थिति

भारतीय दंड संहिता आईपीसी 1860 का निरंतर उपयोग आजादी के बाद भारत ने ब्रिटिश कालीन आईपीसी को अपनाया जिसके जिसमें धारा 375 और 376 में बलात्कार को परिभाषित किया गया था हालांकि उसे समय सबूत से जुड़े नियम काफी जटिल थे। मथुरा बलात्कार मामला (1972) का पहला बड़ा (संशोधन 1983) था । **मथुरा** नाम की युवा आदिवासी

लड़की के साथ पुलिस स्टेशन में यौन हिंसा के मामले मे सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद लोगों में आक्रोश फैल जिसके परिणाम स्वरुप आपराधिक कानून संशोधन अधिनियम 1983 पारित किया गया।

1983 से पहले यौन उत्पीड़न संबंधी कानून में कई कमियां - सहमति(consent) और शारीरिक प्रतिरोध की दोषपूर्ण व्याख्या:- 1983 के पहले ब्रिटिश कालीन कानून को माना जा रहा था जिसमें बलात्कार के परिभाषा को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया था जिसके आधार पर मथुरा बलात्कार मामले में आरोपी को रिहा किया गया था 1983 के पूर्व बलात्कार की परिभाषा आईपीसी मूल धारा 375 में मूल कानून के अनुसार "कोई पुरुष किसी महिला के साथ यौन**(sexual intercourse)** बनता है तो वह निम्नलिखित पर पांच परिस्थितियों में बलात्कार माना जाएगा-

पहला:- महिला की इच्छा के विरुद्ध (Against her will)।

दूसरा:-महिला की सहमति के बिना (Without her consent)।

तीसरा:-महिला की सहमति से, लेकिन तब जब उसकी सहमति मौत या गंभीर चोट (Fear of death or hurt) के डर के तहत हासिल की गई हो।

चौथा:-महिला की सहमति से, लेकिन तब जब पुरुष यह जानता है कि वह उसका पति नहीं है, और महिला ने सहमति केवल इसलिए दी क्योंकि उसे धोखे से यह विश्वास दिलाया गया कि वह पुरुष उसका कानूनी पति है।

पांचवा:-महिला की सहमति से या सहमति के बिना, जब उसकी उम्र 16 वर्ष से कम हो (नोट: मूल 1860 के ड्राफ्ट में यह उम्र और भी कम थी, जिसे बाद में संशोधन कर 16 किया गया था, और 1983 के पहले यही लागू था)।

सहमति (Consent) और इच्छा (Will) के **बीच विरोधाभास:**

मूल कानून में 'इच्छा के विरुद्ध 'और 'सहमति के बिना' दो अलग बात मानी जाती थी अदालत ने स्पष्ट व्याख्या की कि यदि महिला की सहमति यदि उसका डर है तो उसे "बिना सहमति" के नहीं माना जाएगा क्योंकि उन्होंने शारीरिक रूप से कोई कड़ा विरोध नहीं किया था उसके शरीर पर कोई चोट के निशान नहीं थे यह कह सकते हैं जबरदस्ती करने के परिणाम दिखाई नहीं दे रहे थे।

सहमति के डर का दायरा सीमित था (तीसरी परिस्थिति):

तीसरी परिस्थिति के अनुसार सहमति केवल तब अमान्य मानी जाती थी जब महिला को "मौत या गंभीर चोट" (Fear of death or hurt) का डर दिखाया गया हो। मथुरा केस में बिल्कुल यही हुआ था। लड़की पुलिस कस्टडी में थी। पुलिस के रूतबे और 'हिरासत के डर' (Custodial Fear) को पुरानी परिभाषा में सहमति खारिज करने का आधार नहीं माना गया।

1983 में क्या बदला गया?

मथुरा केस के बाद हुए आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम, 1983 के जरिए:

सहमति की परिभाषा को और कड़ा किया गया।कानून में **छठी परिस्थिति** जोड़ी गई, जिसमें महिला की मानसिक स्थिति जहां सही गलत समझ पाने में असमर्थ हो सबसे महत्वपूर्ण हिरासत में रखे लड़की के साथ बलात्कार या कस्टोडियन रेप के मामले में अलग से धाराएं जोड़ी गई 376A,376B ताकि पुलिस या प्रशासन अथवा सत्ता के दर से उत्पन्न "मजबूरी" को सहमति न माना जाए। **आपराधिक कानून (दूसरा संशोधन) अधिनियम, 1983 [Criminal Law (Second Amendment) Act of 1983] पारित किया गया।**

इसके अलावा IPC में धारा **228A** जोड़ी गई जिसमें कहा गया कि "बलात्कार जैसे कुछ अपराधों में पीड़ित की पहचान गुप्त रखी जाए तथा ऐसा न करने पर दंड का प्रावधान किया जाए"।

कार्यस्थल पर सुरक्षा एवं नागरिक अधिकार (1990 का दशक)

भंवरी देवी मामला (राजस्थान 1992)-भंवरी देवी राजस्थान के भातेरी गाँव में सरकार के 'महिला विकास कार्यक्रम' के तहत एक 'साथिन' (ग्रासरूट सोशल वर्कर) के रूप में काम करती थीं। साल 1992 में, उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए गाँव के एक रसूखदार परिवार में हो रहे 9 महीने की एक बच्ची के बाल विवाह को रुकवा दिया।बाल विवाह रुकवाने से नाराज़ होकर

गाँव के दबंग और ऊंची जाति के पुरुषों ने भंवरी देवी और उनके पति पर हमला किया। 22 सितंबर 1992 को, जब वे अपने खेत में काम कर रहे थे, तब पांच पुरुषों ने उनके पति को बेरहमी से पीटा और भंवरी देवी के साथ सामूहिक बलात्कार (Gang-rape) किया। इसके बाद भंवरी देवी को न्याय के लिए लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी। पुलिस ने उनकी मेडिकल जांच में 52 घंटे से ज्यादा की देरी की (ताकि सबूत मिट जाएं), और जांच में कई बड़ी गलतियां थी। साल 1995 में, जयपुर की एक स्थानीय निचली अदालत ने आरोपियों को बलात्कार के आरोपों से बरी कर दिया। कोर्ट ने बेहद अजीब, जातिवादी और पितृसत्तात्मक तर्क दिए।

पॉश एक्ट (PoSH Act) क्यों आया? भंवरी देवी मामले ने देश की कानूनी व्यवस्था के एक बहुत बड़े खालीपन (Legal Gap) को उजागर किया: भंवरी देवी के साथ यह दरिंदगी सिर्फ इसलिए हुई क्योंकि वह अपना काम (सरकारी नौकरी) कर रही थीं। उस समय भारत में महिलाओं के लिए कार्यस्थल (Workplace) पर सुरक्षा या यौन उत्पीड़न से जुड़ा कोई कानून ही नहीं था। इसके बाद कानून बनने का सफर कुछ इस तरह तय हुआ: **विशाखा गाइडलाइंस (1997):** निचली अदालत के फैसले के खिलाफ **'विशाखा'** नामक महिला अधिकार एनजीओ और अन्य समूहों ने सुप्रीम कोर्ट में एक जनहित याचिका (PIL) दायर की। 1997 में सुप्रीम कोर्ट ने ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए "**विशाखा गाइडलाइंस**" जारी कीं। कोर्ट ने साफ कहा कि कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न महिलाओं के मौलिक अधिकारों (समानता और सम्मान से जीने का अधिकार) का हनन है।

पॉश कानून (PoSH Act, 2013): सुप्रीम कोर्ट ने सरकार को इस पर पक्का कानून बनाने का निर्देश दिया था। सालों के इंतजार के बाद, सरकार ने विशाखा गाइडलाइंस को एक कड़े कानून का रूप दिया, जिसे **"The Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition and Redressal) Act, 2013" या PoSH Act कहा जाता है**

पॉश एक्ट आने के मुख्य कारण और इसके नियम:

- **सुरक्षित माहौल देना:** देश की हर कामकाजी महिला को दफ्तर, अस्पताल, स्कूल या किसी भी कार्यस्थल पर सुरक्षित और सम्मानजनक माहौल मिल सके।
- **आंतरिक शिकायत समिति** (ICC): कानून के तहत हर उस सरकारी या निजी संस्थान में (जहां 10 या उससे अधिक कर्मचारी हैं) एक Internal Complaints Committee (ICC) बनाना अनिवार्य है, जहां महिलाएं बिना डरे कार्यस्थल पर हुए दुर्व्यवहार या यौन उत्पीड़न की शिकायत दर्ज करा सकें।
- **नियोक्ता की जवाबदेही:** कंपनी या दफ्तर के मालिकों को कानूनी रूप से जवाबदेह बनाया गया कि वे महिलाओं की सुरक्षा सुनिश्चित करें और शिकायतों पर तुरंत निष्पक्ष कार्रवाई करें।

बाल सुरक्षा कड़े सुधारो का युग (2012-2013)

देश में लगातार बढ़ रहे बाल यौन शोषण के मामलों और कानूनी कमियों को दूर करने के लिए लाया गया था।1990 और 2000 के दशकों में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) और कई गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) की रिपोर्ट्स में सामने आया कि बच्चों के खिलाफ यौन हिंसा तेजी से बढ़ रही है। इसके बाद बच्चों के अधिकारों के लिए काम करने वाले संगठनों और सुप्रीम कोर्ट की चिंताओं के दबाव में संसद ने इस कानून को पारित किया।

बाल सुरक्षा से संबंधित अधिनियम(POCSO ACT 2012 -2013):- Protection of Children from Sexual Offences Act, 2012।(लैंगिक अपराधों से बालकों का संरक्षण अधिनियम, 2012)

यह भारत का एक महत्वपूर्ण कानून है, जिसका उद्देश्य बच्चों को यौन अपराधों, यौन उत्पीड़न और अश्लील सामग्री से सुरक्षा देना है।

Child की परिभाषा: 18 वर्ष से कम आयु का कोई भी व्यक्ति। यह लड़के और लड़कियों दोनों पर लागू होता है। इसमें प्रमुख अपराध शामिल हैं:

- Sexual assault
- Aggravated sexual assault

- Sexual harassment
- Child pornography/sexually explicit material से संबंधित अपराध

  POCSO Act का अध्ययन बाल संरक्षण, लैंगिक हिंसा, सामाजिक न्याय, परिवार, शिक्षा संस्थानों और मानवाधिकार के संदर्भ में किया जा सकता है। इसका उद्देश्य बच्चों को यौन शोषण से बचाना और न्यायिक प्रक्रिया में उनके हितों की रक्षा करना है।

निर्भया कांड (दिल्ली 2012)

दिसंबर 2012 में दिल्ली में हुए बलात्कार तथा हत्या के मामले के बाद देश में आपराधिक कानून (संशोधन) अधिनियम, 2013 पारित किया गया जिसने बलात्कार की परिभाषा को और अधिक व्यापक बनाया तथा इसके अधीन दंड के प्रावधानों को कठोर किया।इस अधिनियम में **जस्टिस जे. एस. वर्मा समिति** के सुझावों को शामिल किया गया जिसे देश में आपराधिक कानूनों में सुधार तथा समीक्षा के लिये बनाया गया था। जिसमें निम्नलिखित बिंदु शामिल है

कारावास की अवधि :-इस अधिनियम ने यौन हिंसा के मामलों में कारावास की अवधि को बढ़ाया तथा उन मामलों में मृत्युदंड का भी प्रावधान किया जिसमें पीड़ित की मौत हो या उसकी अवस्था मौत के बराबर हो।

आपराधिक इरादे :- इसके तहत कुछ नए प्रावधान भी शामिल किये गए जिसमें आपराधिक इरादे से बलपूर्वक किसी महिला के कपड़े उतारना, यौन संकेत देना तथा पीछा करना आदि शामिल हैं।अवांछनीय शारीरिक स्पर्श, शब्द या संकेत तथा यौन अनुग्रह (Sexual Favour) करने की मांग करना आदि को भी यौन अपराध में शामिल किया गया।

सामूहिक बलात्कार :- सामूहिक बलात्कार के मामले में सज़ा को 10 वर्ष से बढ़ाकर 20 वर्ष या आजीवन कारावास कर दिया गया।

डिजिटल सेक्सुअल हैरेसमेंट (Digital Sexual Harassment) इसे भी इस एक्ट के अंदर रखा जाता है जो की इंटरनेट क्रांति के उपरांत होने वाले अपराध है।

एसिड अटैक (Acid Attack):- इस अधिनियम द्वारा इसके तहत किसी लड़की का पीछा (Stalking) करने पर तीन वर्ष की **सज़ा तथा एसिड अटैक (Acid Attack)** के मामले में सज़ा को दस वर्ष से बढ़ाकर आजीवन कारावास में बदल दिया गया।

भारतीय न्याय संहिता BNS 2023

भारतीय न्याय संहिता को देश में लाने का मुख्य कारण 164 साल पुराने अंग्रेजों के जमाने के कानून (Indian penal court IPC 1860) को बदलना था केंद्र सरकार ने 1 जुलाई 2024 में इस पूरे देश में लागू कर दिया है। यौन हिंसा को लेकर इसकी वर्तमान स्थिति इस प्रकार-

अध्याय V (chapter V):- महिलाओं और बच्चों के खिलाफ अपराधों को अब कानून की शुरुआत में प्राथमिकता दी गई।

पहचान छुपा कर यौन संबंध बनाना:- शादी का झूठा वादा करके रोजगार का चाचा देखकर अपनी पहचान छुपा कर किसी महिला के साथ यौन संबंध बनाने को BNS की धारा 69 के तहत एक **विशिष्ट अपराध** माना गया।

नाबालिकों से सामूहिक बलात्कार:-18 वर्ष से कम उम्र की लड़कियों के साथ सामूहिक बलात्कार(Gang-rape) के मामले में अब मृत्यु दंड या आजीवन कारावास की सजा अनिवार्य की गई।

यौन उत्पीड़न का सामाजिक विश्लेषण

पितृसत्तात्मक मानसिकता (Patriarchy) और पुरुष प्रधानता पावर और कंट्रोल का जरिया: समाजशास्त्रियों का मानना है कि बलात्कार एक सेक्स अपराध से ज्यादा 'पावर और कंट्रोल' (सत्ता और नियंत्रण) का जरिया है। पुरुष अक्सर अपनी श्रेष्ठता या प्रभुत्व साबित करने के लिए महिलाओं के खिलाफ इस हिंसा का इस्तेमाल करते हैं। Susan Brownmiller नारीवादी है। इन्होंने अपनी पुस्तक “Against our will : Men Women and Rape (1975)”। जिसमें यह बताया कि बलात्कार का

संबंध यौन(sex) इच्छा से नहीं बल्कि सत्ता वर्चस्व(power and control)से है इन्होंने लिखा कि बलात्कार एक सचेत प्रक्रिया है जिसके जरिए पुरुष समाज महिलाओं को डर के महल में रखता है ताकि उसे उनका वर्चस्व बना रहे उन्होंने इसे पित्तसत्ता को बनाए रखने का एक राजनीतिक हथियार माना है।

Rape = Power + Control

रेप कल्चर' (Rape Culture) और सामाजिक मिथक पीड़ित को दोष देना (Victim Blaming): समाज अक्सर अपराधी के बजाय पीड़ित महिला के कपड़ों, रात में बाहर निकलने, या उसके आचरण पर सवाल उठाने लगता है। इसे "विक्टिम ब्लेमिंग" कहा जाता है।

- पीड़िता को दोषी ठहराना (Victim Blaming): समाज में यह सवाल उठाना कि पीड़िता उस समय वहाँ क्यों गई थी या उसने किस तरह के कपड़े पहने थे।
- यौन हिंसा को सामान्य या कम आंकना (Trivializing Sexual Assault): "लड़के तो लड़के होते हैं" (Boys will be boys) कहकर या अशिष्ट जोक्स के जरिए ऐसी हरकतों को नजरअंदाज करना।
- विषैली मर्दानगी (Toxic Masculinity): मर्दानगी को आक्रामकता, प्रभुत्व और नियंत्रण से जोड़कर देखना।

परंपरागत लिंग भूमिकाएं (Gender Roles):

बचपन से ही पुरुषों को आक्रामक, हावी (Dominant) और महिलाओं को विनम्र या कमजोर मानने की सीख दी जाती है, जो जाने-अनजाने में इस तरह के अपराधों को बढ़ावा देती है। Diana Scully उनकी पुस्तक "understanding sexual violence 1990" डायना इस काली ने जेल में बंद बलात्कारियों के इंटरव्यू किया और यह थ्योरी दी की बलात्कारी कोई मानसिक रूप से बीमार या पागल इंसान नहीं होते बल्कि वह आम सामाजिक परिवेश में पड़े-बड़े पुरुष होते हैं उन्होंने बताया कि समाज में लड़कों को जो 'मर्दानगी'Masculinity) और आक्रामकता दिखाई जाती है वह इस सामाजिक सीख(Social Learning)के तहत बलात्कार को अपनी ताकत दिखाने का जरिया चुनते हैं।

सामाजिक कलंक (Social Stigma) और अलगाव इज्जत से जोड़ना:

समाज में महिला के शरीर को परिवार या समाज की 'इज्जत' (Honor) से जोड़ दिया जाता है। जब बलात्कार होता है, तो कलंक अपराधी पर नहीं बल्कि पीड़ित महिला पर मढ़ा जाता है, जिससे पीड़ित मानसिक अवसाद (Trauma) में चली जाती है और अधिकांश मामले दर्ज ही नहीं हो पाते।कानूनी प्रक्रिया का डर: सामाजिक बहिष्कार और अदालतों में चरित्र हनन के डर से पीड़िता न्याय की लड़ाई लड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाती।

जाति, वर्ग और शक्ति का खेल (Intersectionality)कमजोर वर्गों का शोषण:

भारत और दक्षिण एशियाई देशों के संदर्भ में, बलात्कार का इस्तेमाल समाज के उच्च या शक्तिशाली वर्गों द्वारा कमजोर जातियों (जैसे दलित या आदिवासी) और आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों को दबाने या सजा देने के लिए एक हथियार के रूप में भी किया गया है। शहरी क्षेत्रों में भी कामकाजी महिलाएँ कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न का सामना करती हैं। साइबर स्पेस में बदले की भावना से अश्लील सामग्री फैलाना (revenge porn) और ऑनलाइन उत्पीड़न बढ़ रहा है।

संस्थागत विफलता (Institutional Failure) कानून लागू होने में देरी:

कड़े कानून होने के बावजूद मामलों की जांच, मेडिकल परीक्षण और अदालती फैसलों में होने वाली भारी देरी न्याय की प्रक्रिया को सुस्त बनाती है, जिससे अपराधियों में डर कम होता है।

घरेलू क्षेत्र में हिंसा

NCRB आँकड़ों में पति या रिश्तेदारों द्वारा क्रूरता सबसे अधिक मामले दर्ज होते हैं। कई मामलों में यौन हिंसा घरेलू हिंसा का हिस्सा होती है। वैवाहिक बलात्कार अभी भी पूर्ण रूप से अपराध नहीं माना जाता (BNS में पत्नी 18 वर्ष से ऊपर होने पर अपवाद है), जो एक बड़ी कानूनी और सामाजिक खामी है।

BNS के प्रमुख प्रावधान

महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा से निपटने के लिए भारतीय न्याय संहिता, 2023 (BNS) में कठोर दंडात्मक प्रावधान किए गए हैं। धारा 63 में बलात्कार की परिभाषा दी गई है, जबकि धारा 64 में बलात्कार के लिए न्यूनतम 10 वर्ष के कठोर कारावास से लेकर आजीवन कारावास तक का प्रावधान है। धारा 65 में कम आयु की बालिकाओं से बलात्कार के लिए अधिक कठोर दंड तथा धारा 70 में सामूहिक बलात्कार के लिए न्यूनतम 20 वर्ष के कारावास से लेकर आजीवन कारावास और कुछ परिस्थितियों में मृत्युदंड तक का प्रावधान है। धारा 75 यौन उत्पीड़न को दंडनीय अपराध के रूप में परिभाषित करती है।

कानून के कार्यान्वयन की चुनौतियाँ

कठोर कानूनी प्रावधानों के बावजूद इनके प्रभावी क्रियान्वयन में अनेक चुनौतियाँ हैं। पुलिस जाँच में संवेदनशीलता की कमी, साक्ष्यों के संरक्षण में कठिनाई, फॉरेंसिक जाँच में विलंब, मामलों का लंबे समय तक लंबित रहना तथा पीड़िताओं पर सामाजिक दबाव न्याय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। प्रशिक्षित महिला पुलिसकर्मियों और पर्याप्त फॉरेंसिक सुविधाओं की कमी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है।

आँकड़े और प्रवृत्तियाँ

NCRB के अनुसार महिलाओं के विरुद्ध दर्ज अपराधों की संख्या 2022 में लगभग 4.45 लाख, 2023 में 4.48 लाख और 2024 में 4.41 लाख रही। वर्ष 2024 में बलात्कार के 29,536 मामले दर्ज किए गए। ये आँकड़े केवल दर्ज मामलों को दर्शाते हैं; सामाजिक कलंक, भय और अन्य कारणों से कई घटनाएँ दर्ज नहीं हो पातीं। इसलिए वास्तविक स्थिति इन आँकड़ों से अधिक व्यापक हो सकती है।

प्रमुख चुनौतियाँ

महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा की समस्या के पीछे पितृसत्तात्मक मानसिकता, सामाजिक कलंक, पीड़िता को दोष देने की प्रवृत्ति, लंबी न्यायिक प्रक्रिया, संस्थागत संवेदनशीलता की कमी और आर्थिक-सामाजिक असमानताएँ प्रमुख कारक हैं। वैवाहिक बलात्कार से संबंधित वर्तमान कानूनी स्थिति भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण विमर्श का विषय है।

सुझाव

इस समस्या के समाधान के लिए विद्यालयों में आयु-उपयुक्त लैंगिक एवं सहमति शिक्षा, पुलिस और न्यायिक अधिकारियों का नियमित संवेदनशीलता प्रशिक्षण, फास्ट-ट्रैक न्यायालयों और वन-स्टॉप सेंटरों का विस्तार तथा पीड़िताओं को कानूनी, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना आवश्यक है। साथ ही, वैवाहिक बलात्कार की कानूनी स्थिति पर व्यापक विमर्श, पुरुषों की सहभागिता तथा डिजिटल माध्यमों में यौन हिंसा के विरुद्ध प्रभावी कार्रवाई को भी प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

निष्कर्ष:

भारत में महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा एक गंभीर सामाजिक, कानूनी और मानवीय समस्या है, जिसका संबंध केवल अपराध और दंड की व्यवस्था से नहीं, बल्कि समाज की संरचना, लैंगिक असमानता और पितृसत्तात्मक मानसिकता से भी है। भारतीय न्याय संहिता (BNS), 2023 तथा अन्य संबंधित कानूनों ने यौन अपराधों के लिए कठोर दंड का प्रावधान करके विधिक संरक्षण को मजबूत किया है। हालांकि, कानून की कठोरता तभी प्रभावी हो सकती है, जब उसका निष्पक्ष, त्वरित और संवेदनशील ढंग से क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाए। पुलिस जाँच, न्यायिक प्रक्रिया, फॉरेंसिक सुविधाओं और पीड़िता सहायता तंत्र को अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। इसके साथ ही समाज में लैंगिक समानता, सहमति, सम्मान और व्यक्तिगत गरिमा के प्रति जागरूकता विकसित करना आवश्यक है। विद्यालयों और उच्च शिक्षण संस्थानों में उपयुक्त लैंगिक शिक्षा तथा समुदाय स्तर पर जागरूकता कार्यक्रम इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। अंततः महिलाओं की सुरक्षा केवल राज्य की कानूनी जिम्मेदारी नहीं, बल्कि परिवार, शिक्षण संस्थानों, समुदाय और नागरिक समाज की सामूहिक जिम्मेदारी है। महिलाओं की स्वतंत्रता, सुरक्षा और गरिमा सुनिश्चित करना एक समानतामूलक, न्यायपूर्ण और सभ्य समाज की आधारशिला है।

Reference:

Agarwal, N. (2025). Sexual harassment of women in the workplace: Barriers to women empowerment in India? *International Journal of Novel Research and Development (IJNRD)*

Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023, No. 45, Acts of Parliament, 2023 (India). (2023). *Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023*. https://www.indiacode.nic.in/

Bibi, C., & Rishi, K. (2024). Analytical study of issues and challenges of working women regarding sexual harassment at workplace. *ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts, 5*(7), 455–459. https://doi.org/10.29121/shodhkosh.v5.i7.2024.3294

Brodsky, A. (2021). *Sexual justice: Supporting victims, ensuring due process, and resisting the conservative backlash*. Metropolitan Books.

Brownmiller, S. (1975). *Against our will: Men, women, and rape*. Simon & Schuster.

Criminal Law (Amendment) Act, 2013, No. 13, Acts of Parliament, 2013 (India). (2013). *Criminal Law (Amendment) Act, 2013*. https://www.indiacode.nic.in/

Criminal Law (Amendment) Act, 2018, No. 22, Acts of Parliament, 2018 (India). (2018). *Criminal Law (Amendment) Act, 2018*. https://www.indiacode.nic.in/

Criminal Law (Second Amendment) Act, 1983, No. 46, Acts of Parliament, 1983 (India). (1983). *The Gazette of India*.

Justice Verma Committee. (2013). *Report of the Committee on Amendments to Criminal Law*. Government of India.

National Crime Records Bureau. (2022). *Crime in India 2022*. Ministry of Home Affairs, Government of India.

National Crime Records Bureau. (2023). *Crime in India 2023*. Ministry of Home Affairs, Government of India.

National Crime Records Bureau. (2024). *Crime in India 2024*. Ministry of Home Affairs, Government of India.

Protection of Children from Sexual Offences Act, 2012, No. 32, Acts of Parliament, 2012 (India). (2012). *Protection of Children from Sexual Offences Act, 2012*. https://www.indiacode.nic.in/

Protection of Women from Domestic Violence Act, 2005, No. 43, Acts of Parliament, 2005 (India). (2005). *Protection of Women from Domestic Violence Act, 2005*. https://www.indiacode.nic.in/

Scully, D. (1990). *Understanding sexual violence: A study of convicted rapists*. HarperCollins.

Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition and Redressal) Act, 2013, No. 14, Acts of Parliament, 2013 (India). (2013). *The Gazette of India*

Received: 09.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

दिव्य प्रकाश दुबे की रचना 'यार पापा' का समाजशास्त्रीय अध्ययन

गौतम कुमार*
gkthakur844116@gmail.com

सारांश

प्रस्तुत शोध-पत्र में दिव्य प्रकाश दुबे के उपन्यास 'यार पापा' (2020) का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। उपन्यास पिता-पुत्री संबंध के माध्यम से भारतीय परिवार और सामाजिक संरचना में हो रहे परिवर्तनों को अभिव्यक्त करता है। पारंपरिक भारतीय परिवार में पिता को अनुशासन, अधिकार और संरक्षण के केंद्र के रूप में देखा जाता रहा है, जबकि उपन्यास में पिता की इसी पारंपरिक छवि को मित्रवत संबंध में परिवर्तित होते हुए प्रस्तुत किया गया है। मनोज साल्वे और उसकी पुत्री साशा के संबंधों के माध्यम से पीढ़ीगत अंतर, संवाद, विश्वास, स्वतंत्रता, पारिवारिक मूल्यों तथा नई पीढ़ी की चेतना को रेखांकित किया गया है। उपन्यास में मध्यवर्गीय परिवार की सामाजिक एवं भावनात्मक जटिलताओं तथा व्यक्ति और समाज के बीच उत्पन्न तनाव को भी अभिव्यक्ति मिली है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह रचना बदलती पारिवारिक संरचना, पितृसत्तात्मक मूल्यों में परिवर्तन और स्त्री की बढ़ती आलोचनात्मक चेतना को समझने का महत्वपूर्ण आधार प्रदान करती है। उपन्यास यह संकेत करता है कि पारिवारिक संबंधों में संवाद, विश्वास और पारस्परिक सम्मान आधुनिक जीवन की महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं।

मुख्य शब्द

यार पापा, दिव्य प्रकाश दुबे, समाजशास्त्रीय अध्ययन, भारतीय परिवार, पितृसत्ता, पिता-पुत्री संबंध, नई पीढ़ी, पारिवारिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन, पीढ़ीगत अंतर।

प्रस्तावना

भारतीय परिवारों में पिता कठोर , अनुशासित और पूज्य माने जाते हैं तथा पिता को डर के प्रतीक के रूप में भी जाना जाता है। दिव्य प्रकाश दुबे का 'यार पापा' (2020) उपन्यास इस मिथक को तोड़ता है। यह उपन्यास पिता को भगवान की कुर्सी से उतार कर दोस्त की कुर्सी पर बैठा देता है। इसमें साशा और उसके पिता मनोज साल्वे की कहानी है। मनोज देश का एक नामी वकील है। यह उपन्यास बदलते युग को पहचान कर एक नई शैली में तत्कालीन समाज की वास्तविकताओं सामाजिक मूल्यों को तथा व्यक्ति और उसके जीवन तथा समाज के बीच उत्पन्न तनाव को अपनी रचना 'यार पापा' के माध्यम से व्यक्त करता है। इसमें आधुनिक स्त्री- पुरुषों के परिवार, विवाह, व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक मान्यताओं का अंतर विरोध देखा जा सकता है। इस रचना के पात्र मध्यवर्गीय परिवेश से आते हैं। मध्यवर्गीय समाज में रहने वाले व्यक्तियों के निर्णय पर परंपराओं का भी प्रभाव पड़ता है।

शोध के उद्देश्य

1. दिव्य प्रकाश दुबे के 'यार पापा' उपन्यास का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना।
2. उपन्यास में चित्रित भारतीय परिवार एवं बदलती पारिवारिक संरचना का विश्लेषण करना।
3. पिता-पुत्री संबंध, संवाद, विश्वास और पीढ़ीगत अंतर का अध्ययन करना।
4. उपन्यास में पितृसत्तात्मक व्यवस्था और नई पीढ़ी की चेतना के स्वरूप को रेखांकित करना।

---

* **शोध छात्र, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार**

5. समकालीन सामाजिक जीवन में उपन्यास की प्रासंगिकता का विश्लेषण करना।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं समाजशास्त्रीय पद्धति पर आधारित है। अध्ययन के प्राथमिक स्रोत के रूप में दिव्य प्रकाश दुबे के उपन्यास 'यार पापा' का उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त साहित्य के समाजशास्त्र, साहित्य और समाज तथा संबंधित आलोचनात्मक अवधारणाओं से जुड़े पुस्तकीय एवं द्वितीयक स्रोतों का अध्ययन किया गया है। उपन्यास के कथानक, पात्रों, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक मूल्यों और पीढ़ीगत अंतर्विरोधों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।

साहित्य समीक्षा

हिंदी साहित्य में साहित्य और समाज के अंतर्संबंध पर व्यापक रूप से विचार किया गया है। मैनेजर पांडेय ने साहित्य के समाजशास्त्र के संदर्भ में साहित्य और सामाजिक संरचना के पारस्परिक संबंधों को समझने की आवश्यकता पर बल दिया है। इसी प्रकार रामविलास शर्मा ने साहित्य को सामाजिक परिस्थितियों, इतिहास और जीवन-यथार्थ से जोड़कर देखने की दृष्टि विकसित की है। नगेन्द्र के साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन संबंधी विचार साहित्यिक रचनाओं में सामाजिक संदर्भों और संरचनाओं के विश्लेषण के लिए आधार प्रदान करते हैं। इन आलोचनात्मक दृष्टियों के आलोक में दिव्य प्रकाश दुबे के 'यार पापा' को पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि उपन्यास केवल पिता-पुत्री के भावनात्मक संबंध की कथा नहीं है, बल्कि बदलते भारतीय परिवार, पितृसत्तात्मक मूल्यों, नई पीढ़ी की स्वतंत्र चेतना और पारिवारिक संवाद की आवश्यकता को भी अभिव्यक्त करता है। प्रस्तुत अध्ययन इन्हीं सामाजिक एवं पारिवारिक पक्षों को केंद्र में रखकर उपन्यास की समाजशास्त्रीय प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।

"यार पापा" शीर्षक की समाजशास्त्रीय सार्थकता:

रचना का शीर्षक 'यार पापा' अपने आप में अत्यंत अर्थ पूर्ण है ।भारतीय परिवार में पिता की छवि अनुशासन, अधिकार, संरक्षण तथा निर्णय लेने वाले व्यक्ति के रूप में होती है। पिता और संतान के बीच के संबंधों में एक औपचारिक दूरी भी दिखाई पड़ती है किंतु 'यार पापा' में 'पापा' के साथ 'यार' शब्द का जुड़ना पिता- पुत्री संबंध के बदलते स्वरूप की ओर संकेत करता है। यार शब्द दोस्ती का प्रतीक होता है जिसका अर्थ है कि पिता केवल अनुशासन देने वाला व्यक्ति ही नहीं बल्कि संतान का मित्र भी हो सकता है इस प्रकार शीर्षक स्वयं पितृ सत्तात्मक परिवार और समाज को नकारता है।

बदलती पारिवारिक संरचना:

भारतीय परिवारों में लंबे समय तक पितृ सत्तात्मक व्यवस्था का प्रभाव रहा है घर में अंतिम निर्णय लेने का अधिकार सामान्यतः पुरुषों के पास होता है। आधुनिक शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन ने इस व्यवस्था को चुनौती दी है ।यार पापा उपन्यास में भी पिता का चरित्र और अधिकार भावनात्मक संबंधों के बीच मौजूद तनाव को समझने में सहायता करता है। बेटी अपने पिता का सम्मान करती है लेकिन वह उसके प्रत्येक निर्णय को बिना प्रश्न स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है यह आधुनिक स्त्री की आलोचनात्मक चेतना का प्रतीक है। परिवार में सभी संबंध विश्वास पर टिके होते हैं इसीलिए विश्वास की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण दिखाई पड़ती है। जब परिवार में विश्वास टूटता है तो यह दो व्यक्तियों के बीच समस्या पैदा नहीं करता बल्कि पूरे पारिवारिक संरचना को प्रभावित करता है।

नई पीढ़ी और उसकी चेतना :

हमारी नई पीढ़ी परंपरा के मूल्यों को पूरी तरह से अस्वीकार नहीं करती लेकिन उन्हें प्रश्नों के माध्यम से समझ कर ही अपनाना चाहती है। इस उपन्यास में संतान और माता -पिता के बीच सहमति और असहमति दोनों रहते हैं लेकिन संबंधों को बचाए रखने की कोशिश भी साथ-साथ चलती रहती है। नई पीढ़ी अब रिश्तो में पारदर्शिता संवाद और बराबरी का महत्व चाहती है। पीढ़ीगत अंतर के कारण माता-पिता और संतान के बीच विचारों में भिन्नता दिखाई देता है यदि आपसी संवाद हो तो संबंधों में दूरी घट जाएगी।

इस उपन्यास में सामाजिक यथार्थ मानवीय संबंधों के स्तर पर उपस्थित है। नई पीढ़ी समाज के बदलाव के लिए अत्यधिक ऊर्जा से कार्य करने को तत्पर दिखाई पर रही है। नई पीढ़ी अपनी जिंदगी को अपने तरीके से जीना चाहती है। यह पीढ़ी परंपरा को तर्क और विश्लेषण की कसौटी पर कसने के बाद ही अपनाना चाहती है।

उपन्यास की समाजशास्त्रीय प्रासंगिकता :

यह उपन्यास आज के समाज और परिवार के संबंधों को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में परिवारों के बदलते संबंध और स्वरूप को दिखाया गया है बच्चे अपने माता-पिता से केवल अनुशासन ही नहीं बल्कि उनसे संवाद भी चाहते हैं। वे माता-पिता को आदर्श व्यक्ति के रूप में देखते हुए भी उनके निर्णय पर सवाल करते हैं। दूसरी तरफ माता-पिता भी अपनी मानवीय कमजोरी के साथ बच्चों के सामने उपस्थित होते हैं।

यह उपन्यास वर्तमान समय के अभिभावकों और संतानों को एक दूसरे की भावनाओं को समझने -समझाने का पूरा प्रयास करता हुआ दिखाई देता है। इस उपन्यास के पात्र भागम भाग की जिंदगी को नकारता हुआ एक स्थाई शांति और सुकून की तलाश करता हुआ दिखाई पड़ता है। यह उपन्यास लोगों को घृणा , द्वेष से दूर रहकर एक पारस्परिक संबंधों का निर्वाह करने के लिए प्रेरित करता है।

निष्कर्ष:

समाजशास्त्रीय पद्धति से इस उपन्यास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह केवल पिता -पुत्री के भावनात्मक संबंध की कहानी नहीं यह आधुनिक भारतीय समाज में परिवार और मानवीय संबंधों के बदलते स्वरूप की भी कहानी है। उपन्यास के पात्र मनोज साल्वे की सामाजिक सफलता और पारिवारिक संबंधों के बीच का तनाव यह बताता है कि बाहरी प्रतिष्ठा और निजी जीवन की सच्चाई हमेशा एक जैसी नहीं होती है दिव्य प्रकाश दुबे का यह उपन्यास बदलते समाज और पारिवारिक संबंधों का संवेदनशील चित्र प्रस्तुत करता है। आधुनिक समय में पारिवारिक संबंध भावविहीन हो गए हैं। यह उपन्यास पारिवारिक संबंधों के भावविहिनता को बातचीत और संवादों के जरिए सुलझाने का प्रयास करता हुआ दिखाई दे रहा है। लेखक ने इस उपन्यास में आम बोलचाल की भाषा का उपयोग किया है जिससे रचना शुरू से अंत तक पाठक को बांधे रह रही है। नए दौर का यह उपन्यास संबंधों का नया व्याख्या प्रस्तुत करता हुआ दिखाई दे रहा है।

संदर्भ ग्रंथ:

1. दुबे, दिव्य प्रकाश. (2023). *यार पापा*. नोएडा: हिंद युग्म.
2. पांडेय, मैनेजर. (2001). *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*. पंचकूला: हरियाणा साहित्य अकादमी.
3. शर्मा, रामविलास. (2009). *साहित्य और समाज*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
4. नगेन्द्र. (1982). *साहित्य का समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

Received: 10.06.2026 | Accepted: 01.07.2026 | Published: 30.08.2026

गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की स्थिति: अभिलेखीय, साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अमरीश दीक्षित/Amarish Dixit* **डॉ. सुरभि श्रीवास्तव /Dr. Surabhi Srivastav†**

amarishdixituno@gmail.com **ssrivastava@dsmnru.ac.in**

सारांश

प्रारम्भिक मध्यकालीन उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास में गुर्जर-प्रतिहार वंश का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आठवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य प्रतिहार सत्ता ने राजस्थान, गुजरात के कुछ भागों, मालवा, बुंदेलखंड, ग्वालियर और कन्नौज सहित उत्तर भारत के विस्तृत भूभाग को प्रभावित किया। प्रतिहार शासकों की व्यक्तिगत धार्मिक आस्था सामान्यतः वैष्णव, शैव अथवा अन्य ब्राह्मणधर्मी परंपराओं से संबद्ध थी, किंतु उनके शासनकाल में जैन धर्म का अस्तित्व केवल सुरक्षित ही नहीं रहा, बल्कि अनेक क्षेत्रों में मंदिर-निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, साहित्य-सृजन, मठीय संगठन और व्यापारी संरक्षण के माध्यम से विकसित हुआ। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की वास्तविक स्थिति का अध्ययन अभिलेखीय, साहित्यिक और पुरातात्त्विक स्रोतों के तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा करना है।ओसियां के महावीर मंदिर का अभिलेख, घटियाला का कक्कुक अभिलेख, राजोरगढ़ का शांतिनाथ अभिलेख तथा देवगढ़ के शांतिनाथ मंदिर का भोजकालीन स्तंभलेख इस अध्ययन के प्रमुख अभिलेखीय आधार हैं। इसी प्रकार उद्योतनसूरि की कुवलयमाला, जिनसेन का हरिवंशपुराण, नागौर में रचित धर्मोपदेशमाला तथा उत्तरवर्ती जैन प्रबंध-परंपरा प्रतिहारकालीन राजनीतिक, नगरीय और धार्मिक परिवेश की जानकारी प्रदान करती है। ओसियां, देवगढ़, घटियाला, मंडोर, राजोरगढ़, अमरोल और बड़ोह-पठारी से प्राप्त मंदिरों, मूर्तियों, स्तंभों और स्थापत्य अवशेषों से जैन धर्म के भौतिक एवं संस्थागत विस्तार की पुष्टि होती है।गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म को किसी केंद्रीकृत 'राजधर्म' के रूप में संरक्षण प्राप्त नहीं था; उसका विकास बहुस्तरीय संरक्षण-व्यवस्था पर आधारित था। इसमें प्रतिहार शासकों और सामंतों के साथ-साथ जैन श्रेष्ठियों, व्यापारिक समुदायों, शिल्पियों, मंदिर-समितियों, आचार्यों और जैन संघों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

मुख्य शब्द:

गुर्जर-प्रतिहार, जैन धर्म, ओसियां, घटियाला अभिलेख, देवगढ़, शांतिनाथ, कुवलयमाला, जैन स्थापत्य, धार्मिक सहिष्णुता।

प्रस्तावना

आठवीं से दसवीं शताब्दी का काल उत्तर भारतीय इतिहास में राजनीतिक पुनर्गठन, सामंतवादी संबंधों के विस्तार, नगरों एवं व्यापारिक मार्गों के पुनरुत्थान और मंदिर-केंद्रित धार्मिक संस्थाओं के विकास का काल था। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद उत्तर भारत में उत्पन्न राजनीतिक रिक्तता को भरने के लिए अनेक क्षेत्रीय शक्तियाँ सामने आई। इनमें गुर्जर-प्रतिहार, पाल और राष्ट्रकूट प्रमुख थे। कन्नौज पर अधिकार के लिए इन तीनों शक्तियों के बीच लंबा संघर्ष हुआ, जिसे प्रायः 'त्रिपक्षीय संघर्ष' के नाम से जाना जाता है। इस संघर्ष के बावजूद गुर्जर-प्रतिहार शासक उत्तर भारत में एक विस्तृत और प्रभावशाली राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने में सफल हुए। प्रतिहार सत्ता का प्रारंभिक आधार पश्चिमी राजस्थान और मालवा से जुड़ा था। बाद में नागभट्ट द्वितीय, मिहिर भोज, महेंद्रपाल और महीपाल के शासनकाल में इसका विस्तार कन्नौज तथा मध्यदेश तक हुआ। प्रतिहार शासकों ने स्वयं को राम के भ्राता लक्ष्मण से उत्पन्न 'प्रतिहार' वंश का बताया। राजकीय अभिलेखों में उनकी वैष्णव अथवा

* **शोधार्थी, भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

†† **एसोसिएट प्रोफेसर, भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

शैव आस्था के संकेत मिलते हैं। मिहिर भोज की उपाधि 'आदिवराह' विशेष रूप से उसकी वैष्णव संबद्धता प्रकट करती है। फिर भी किसी शासक की व्यक्तिगत आस्था को उसकी संपूर्ण धार्मिक नीति का पर्याय नहीं माना जा सकता। प्रतिहारकालीन क्षेत्रों से प्राप्त जैन अभिलेख, साहित्य और मंदिर-अवशेष बताते हैं कि जैन समुदायों को अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए पर्याप्त स्थान उपलब्ध था।

प्रारम्भिक मध्यकालीन धार्मिक संरचना को समझने के लिए 'राजकीय संरक्षण' की संकल्पना का सावधानीपूर्वक प्रयोग आवश्यक है। मंदिर का निर्माण हमेशा राजा द्वारा नहीं कराया जाता था। कई बार राजा अथवा सामंत भूमि और प्रशासनिक सुरक्षा देता था, जबकि निर्माण का व्यय व्यापारी, श्रेष्ठी, स्थानीय संघ या मंदिर-समिति द्वारा वहन किया जाता था[1]। कभी-कभी किसी शासक के शासनकाल में निर्मित मंदिर को बाद की परंपरा सीधे उस शासक से जोड़ देती है, जबकि प्रत्यक्ष अभिलेखीय प्रमाण केवल इतना बताते हैं कि मंदिर उसके राज्य में विद्यमान था। इसलिए जैन धर्म की स्थिति के अध्ययन में प्रत्यक्ष राजकीय दान, सामंती संरक्षण, व्यापारी दान और सामान्य प्रशासनिक सहिष्णुता के बीच अंतर करना आवश्यक है।

राजस्थान में जैन अभिलेखों की संख्या दसवीं शताब्दी के बाद अत्यधिक बढ़ती है, परंतु साहित्यिक और स्थापत्य प्रमाण यह दिखाते हैं कि जैन धर्म इससे बहुत पहले स्थापित हो चुका था। *कुवलयमाला* में जालौर के विशाल जैन मंदिर का उल्लेख, ओसियां में महावीर मंदिर की उपस्थिति और घटियाला में जैन मंदिर तथा कीर्तिस्तंभों का निर्माण इस निरंतरता को प्रमाणित करते हैं। सोमानी ने स्पष्ट किया है कि प्रारम्भिक अभिलेख अपेक्षाकृत कम होने के बावजूद राजस्थान में जैन धर्म के मंदिर, व्यापारी समुदाय और मठीय संस्थाएँ पूर्व-मध्यकाल से सक्रिय थीं।गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म न तो पूर्ण राजकीय धर्म था और न ही एक निष्क्रिय अथवा पतनशील धार्मिक परंपरा। यह पश्चिमी राजस्थान और मध्य भारत के व्यापारिक तथा नगरीय केंद्रों में सुदृढ़ सामाजिक आधार वाला धर्म था। उसके संस्थागत विस्तार में शासक-सामंत, व्यापारी, आचार्य, गच्छ, संघ और मंदिर-समितियाँ परस्पर सहयोग करती थीं।

पूर्ववर्ती अध्ययन और शोध-अंतराल

गुर्जर-प्रतिहार इतिहास पर किए गए प्रारम्भिक अध्ययनों का मुख्य केंद्र वंश की उत्पत्ति, राजनीतिक विस्तार, कन्नौज के लिए संघर्ष और अरब आक्रमणों के प्रतिरोध पर रहा है। बी. एन. पुरी, दशरथ शर्मा तथा अन्य इतिहासकारों ने प्रतिहारों की राजनीतिक उपलब्धियों का विस्तृत विश्लेषण किया, किंतु उनके धार्मिक इतिहास में जैन धर्म को सामान्यतः एक छोटे उपखंड के रूप में स्थान मिला। परिणामतः जैन धर्म की संस्थागत उपस्थिति, क्षेत्रीय विविधता और संरक्षण-तंत्र का समेकित अध्ययन सीमित रहा।गुलाबचंद्र चौधरी ने जैन साहित्य और अभिलेखों के आधार पर उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास का पुनर्निर्माण किया। उन्होंने यह दिखाया कि जैन रचनाओं में उल्लिखित तिथियाँ, स्थान और राजाओं के नाम प्रतिहार राजनीतिक इतिहास की पुष्टि एवं पूरक सामग्री प्रदान करते हैं। *कुवलयमाला* और ओसियां अभिलेख के आधार पर वत्सराज के पश्चिमी भारत में प्रभुत्व तथा जैन धार्मिक केंद्रों की उपस्थिति को समझा जा सकता है।

रामवल्लभ सोमानी का *Jain Inscriptions of Rajasthan* राजस्थान के जैन अभिलेखों के ऐतिहासिक, सामाजिक और स्थापत्य महत्त्व को समझने वाला आधारभूत ग्रंथ है। सोमानी ने ओसियां, घटियाला, मंडोर, राजोरगढ़, जालौर और नागौर जैसे केंद्रों के अभिलेखीय प्रमाणों को एकत्रित किया। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैन अभिलेख केवल धार्मिक दान की सूचना नहीं देते, बल्कि शासकों, श्रेष्ठियों, मठीय परंपराओं, शिल्पियों और नगरों के इतिहास को भी संरक्षित करते हैं।अमलानंद घोष द्वारा संपादित *Jaina Art and Architecture* तथा आर. डी. त्रिवेदी की *Temples of the Pratihara Period in Central India* जैन स्थापत्य और प्रतिहारकालीन कला के अध्ययन में विशेष महत्त्व रखते हैं। इन अध्ययनों से ओसियां के महावीर मंदिर और देवगढ़ के शांतिनाथ मंदिर की वास्तुयोजना, काल-निर्धारण, मूर्तिकला और निर्माण के विभिन्न चरणों का ज्ञान होता है। देवगढ़ में बड़ी संख्या में जैन मंदिरों और अभिलेखों की उपस्थिति जैन धर्म की दीर्घकालिक संस्थागत शक्ति की ओर संकेत करती है।

पूर्ववर्ती अध्ययनों की सीमा यह है कि अभिलेखीय, साहित्यिक और पुरातात्त्विक सामग्री को अनेक बार पृथक-पृथक देखा गया है। उदाहरणार्थ, ओसियां अभिलेख का उपयोग राजनीतिक इतिहास के लिए किया गया, किंतु मंदिर के स्थापत्य परिवर्तनों और मंदिर-समिति की भूमिका से उसे पर्याप्त रूप से नहीं जोड़ा गया। इसी प्रकार घटियाला अभिलेख की वंशावली पर अधिक ध्यान दिया गया, जबकि जैन मंदिर को गच्छ के सुपुर्द करने और बाजार स्थापित करने की सूचना धर्म तथा अर्थव्यवस्था के संबंध को स्पष्ट करती है।गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की स्थिति को तीन प्रकार के स्रोतों अभिलेखीय, साहित्यिक और

पुरातात्त्विक के पारस्परिक परीक्षण द्वारा समझा जाए। साथ ही राजकीय सहिष्णुता, प्रत्यक्ष राजकीय संरक्षण और सामुदायिक संरक्षण के बीच अंतर स्थापित किया जाए।

शोध के उद्देश्य

इस अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की भौगोलिक एवं संस्थागत उपस्थिति का निर्धारण करना।
2. ओसियां, घटियाला, राजोरगढ़ और देवगढ़ के जैन अभिलेखों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।
3. जैन साहित्य में उपलब्ध प्रतिहार शासकों, नगरों और मंदिरों से संबंधित सूचनाओं का परीक्षण करना।

शोध-पद्धति और स्रोत

प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक पद्धति पर आधारित है। अभिलेखों की तिथि, स्थान, भाषा, लिपि, दाता, शासक, धार्मिक संस्था और दान के उद्देश्य का विश्लेषण किया गया है। साहित्यिक स्रोतों के प्रयोग में उनके रचनाकाल, रचनास्थल, प्रशस्तिपरक प्रकृति और उत्तरवर्ती संपादन को ध्यान में रखा गया है। स्थापत्य स्रोतों के अध्ययन में मंदिर की मूल संरचना, बाद के जीर्णोद्धार, मूर्तिकला, मंडप, गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, देवकुलिकाओं और अभिलेखयुक्त स्तंभों की भूमिका पर विचार किया गया है।

इस अध्ययन के प्रमुख अभिलेखीय स्रोत हैं—

- ओसियां के महावीर मंदिर का विक्रम संवत् 1013 का अभिलेख।
- घटियाला का विक्रम संवत् 918 का कक्कुक अभिलेख।
- राजोरगढ़ का विक्रम संवत् 979 का शांतिनाथ अभिलेख।
- देवगढ़ का विक्रम संवत् 919 तथा शक संवत् 784 का भोजकालीन स्तंभ अभिलेख।
- मंडोर और रोहिणीकूप के जैन कीर्तिस्तंभों से संबंधित उल्लेख।

गुर्जर-प्रतिहार सत्ता का ऐतिहासिक एवं धार्मिक परिवेश

गुर्जर-प्रतिहारों की दो प्रमुख शाखाओं का उल्लेख मिलता है मंडोर अथवा मांडव्यपुर की शाखा और कन्नौज की साम्राज्यवादी शाखा। मंडोर शाखा की वंशावली हरिचंद्र से आरंभ होती है, जबकि साम्राज्यवादी शाखा का संस्थापक नागभट्ट प्रथम माना जाता है। दोनों शाखाओं के पारस्परिक संबंध पर विद्वानों में मतभेद हैं, किंतु पश्चिमी राजस्थान में प्रतिहार सत्ता का आरंभिक आधार निर्विवाद है।नागभट्ट प्रथम को अरब आक्रमणों के प्रतिरोध के लिए जाना जाता है। वत्सराज ने राजस्थान और मालवा से आगे बढ़कर उत्तर भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। उसके बाद नागभट्ट द्वितीय ने कन्नौज पर अधिकार स्थापित किया। मिहिर भोज के काल में साम्राज्य का विस्तार चरम पर पहुँचा। महेंद्रपाल और महीपाल के समय भी प्रतिहार सत्ता उत्तर भारत की प्रमुख शक्ति बनी रही[2]।प्रतिहार शासकों के ब्राह्मणधर्मी होने के पर्याप्त प्रमाण हैं। उनके अभिलेखों में विष्णु, शिव, सूर्य और देवी की उपासना दिखाई देती है। मंदिर-निर्माण की प्रतिहार शैली मुख्यतः ब्राह्मणधर्मी मंदिरों में विकसित हुई, किंतु यही स्थापत्य भाषा जैन मंदिरों में भी प्रयुक्त हुई। इससे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के मंदिर समान शिल्पी समूहों, स्थापत्य तकनीकों और क्षेत्रीय कलात्मक परंपराओं से जुड़े थे।

प्रारम्भिक मध्यकालीन राज्य आधुनिक अर्थ में धर्मनिरपेक्ष नहीं था, परंतु बहुधार्मिक समाज के प्रशासनिक प्रबंधन के लिए व्यावहारिक सहिष्णुता आवश्यक थी। जैन व्यापारी अर्थव्यवस्था, कर-संग्रह, लंबी दूरी के व्यापार और नगरों की समृद्धि से जुड़े थे। इसलिए राज्य तथा सामंतों के लिए जैन समुदायों की धार्मिक संस्थाओं को सुरक्षा देना राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से उपयोगी था।प्रतिहारकालीन संरक्षण का स्वरूप एकसमान नहीं था। कुछ स्थानों पर प्रतिहार सामंत ने स्वयं मंदिर बनवाया, जैसा घटियाला में कक्कुक के संदर्भ में मिलता है[3]। अन्य स्थानों पर मंदिर व्यापारी द्वारा निर्मित या जीर्णोद्धारित हुआ, किंतु वह प्रतिहार शासन के अंतर्गत सुरक्षित रहा। देवगढ़ में सम्राट भोज, उसके महासामंत विष्णुराम और जैन आचार्य-परंपरा एक ही अभिलेखीय संदर्भ में सामने आते हैं। यह बहुस्तरीय राजनीतिक-धार्मिक संबंध का उदाहरण है।

अभिलेखीय स्रोतों का विश्लेषण

- **ओसियां का महावीर मंदिर अभिलेख**

ओसियां, प्राचीन उपकेश अथवा उकेश, पश्चिमी राजस्थान का एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक और व्यापारिक नगर था। यहाँ शैव, वैष्णव, सूर्य और जैन मंदिरों का निकट सह-अस्तित्व दिखाई देता है। यह सह-अस्तित्व प्रतिहारकालीन धार्मिक संस्कृति की बहुलता का सशक्त उदाहरण है।महावीर मंदिर के नाल-मंडप में प्राप्त विक्रम संवत् 1013, अर्थात् 956–957 ईस्वी के अभिलेख में कहा गया है कि प्रतिहार वंश के वत्सराज के राज्य में विस्तृत उकेश नगर स्थित था और नगर के मध्य महावीर का मंदिर विद्यमान था। अभिलेख स्वयं वत्सराज के समय का नहीं है, बल्कि लगभग डेढ़ शताब्दी बाद मंदिर के मंडप के जीर्णोद्धार के समय अंकित किया गया। इसमें बताया गया कि मंदिर का मंडप जीर्ण हो गया था और मंदिर-समिति अथवा गोष्ठी के अनुरोध पर जिंदक नामक व्यापारी ने उसका पुनर्निर्माण कराया।

इस अभिलेख से तीन महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। प्रथम, वत्सराज के शासनकाल में ओसियां में एक संगठित जैन समुदाय और महावीर मंदिर विद्यमान था। द्वितीय, मंदिर के प्रबंधन के लिए 'गोष्ठी' जैसी सामुदायिक संस्था सक्रिय थी। तृतीय, मंदिर का जीर्णोद्धार व्यापारी जिंदक द्वारा कराया गया, जिससे जैन श्रेष्ठियों की वित्तीय भूमिका स्पष्ट होती है। अतः इसे वत्सराज द्वारा प्रत्यक्ष मंदिर-निर्माण का निर्विवाद प्रमाण कहना उचित नहीं होगा; यह वत्सराज के राज्य में जैन मंदिर की उपस्थिति और बाद के व्यापारी संरक्षण का प्रमाण है। चौधरी के अनुसार अभिलेख की आरंभिक पंक्तियों में ऋषभनाथ और महावीर का आह्वान है। इसके बाद लक्ष्मण से प्रतिहार वंश की उत्पत्ति और वत्सराज के राज्य में उकेश नगर तथा महावीर मंदिर की उपस्थिति का उल्लेख है। अभिलेख के क्षतिग्रस्त भाग से भी यह निश्चित है कि मंदिर-गोष्ठी के अनुरोध पर जिंदक ने मंडप का जीर्णोद्धार कराया था।सोमानी के स्थापत्य विवरण के अनुसार मंदिर एक ऊँची जगती पर निर्मित था और उसमें गर्भगृह, गूढ़मंडप, त्रिकमंडप, तोरण तथा अन्य संरचनाएँ थीं। मूल गर्भगृह आठवीं शताब्दी के अंतिम भाग का माना गया है, जबकि मंडप, तोरण और अन्य भाग बाद के जीर्णोद्धारों में परिवर्तित हुए।ओसियां का प्रमाण यह भी दिखाता है कि किसी धार्मिक स्थल की निरंतरता केवल प्रारम्भिक निर्माण से निर्धारित नहीं होती। उसका अस्तित्व नियमित पूजा, मरम्मत, दान, मंदिर-समिति और व्यापारिक समुदाय के सहयोग पर निर्भर था। महावीर मंदिर का वत्सराज के समय से दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी तक निरंतर विकसित होना जैन समुदाय की संस्थागत स्थिरता का प्रमाण है[4]।

घटियाला का कक्कुक अभिलेख

घटियाला वर्तमान जोधपुर के उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यहाँ से प्राप्त विक्रम संवत् 918 अर्थात् 861 ईस्वी का अभिलेख प्रतिहारकालीन जैन धर्म के इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभिलेख का बड़ा भाग महाराष्ट्री प्राकृत में है और इसमें मंडोर शाखा के प्रतिहारों की विस्तृत वंशावली दी गई है।वंशावली हरिचंद्र और उसकी क्षत्रिय पत्नी भद्रा से आरंभ होती है। आगे रज्जिल, नरभट्ट, नागभट्ट, तात, यशोवर्धन, चंदुक, शीलुक, झोट, भिल्लुक, कक्क और कक्कुक के नाम आते हैं। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह वंशावली अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, किंतु जैन धर्म के अध्ययन के लिए अभिलेख के अंतिम भाग की सूचना अधिक उपयोगी है।अभिलेख के अनुसार प्रतिहार प्रमुख कक्कुक ने जैन मंदिर का निर्माण कराया और उसे धनेश्वर गच्छ के जैन समुदाय को सौंप दिया। जंभव और अंबक नामक जैन साधुओं का भी उल्लेख मिलता है। मंदिर को किसी गच्छ अथवा मठीय समुदाय को सौंपना केवल धार्मिक श्रद्धा का कार्य नहीं था; यह पूजा, संपत्ति, अनुशासन, साधु-निवास और मंदिर के दीर्घकालीन प्रबंधन की संस्थागत व्यवस्था थी।

कक्कुक ने रोहिणीकूप में बाजार स्थापित कराया और रोहिणीकूप तथा मंडोर में दो स्तंभ खड़े कराए। इन स्तंभों को जैन कीर्तिस्तंभों अथवा मानस्तंभों के रूप में देखा गया है। इससे धर्म, नगरीकरण और व्यापार के बीच निकट संबंध दिखाई देता है। बाजार की स्थापना और जैन मंदिर का निर्माण एक ही शासक की गतिविधियों के रूप में दर्ज होना बताता है कि धार्मिक स्थल स्थानीय आर्थिक विकास से पृथक नहीं था।

सोमानी के अनुसार कक्कुक द्वारा निर्मित जैन मंदिर के अवशेष स्थानीय रूप में 'माताजी की शाल' कहलाते थे। मंदिर को धनेश्वर गच्छ के जैन साधुओं के नेतृत्व वाले समुदाय को सौंपा गया था। घटियाला में खड़ा एक स्तंभ 'खाखू देवला' के नाम से जाना गया, जिसे अभिलेख में उल्लिखित स्तंभ से संबद्ध किया गया है। अभिलेख में कक्कुक को आदर्श शासक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो निर्धन और संपन्न, उच्च और निम्न सभी प्रजा के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करता था। यद्यपि यह

प्रशस्तिपरक भाषा है, फिर भी इससे जैन नैतिक आदर्शों और राजधर्म की अवधारणा का समन्वय दिखाई देता है। शासक को मातृवत् प्रजापालक, पक्षपातरहित और जनकल्याणकारी बताना जैन अभिलेखकार द्वारा राजनीतिक वैधता की नैतिक व्याख्या है (सोमानी, 1982, पृ. 38)[5]।

घटियाला का अभिलेख प्रत्यक्ष राजकीय अथवा सामंती संरक्षण का सबसे स्पष्ट उदाहरण है। यहाँ शासक स्वयं मंदिर-निर्माता है, जैन गच्छ को अधिकार देता है, बाजार स्थापित करता है और स्मारक स्तंभ खड़े करता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रतिहार वंश की कम-से-कम कुछ स्थानीय शाखाओं ने जैन धर्म को सक्रिय संरक्षण प्रदान किया।

➢ राजोरगढ़ का शांतिनाथ अभिलेख

राजोरगढ़ वर्तमान अलवर क्षेत्र में स्थित था। यहाँ से प्राप्त विक्रम संवत् 979 का अभिलेख, जिसकी तिथि लगभग 922–923 ईस्वी मानी जाती है, प्रतिहार शासक सावट अथवा सावत के शासनकाल से संबंधित है। अभिलेख में धरकट समुदाय के सर्वदेव द्वारा जैन मंदिर के निर्माण और तीर्थंकर शांतिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है।राजोरगढ़ की शांतिनाथ प्रतिमा स्थानीय रूप में 'नवगजा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। सोमानी ने इसे लाल पत्थर से निर्मित लगभग तेरह फुट नौ इंच ऊँची प्रतिमा बताया है, जिसके ऊपर छत्र अथवा वितान की व्यवस्था थी।

राजोरगढ़ का अभिलेख ओसियां और घटियाला से अलग प्रकार का संरक्षण प्रस्तुत करता है। यहाँ मंदिर और प्रतिमा का निर्माण किसी राजा द्वारा नहीं, बल्कि धरकट सर्वदेव द्वारा कराया गया था। शासक का नाम काल-निर्धारण और राजनीतिक अधिपत्य को दर्शाता है, जबकि वास्तविक दाता स्थानीय जैन गृहस्थ था। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिहार राजनीतिक अधिकार के अंतर्गत जैन समुदायों को विशाल धार्मिक स्मारक खड़े करने की आर्थिक और सामाजिक क्षमता प्राप्त थी।

विशालकाय प्रतिमा की स्थापना के लिए केवल व्यक्तिगत श्रद्धा पर्याप्त नहीं थी। इसके लिए पत्थर, शिल्पी, परिवहन, भूमि, मंदिर-निर्माण, अनुष्ठान और सामुदायिक सहयोग की आवश्यकता रही होगी। अतः राजोरगढ़ का प्रमाण स्थानीय जैन समुदाय की संपन्नता और संगठित अवस्था का संकेत है।

➢ देवगढ़ का भोजकालीन शांतिनाथ अभिलेख

बुंदेलखंड क्षेत्र में बेतवा नदी के निकट स्थित देवगढ़ जैन धर्म का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थल है। यहाँ जैन मंदिरों, तीर्थंकर प्रतिमाओं, मानस्तंभों और अभिलेखों की बड़ी संख्या प्राप्त हुई है। प्रतिहार सम्राट मिहिर भोज के काल का स्तंभ अभिलेख देवगढ़ को प्रतिहारकालीन जैन धर्म के अध्ययन का प्रमुख केंद्र बनाता है।अभिलेख में विक्रम संवत् 919 और शक संवत् 784 दोनों तिथियाँ दी गई हैं, जो 862 ईस्वी के अनुरूप हैं। यह शांतिनाथ मंदिर में प्राप्त हुआ और इससे पता चलता है कि मंदिर इस तिथि से पहले विद्यमान था। अभिलेख में देवगढ़ का प्राचीन नाम लुअच्छगिरि अथवा लच्छगिरि मिलता है। इसमें प्रतिहार सम्राट भोज के अधीन महासामंत विष्णुराम और आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव का उल्लेख है।यह अभिलेख एक बहुस्तरीय संरक्षण-संबंध प्रस्तुत करता है[6]। शीर्ष स्तर पर महाराजाधिराज भोज है; उसके अधीन महासामंत विष्णुराम है; स्थानीय स्तर पर श्रीदेव और जैन आचार्य-परंपरा है; और स्मारक के रूप में शांतिनाथ मंदिर का स्तंभ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन धार्मिक संस्थाएँ साम्राज्य की सामंती-प्रशासनिक संरचना के भीतर कार्य करती थीं।

देवगढ़ में श्वेतांबर परंपरा की अपेक्षा दिगंबर जैन परंपरा का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। नग्न कायोत्सर्ग तीर्थंकर प्रतिमाएँ, आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, शांतिनाथ और महावीर की मूर्तियाँ, सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ, चौबीसी पट्ट, आचार्य प्रतिमाएँ और मानस्तंभ इसके धार्मिक वैभव का प्रमाण हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रतिहार साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में जैन धर्म का सांप्रदायिक स्वरूप भी भिन्न था—पश्चिमी राजस्थान में श्वेतांबर संस्थाएँ प्रमुख थीं, जबकि मध्य भारत और बुंदेलखंड में दिगंबर परंपरा सशक्त थी।

साहित्यिक स्रोतों का विश्लेषण

➢ उद्योतनसूरि की कुवलयमाला

उद्योतनसूरि की प्राकृत रचना *कुवलयमाला* का समापन शक संवत् 700 अर्थात् 778 ईस्वी में जाबालिपुर अथवा जालौर में हुआ था। ग्रंथ की प्रशस्ति में उस समय के शासक वत्सराज का उल्लेख 'रणहस्तिन' जैसे विशेषण के साथ किया गया

है। इससे ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी के अंतिम भाग में जालौर प्रतिहार वत्सराज के राजनीतिक प्रभाव में था।*कुवलयमाला* केवल धार्मिक कथा नहीं है। इसमें नगरों, बाजारों, व्यापारियों, कारीगरों, यात्राओं, भाषाओं, सामाजिक समूहों और धार्मिक संप्रदायों का जीवंत वर्णन मिलता है। इसलिए यह प्रतिहारकालीन पश्चिमी भारत की नगरीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। ग्रंथ के रचनास्थल जालौर में जैन मंदिर की उपस्थिति और साहित्य-सृजन से संकेत मिलता है कि वहाँ आचार्यों, शिष्यों, प्रतिलिपिकारों, दाताओं और श्रोताओं का संगठित वातावरण था।सोमानी ने *कुवलयमाला* की प्रशस्ति के आधार पर जालौर में ऊँचे शिखर वाले विशाल जैन मंदिर का उल्लेख किया है। यह विवरण राजस्थान में दसवीं शताब्दी से पहले जैन स्थापत्य की उपस्थिति प्रमाणित करता है (सोमानी, 1982, पृ. 1; *कुवलयमाला*, संपादित संस्करण, पृ. 282, पं. 21)।

वत्सराज की प्रशंसा को प्रत्यक्ष जैन-धर्म संरक्षण का अंतिम प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। मध्यकालीन ग्रंथकार अपने रचनास्थल के शासक का उल्लेख राजनीतिक काल-सूचक और प्रशस्तिपरक परंपरा के अंतर्गत करते थे। फिर भी जैन आचार्य द्वारा उसके राज्य में निर्बाध साहित्य-सृजन यह दिखाता है कि राजनीतिक वातावरण जैन विद्वत्ता के प्रतिकूल नहीं था।

- **जिनसेन का हरिवंशपुराण**

दिगंबर आचार्य जिनसेन ने 783 ईस्वी में *हरिवंशपुराण* की रचना पूर्ण की। ग्रंथ के अंतिम श्लोकों में चार दिशाओं के प्रमुख शासकों का उल्लेख मिलता है। इनमें वत्सादिराज अथवा वत्सराज का नाम भी आता है। इस उल्लेख की भौगोलिक व्याख्या पर इतिहासकारों में मतभेद रहा है। कुछ विद्वानों ने इसे प्रतिहार वत्सराज से जोड़ा, जबकि अन्य ने समान नाम वाले किसी दूसरे शासक की संभावना व्यक्त की।

यह विवाद स्वयं स्रोत-आलोचना की आवश्यकता को रेखांकित करता है। *हरिवंशपुराण* से इतना निश्चित कहा जा सकता है कि 783 ईस्वी के राजनीतिक भूगोल में वत्सराज नामक एक शक्तिशाली पश्चिमी अथवा अवंति-संबद्ध राजा प्रसिद्ध था। इसे प्रतिहार वत्सराज से जोड़ने पर *कुवलयमाला* की सूचना से सामंजस्य स्थापित होता है, किंतु केवल इस आधार पर प्रत्यक्ष जैन संरक्षण सिद्ध नहीं किया जा सकता।जिनसेन का ग्रंथ जैन दृष्टिकोण से कृष्ण और महाभारत-हरिवंश परंपरा का पुनर्पाठ प्रस्तुत करता है। इससे जैन लेखकों की बौद्धिक सक्रियता और ब्राह्मणधर्मी आख्यानों के साथ उनके संवाद का परिचय मिलता है[7]। जैन साहित्य अपनी पृथक धार्मिक पहचान बनाए रखते हुए व्यापक संस्कृत सांस्कृतिक संसार से संवाद कर रहा था। *हरिवंशपुराण* के अंतिम श्लोक 66.52–54 इसके रचनाकाल और राजनीतिक संदर्भ की सूचना देते हैं। आधुनिक अध्ययन भी इसकी रचना 783 ईस्वी में स्वीकार करता है।

- **धर्मोपदेशमाला और नागौर**

धर्मोपदेशमाला की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसका संबंध नागौर क्षेत्र से था और वहाँ अनेक सुंदर जैन मंदिर विद्यमान थे। इसकी तिथि विक्रम संवत् 915 के आसपास मानी गई है। नागौर पश्चिमी राजस्थान के व्यापारिक मार्गों पर स्थित प्रमुख नगर था। यहाँ जैन मंदिरों की बहुलता व्यापारिक समुदाय और धार्मिक संस्थाओं के निकट संबंध का संकेत है।नागौर का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि प्रतिहारकालीन जैन धर्म केवल कुछ प्रसिद्ध राजधानियों या तीर्थों तक सीमित नहीं था। वह व्यापारिक नगरों के नेटवर्क में फैला हुआ था। जालौर, भीनमाल, ओसियां, मंडोर, नागौर और घटियाला को एक साथ देखने पर पश्चिमी राजस्थान में जैन धार्मिक और आर्थिक केंद्रों की एक श्रृंखला दिखाई देती है[8]।

- **उत्तरवर्ती प्रबंध साहित्य**

उत्तरवर्ती जैन प्रबंध ग्रंथों में प्रतिहार शासकों और जैन आचार्यों के संबंधों की अनेक कथाएँ मिलती हैं। कुछ परंपराएँ नागभट्ट द्वितीय अथवा 'आम' नामक शासक को जैन विद्वानों का संरक्षक बताती हैं। किंतु ये ग्रंथ घटनाओं के कई शताब्दियों बाद लिखे गए थे। उनमें ऐतिहासिक स्मृति के साथ चमत्कार, धार्मिक महिमा और संप्रदायगत दावे भी जुड़े हैं।

इन स्रोतों को पूर्णतः अस्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि वे जैन समुदाय की ऐतिहासिक स्मृति को संरक्षित करते हैं। फिर भी प्रत्यक्ष अभिलेखीय पुष्टि के बिना उनसे निकले निष्कर्षों को संभावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उत्तरवर्ती परंपराएँ यह अवश्य संकेत करती हैं कि प्रतिहार शासकों को जैन स्मृति में शत्रु या उत्पीड़क के रूप में नहीं, बल्कि विद्वानों और विभिन्न धार्मिक परंपराओं के प्रति उदार शासकों के रूप में याद किया गया।

पुरातात्त्विक और स्थापत्य स्रोत

➢ ओसियां का महावीर मंदिर

ओसियां का महावीर मंदिर प्रतिहारकालीन जैन स्थापत्य और उसके बाद हुए विकास का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। मूल मंदिर में गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, अंतराल, गूढ़मंडप, मुखमंडप और प्रवेश-चतुष्की की व्यवस्था थी। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में इसमें देवकुलिकाएँ, तोरण, नया शिखर और अन्य संरचनाएँ जोड़ी गई।मंदिर का स्थापत्य यह दिखाता है कि जैन मंदिरों ने समकालीन उत्तर भारतीय नागर शैली को अपनाया, किंतु अपनी धार्मिक आवश्यकताओं के अनुसार उसे परिवर्तित किया। तीर्थंकरों, विद्यादेवियों, यक्ष-यक्षिणियों, दिक्पालों और अन्य जैन देवताओं का अंकन जैन प्रतिमा-विज्ञान के विकसित स्वरूप को दर्शाता है।घोष के अनुसार ओसियां का मंदिर मूलतः वत्सराज के शासनकाल में निर्मित हुआ था। उसमें गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, अंतराल, बंद मंडप, खुला मंडप और प्रवेश-चतुष्की थी। 956 ईस्वी में उसका आंशिक जीर्णोद्धार हुआ और ग्यारहवीं शताब्दी में देवकुलिकाएँ, तोरण और शिखर जोड़े गए। मंदिर के विभिन्न निर्माण-चरण प्रतिहार से चाहमान काल तक जैन स्थापत्य के विकास को प्रदर्शित करते हैं (घोष, 1975, खंड 2, पृ. 246–248)।ओसियां में जैन और ब्राह्मणधर्मी मंदिरों की स्थापत्य समानता उल्लेखनीय है। दोनों में स्थानीय लाल बलुआ पत्थर, ऊँची जगती, अलंकृत द्वार, मंडप और नागर शिखर का प्रयोग हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक समुदाय अलग होने के बावजूद निर्माण-प्रौद्योगिकी, शिल्पी और कलात्मक परंपराएँ साझा थीं।

➢ देवगढ़ का जैन मंदिर समूह

देवगढ़ में जैन मंदिरों का समूह कई शताब्दियों में विकसित हुआ। शांतिनाथ मंदिर, जिसे मंदिर संख्या 12 भी कहा जाता है, प्रतिहारकालीन चरण का प्रमुख स्मारक है। देवगढ़ के मंदिरों में द्वार, स्तंभ, मंडप, सभा-स्थल, मानस्तंभ और देवप्रतिमाओं की विस्तृत योजना मिलती है। बड़ी संख्या में तीर्थंकर प्रतिमाएँ यह संकेत करती हैं कि मंदिर केवल पूजा-स्थल नहीं, बल्कि प्रतिमा-प्रतिष्ठा और दान की निरंतर परंपरा के केंद्र थे। जैन गृहस्थ अपनी धार्मिक पुण्य-स्मृति को स्थायी बनाने के लिए मूर्तियाँ और स्तंभ स्थापित कराते थे।देवगढ़ की मूर्तियों में आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, सुमतिनाथ, शांतिनाथ और महावीर प्रमुख हैं। साथ ही चौबीसी, सर्वतोभद्रिका, सहस्रकूट, शासनदेवियाँ, आचार्य, उपाध्याय, श्रावक और श्राविकाओं का अंकन मिलता है। मूर्तियों में उत्तर-गुप्त, प्रतिहार और बाद की चंदेल शैली के तत्व दिखाई देते हैं, जो स्थल की दीर्घ कलात्मक निरंतरता को प्रमाणित करते हैं[9]।

➢ राजोरगढ़ की शांतिनाथ प्रतिमा

राजोरगढ़ की विशाल शांतिनाथ प्रतिमा जैन समुदाय की आर्थिक क्षमता और मूर्ति-पूजा की विकसित परंपरा का प्रमाण है। प्रतिमा की ऊँचाई और विशालता उसे साधारण व्यक्तिगत प्रतिष्ठा से ऊपर सामुदायिक स्मारक बनाती है। इसका निर्माण लाल पत्थर से हुआ और इसके ऊपर छत्र अथवा वितान की व्यवस्था थी।जैन दर्शन में तीर्थंकर वीतराग और निर्विकार होते हैं। विशाल कायोत्सर्ग प्रतिमा साधक के सामने तप, वैराग्य और आत्मसंयम का आदर्श प्रस्तुत करती है। साथ ही उसका सार्वजनिक आकार समुदाय की धार्मिक उपस्थिति को राजनीतिक भू-दृश्य में स्थापित करता है। इस प्रकार प्रतिमा आध्यात्मिक प्रतीक होने के साथ सामाजिक दृश्यता का माध्यम भी थी।

➢ घटियाला और मंडोर के अवशेष

घटियाला का मूल जैन मंदिर अब पूर्ण रूप में सुरक्षित नहीं है, किंतु अभिलेख, स्तंभ और भग्न अवशेष उसके ऐतिहासिक अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। मंदिर का विनाश अथवा परिवर्तन बाद के संघर्षों, प्राकृतिक क्षरण और धार्मिक उपयोग में बदलाव का परिणाम हो सकता है। ऐसे स्थलों पर केवल वर्तमान दृश्य अवशेषों के आधार पर अतीत का आकलन करना भ्रामक होगा; अभिलेख पुरातात्त्विक मौन को भरते हैं।मंडोर में भी सातवीं से दसवीं शताब्दी के बीच जैन मंदिरों की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं। घटियाला अभिलेख में मंडोर में स्तंभ की स्थापना का उल्लेख दोनों स्थलों को एक धार्मिक-राजनीतिक नेटवर्क से जोड़ता है। मंडोर शाखा के प्रतिहारों के लिए जैन स्मारक स्थानीय वैधता, दानशीलता और नगर-विकास के प्रतीक रहे होंगे[10]।

➢ मध्य भारत के अन्य जैन अवशेष

अमरोल से आदिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। बड़ोह-पठारी क्षेत्र में दसवीं शताब्दी के आसपास का जैन मंदिर परिसर पाया गया है, जिसमें देवकुलिकाओं की चतुर्भुज व्यवस्था और नागर शैली के शिखर दिखाई देते हैं। इन स्थलों पर प्रत्यक्ष शाही अभिलेख न होने के कारण प्रत्येक संरचना को राजकीय निर्माण कहना उचित नहीं होगा। फिर भी उनका प्रतिहार राजनीतिक क्षेत्र में होना जैन धर्म की व्यापक भौगोलिक उपस्थिति को प्रमाणित करता है।

जैन धर्म के संरक्षण का स्वरूप

➢ प्रत्यक्ष राजकीय और सामंती संरक्षण

घटियाला का कक्कुक अभिलेख प्रत्यक्ष सामंती संरक्षण का स्पष्ट प्रमाण है। कक्कुक स्वयं मंदिर बनवाता है, उसे जैन गच्छ को सौंपता है और स्तंभ स्थापित करता है। देवगढ़ में भोज और महासामंत विष्णुराम का उल्लेख जैन संस्था तथा साम्राज्य की प्रशासनिक संरचना के संबंध को प्रदर्शित करता है।इसके विपरीत ओसियां में वत्सराज द्वारा मंदिर बनवाए जाने का प्रत्यक्ष समकालीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बाद का अभिलेख केवल यह बताता है कि उसके शासनकाल में मंदिर अस्तित्व में था। अतः प्रत्यक्ष संरक्षण और राजनीतिक सहिष्णुता के प्रमाणों को अलग-अलग रखना चाहिए।

➢ व्यापारी और श्रेष्ठी वर्ग की भूमिका

जैन धर्म की शक्ति का प्रमुख आधार व्यापारी और श्रेष्ठी वर्ग था। ओसियां में जिंदक द्वारा मंडप का जीर्णोद्धार, राजोरगढ़ में सर्वदेव द्वारा मंदिर और प्रतिमा की स्थापना तथा अन्य स्थलों पर प्रतिमा-दान इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।व्यापारी समुदायों के लिए मंदिर धार्मिक पुण्य का साधन होने के साथ सामाजिक प्रतिष्ठा, सामुदायिक संगठन और आर्थिक नेटवर्क का केंद्र था। मंदिरों में यात्रियों और साधुओं के ठहरने, उत्सवों, धार्मिक शिक्षा, दान-वितरण और सामुदायिक सभाओं की व्यवस्था होती थी। मंदिर-निर्माण द्वारा व्यापारी अपनी संपत्ति को धार्मिक वैधता और सामाजिक स्मृति में परिवर्तित करते थे[11]।

➢ गच्छ, संघ और आचार्य-परंपरा

घटियाला में धनेश्वर गच्छ, देवगढ़ में सरस्वती गच्छ और मूलसंघ तथा ओसियां में मंदिर-गोष्ठी का उल्लेख जैन धर्म के संस्थागत संगठन को दर्शाता है। आचार्य केवल धार्मिक उपदेशक नहीं थे; वे मंदिर-प्रबंधन, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, ग्रंथ-रचना, शिष्यों के प्रशिक्षण और दाताओं को प्रेरित करने में सक्रिय थे।जैन साधुओं की भ्रमणशील परंपरा ने विभिन्न नगरों के बीच धार्मिक संबंध बनाए। उनके माध्यम से ग्रंथ, आचार-विचार, दानदाता और शिल्पी नेटवर्क एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक पहुँचते थे। पश्चिमी राजस्थान में श्वेतांबर गच्छों और मध्य भारत में दिगंबर मूलसंघ की उपस्थिति जैन धर्म की क्षेत्रीय विविधता को दर्शाती है।

मंदिर-समिति की भूमिका

ओसियां अभिलेख की 'गोष्ठी' सामुदायिक प्रशासन का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। गोष्ठी संभवतः प्रतिष्ठित श्रावकों, श्रेष्ठियों और मंदिर के पदाधिकारियों का समूह थी। उसने जीर्ण मंदिर की मरम्मत का निर्णय लिया और जिंदक को कार्य कराने के लिए प्रेरित किया।इससे यह स्पष्ट होता है कि मंदिरों का जीवन केवल एक बार के राजकीय दान पर निर्भर नहीं था। उनकी निरंतरता के लिए लेखा, आय, संपत्ति, पूजा, मरम्मत और उत्सवों का नियमित प्रबंधन आवश्यक था। जैन समुदाय ने ऐसी संस्थाएँ विकसित कर ली थीं जो राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन के बावजूद मंदिरों को बनाए रख सकती थीं।

जैन धर्म, नगर और व्यापार

जैन धर्म के प्रमुख प्रतिहारकालीन केंद्र जालौर, भीनमाल, ओसियां, नागौर, मंडोर और देवगढ़—व्यापारिक अथवा सामरिक मार्गों पर स्थित थे। इन नगरों में व्यापारी समुदाय की उपस्थिति ने जैन धार्मिक संस्थाओं को आर्थिक आधार प्रदान किया।अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह जैसे जैन सिद्धांतों को कभी-कभी व्यापारिक जीवन से विरोधी समझा जाता है, किंतु जैन गृहस्थ आचार ने सीमित परिग्रह, नैतिक व्यापार और दान की व्यवस्था के माध्यम से व्यापारियों को धार्मिक जीवन का व्यावहारिक मार्ग दिया। अर्जित संपत्ति का एक भाग मंदिर, प्रतिमा, साधु-संघ, जल-सुविधा और जनकल्याण में लगाया जाता था।घटियाला में बाजार स्थापना और जैन मंदिर निर्माण का एक ही अभिलेख में मिलना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह बताता है कि शासक द्वारा आर्थिक केंद्र विकसित करने और धार्मिक संस्था स्थापित करने की प्रक्रियाएँ परस्पर जुड़ी थीं। बाजार लोगों,

वस्तुओं और धन को आकर्षित करता था; मंदिर विश्वास, सामाजिक अनुशासन और सामुदायिक पहचान प्रदान करता था।ओसियां भी व्यापारिक मार्गों से जुड़ा समृद्ध नगर था। जैन व्यापारी समुदाय की आर्थिक शक्ति ने मंदिर के बार-बार जीर्णोद्धार और विस्तार को संभव बनाया[12]। इसी प्रकार देवगढ़ का स्थान उत्तर भारत और मध्य भारत के बीच संपर्क क्षेत्र में था। वहाँ मंदिरों और अभिलेखों की बड़ी संख्या एक स्थायी तीर्थ-अर्थव्यवस्था की संभावना प्रस्तुत करती है।

धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक अंतःक्रिया

प्रतिहारकालीन धार्मिक संस्कृति को केवल अलग-अलग धार्मिक समुदायों के समानांतर अस्तित्व के रूप में नहीं देखा जा सकता। मंदिर स्थापत्य, मूर्तिकला, भाषा और साहित्य में निरंतर सांस्कृतिक अंतःक्रिया दिखाई देती है।ओसियां में जैन महावीर मंदिर के निकट हरिहर, सूर्य और अन्य ब्राह्मणधर्मी मंदिर स्थित हैं। उनके स्थापत्य में समान शिल्प-भाषा दिखाई देती है। जैन मंदिरों में दिक्पाल, सरस्वती, लक्ष्मी और अन्य साझा देव-रूपों का समावेश हुआ। दूसरी ओर जैन तीर्थंकरों और यक्ष-यक्षिणियों ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाए रखी।जिनसेन के *हरिवंशपुराण* में कृष्ण आख्यान का जैन पुनर्गठन धार्मिक संवाद का साहित्यिक उदाहरण है। जैन लेखक ब्राह्मणधर्मी महाकाव्य परंपरा को अस्वीकार करने के बजाय उसका पुनर्पाठ करते हैं। इसमें कृष्ण और पांडवों को जैन विश्व-दृष्टि, कर्म, अहिंसा और मोक्ष-मार्ग के अनुरूप पुनःस्थापित किया गया।

क्या प्रतिहार काल में जैन धर्म पतनशील था?

कुछ सामान्य ऐतिहासिक विवरणों में प्रतिहारकाल को उत्तर भारत में जैन और बौद्ध धर्म के पतन तथा ब्राह्मण धर्म के उत्कर्ष का काल बताया गया है। यह निष्कर्ष आंशिक रूप से राजकीय अभिलेखों में वैष्णव और शैव देवताओं की प्रधानता पर आधारित है। किंतु जैन धर्म की स्थिति का विस्तृत क्षेत्रीय अध्ययन इस सरल निष्कर्ष को चुनौती देता है।यदि राजकीय धर्म को ही धार्मिक समृद्धि का एकमात्र मापदंड माना जाए, तो जैन धर्म गौण दिखाई दे सकता है। किंतु मंदिरों, मूर्तियों, अभिलेखों, ग्रंथों और व्यापारी दानों के आधार पर देखने पर उसका संस्थागत जीवन सक्रिय था। जालौर में साहित्य-सृजन, ओसियां में मंदिर की निरंतरता, घटियाला में प्रत्यक्ष सामंती संरक्षण, राजोरगढ़ में विशाल प्रतिमा और देवगढ़ में मंदिर-समूह किसी व्यापक पतन का संकेत नहीं देते।यह सही है कि जैन धर्म की स्थिति सभी क्षेत्रों में समान नहीं थी। कन्नौज की साम्राज्यवादी राजधानी में जैन स्मारकों के प्रमाण पश्चिमी राजस्थान अथवा देवगढ़ जितने प्रचुर नहीं हैं[13]। संभव है कि प्रतिहार सत्ता के मध्य क्षेत्र में ब्राह्मणधर्मी संस्थाओं को अधिक संरक्षण मिला हो, जबकि सीमांत और व्यापारिक क्षेत्रों में जैन समुदाय अधिक प्रभावशाली रहा हो।इसलिए 'पतन' के स्थान पर 'क्षेत्रीय पुनर्संयोजन' की अवधारणा अधिक उपयुक्त है। जैन धर्म का केंद्र प्राचीन मथुरा जैसे स्थलों से धीरे-धीरे राजस्थान, गुजरात, बुंदेलखंड और दक्कन के व्यापारिक क्षेत्रों की ओर स्थानांतरित हुआ।

निष्कर्ष

गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की स्थिति का अध्ययन प्रारम्भिक मध्यकालीन भारतीय राज्य और धर्म के संबंधों को समझने का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। इस काल के स्रोत यह दिखाते हैं कि किसी वंश की व्यक्तिगत अथवा राजकीय धार्मिक पहचान उसके अधीन रहने वाले सभी समुदायों की स्थिति निर्धारित नहीं करती। प्रतिहार शासक सामान्यतः ब्राह्मणधर्मी थे, किंतु उनके विस्तृत राज्य में जैन धर्म को अस्तित्व, संगठन और विकास के अवसर प्राप्त हुए।ओसियां का महावीर मंदिर प्रमाणित करता है कि वत्सराज के समय पश्चिमी राजस्थान में एक संगठित जैन मंदिर और समुदाय विद्यमान था। दसवीं शताब्दी में जिंदक द्वारा मंदिर के मंडप का जीर्णोद्धार और मंदिर-गोष्ठी की सक्रियता जैन संस्थाओं की सामुदायिक शक्ति को दर्शाती है। घटियाला का कक्कुक अभिलेख प्रत्यक्ष सामंती संरक्षण का प्रमाण है, जहाँ शासक ने जैन मंदिर बनवाकर उसे धनेश्वर गच्छ को सौंपा और धार्मिक स्मृति से जुड़े स्तंभ स्थापित कराए। राजोरगढ़ में सर्वदेव द्वारा शांतिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा स्थानीय जैन गृहस्थ समुदाय की संपन्नता और धार्मिक आत्मविश्वास को व्यक्त करती है। देवगढ़ का भोजकालीन स्तंभ अभिलेख प्रतिहार सम्राट, महासामंत और जैन आचार्य-परंपरा के बहुस्तरीय संबंध को सामने लाता है।

साहित्यिक स्रोत इस भौतिक साक्ष्य को विस्तृत सांस्कृतिक संदर्भ प्रदान करते हैं। *कुवलयमाला* जालौर के जैन धार्मिक और नगरीय जीवन की झलक देती है। *हरिवंशपुराण* जैन विद्वत्ता की रचनात्मक क्षमता और तत्कालीन राजनीतिक संसार के प्रति उसकी जागरूकता का प्रमाण है। *धर्मोपदेशमाला* नागौर जैसे व्यापारिक नगर में जैन मंदिरों की बहुलता का संकेत करती है। इन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि जैन साधु केवल एकांत साधना में संलग्न नहीं थे; वे नगर, दरबार, व्यापारी समाज और बहुभाषी साहित्यिक संस्कृति से सक्रिय रूप से जुड़े थे।पुरातात्त्विक स्रोत जैन धर्म की दृश्य और संस्थागत उपस्थिति को प्रमाणित करते हैं।

ओसियां का महावीर मंदिर प्रतिहारकालीन स्थापत्य से मध्यकालीन मारु-गुर्जर शैली की ओर विकास को दर्शाता है। देवगढ़ के मंदिर और प्रतिमाएँ दिगंबर जैन कला के बड़े केंद्र की ओर संकेत करती हैं। राजोरगढ़ की विशाल शांतिनाथ प्रतिमा और घटियाला के स्तंभ धार्मिक स्मृति को सार्वजनिक भू-दृश्य में स्थापित करते हैं।[14]

'राजकीय संरक्षण' एक बहुस्तरीय प्रक्रिया थी। राजा द्वारा स्वयं मंदिर बनवाना इसका केवल एक रूप था। प्रशासनिक सुरक्षा, भूमि पर अधिकार, सामंतों की स्वायत्तता, व्यापारी संपत्ति, मंदिर-समिति की व्यवस्था और आचार्य की धार्मिक प्रतिष्ठा मिलकर धार्मिक संस्था को स्थायित्व देते थे। प्रतिहार राज्य की विकेंद्रीकृत सामंती संरचना ने स्थानीय शक्तियों और नगरीय समुदायों को पर्याप्त क्रियाशीलता प्रदान की। जैन धर्म ने इसी संरचना के भीतर अपने व्यापारिक, मठीय और धार्मिक नेटवर्क विकसित किए।गुर्जर-प्रतिहार काल में जैन धर्म की स्थिति को न तो पूर्ण राजकीय प्रभुत्व और न ही निरंतर पतन के रूप में समझा जाना चाहिए। यह धार्मिक बहुलता, क्षेत्रीय संरक्षण, नगरीय अर्थव्यवस्था और सामुदायिक आत्मनिर्भरता पर आधारित सक्रिय धार्मिक परंपरा थी। प्रतिहारकालीन जैन धर्म का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में धार्मिक समुदाय केवल राजाओं की कृपा पर निर्भर नहीं थे; वे अपने सामाजिक और आर्थिक संगठनों के माध्यम से राजनीतिक परिवर्तन के बीच भी दीर्घकालिक सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने में सक्षम थे।

संदर्भ :-

[1] भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण. (1908-1909). *भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की वार्षिक रिपोर्ट*. भारत सरकार, प्र. 108.

[2] भंडारकर, डी. आर. (1907-1908). *कक्कुका के घटियाला शिलालेख: संवत 918*. एपिग्राफिया इंडिका, 9, 277-281.

[3] चटर्जी, ए.के. (2000). *जैन धर्म का एक व्यापक इतिहास: खंड. मैं*, आरंभिक शुरुआत से 1000 ई. तक (दूसरा संशोधित संस्करण). मुंशीराम मनोहरलाल, प्र. 133-148.

[4] चौहान, एस.के. (2025). *मुझे जानना, तुम्हें जानना: जिनसेना के हरिवंशपुराण के अनुसार हिंदू देवी परंपराएं*. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ हिंदू स्टडीज, 29, 85-109.

[5] सोमानी, 1982, पृ. 38

[6] चौधरी, जी.सी. (1963). *जैन स्रोतों से उत्तरी भारत का राजनीतिक इतिहास*, सी. 650 ई. से 1300 ई. सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, प्रा. 36-42.

[7] घोष, ए. (सं.). (1975ए). *जैन कला और वास्तुकला* (खंड 2). भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 246-248.

[8] घोष, ए. (सं.). (1975बी). *जैन कला और वास्तुकला* (खंड 3). भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 333 एवं 343.

[9] घोष, 1975, खंड 3, पृ. 343

[10] रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल. (1895). *घटियाला शिलालेख*. पृ. 513-525.

[11] रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल. (1895). *घटियाला शिलालेख*. पृ. 513-525.

[12] सोमानी, आर.वी. (1982). *राजस्थान के जैन शिलालेख*. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, प्रा. 1-2, 15, 38, 95-97 एवं 154-155.

[13] त्रिवेदी, आर. डी. (1990). *मध्य भारत में प्रतिहार काल के मंदिर*. भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, पृ. 100-105.

[14] उद्द्योतनसूरि. (1959). *कुवलयमाला (संपादित संस्करण)*. सिंघी जैन ग्रंथमाला, पं. 282, पंक्ति 21.

Received: 11.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

गीतऋषि गोपालदास नीरज के काव्य में भारतबोध

रेखा वर्मा*
rekha18.varma@gmail.com

प्रो. प्रीति सागर†
preetisagar@hindivishwa.ac.in

शोधसार –
भारतबोध वह विशिष्ट जीवन प्रणाली है, जिसमें समूचे मानवीय समाज के सहअस्तित्व, सहयोग एवं सर्वांगीण विकास का प्रयत्न समाहित है। कवि नीरज हिंदी काव्य जगत के ऐसे रचना शिल्पी है जिनके जीवन एवं रचना संसार में भारतीयता की पुकार व गुहार, कई रूपों में अनुगुंजित हुई है। उनके काव्य में वर्णित भारत महज भौगोलिक सीमा रेखा में आबद्ध भौतिक भू – भाग नहीं है अपितु वह एक ऐसी वैचारिक आत्मिक चेतना है जिसमें, साम्प्रदायिक सौहार्द्र, मानवीय संवेदनाएं विश्वशान्ति एवं बंधुत्व की भावना, अतीत का गौरव, राष्ट्रीय ओजस्विता व आध्यात्मिक चेतना अपनी जीवन्तता के साथ समाविष्ट है। उनका काव्य यहाँ के कण-कण में रची बसी साझी संस्कृति के प्रति एक गहरा आत्मानुराग अभिव्यक्त करता है। उनकी भावभूमि भारतीयता से सिक्त है, वह उस सभ्यता का परिचय एवं उपवृंहण है, जो चिरंतर, चिंतन, मनन व प्रकाश अन्वेषण की ओर अग्रसर है।नीरज का काव्य तात्कालीन विश्व के लिय शान्ति, मैत्री एवं सौहार्द्र का एक अद्भुत विकल्प प्रस्तुत करने में सक्षम है। जिसकी सम्पूर्ण विश्व को महती आवश्यकता है।

बीजशब्द –

भारतबोध, नीरज, ऐतिहासिक अस्मिता, लोक संस्कृति, सांप्रदायिक एकता, सद्भाव, मानवता, समसामयिक बोध, विश्वबंधुत्व, सौंदर्य, दर्शन।

प्रस्तावना –

भारतीय सभ्यता, संस्कृति, आध्यात्मिक आदर्शों व दार्शनिक जीवन मूल्यों को अपने अंतःकरण में सिंचित करने के भाव का नाम है – 'भारतबोध'। यह आतंरिक आत्मानुभूति से परिपूर्ण वैचारिक अनुष्ठान है, जो भारत वर्ष को भौगोलिक सीमाओं से परे एक जीवंत ईकाई के रूप में परिनिष्ठित करता है। भारतबोध वह विशिष्ट जीवन प्रणाली है,जिसमें समूचे मानवीय समाज के सहअस्तित्व, सहयोग एवं सर्वांगीण विकास का प्रयत्न समाहित है। यह भारतवर्ष को उसके मूल स्वरुप के साथ जानने व देखने का प्रयास है।

प्रो. रजनीश कुमार शुक्ला के अनुसार – *"भारतबोध राष्ट्रीयता है, संस्कृति है, और धर्म भी है। भारतबोध पद से जो अर्थ अभिहित होता है वह सनातन और निरंतर सभ्यता की जीवन प्रणाली का अर्थाभिधान है। भारत को जानना मनुष्य की सभ्यता के मूलार्थ और लक्ष्य को जानना है।"[1]*

इस प्रकार से भारतबोध – भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जीवन मूल्यों व आदर्शों को उसके अपने संदर्भ में देखने की परंपरा है। जिसमें नैरंतर्य है, जीवटता है, धर्म, नैतिकता तथा जीवन-दर्शन का सुन्दर समन्वय है। जो संपूर्ण विश्व को एक कुटुंब मानकर मानवता की रक्षा एवं विकास में चीरकाल से प्रयत्नशील है।

* **शोधार्थी, हिंदी साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)**

† **शोध निर्देशिका एवं अधिष्ठात्री, भाषा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

साहित्य जगत में भारतीयता का यह बोध – कथा, कहानी, उपन्यास, गीत व कविता आदि साहित्यिक विधाओं के रूप में अभिव्यक्ति पा कर मुखरित हुआ है। भारतीय मूल्यों एवं संस्कृति की जड़ों को सदैव सिंचित रखने वाले साहित्यकारों में से एक हैं गीतऋषि – गोपालदास सक्सेना 'नीरज'। नीरज हिंदी काव्य जगत के ऐसे रचना शिल्पी है जिनके जीवन एवं रचना संसार में भारतीयता की पुकार व गुहार, कई रूपों में अनुगुंजित हुई है। उनके काव्य में वर्णित भारत महज भौगोलिक सीमा रेखा में आबद्ध भौतिक भू – भाग नहीं है अपितु वह एक ऐसी वैचारिक आत्मिक चेतना है जिसमें, साम्प्रदायिक सौहार्द्र, मानवीय संवेदनाएँ, विश्वशान्ति, बंधुत्व की भावना, अतीत का गौरव, राष्ट्रीय ओजस्विता व आध्यात्मिक चेतना अपनी जीवन्तता के साथ समाविष्ट है। उनका काव्य यहाँ के कण-कण में रची बसी साझी संस्कृति के प्रति एक गहरा आत्मानुराग अभिव्यक्त करता है। उनके काव्य में गंगा-जमुनी संस्कृति का ऐसा सुन्दर समागम है जहाँ मानवता परम तृप्ति एवं मुक्ति को प्राप्त करती है। कवि नीरज के काव्य में भारत बोध को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

ऐतिहासिक अस्मिता एवं राष्ट्रगौरव का बोध

नीरज की रचनाओं में निहित ऐतिहासिक अस्मिता का भाव बोध पूरी समग्रता के साथ उभरकर जनमानस की चेतना को जागृत करता दिखाई देता है। यह ऐतिहासिक बोध – जीवन को बाधाओं से त्रस्त, वेदना से ग्रस्त और नैराश्य नद में डूबे मानव में नव ऊर्जा का संचार करता है। साथ ही राष्ट्रीय गौरव का भाव भी अपनी प्रबलता के साथ मुखरित हुआ है। नीरज के लिए निज राष्ट्र गौरव से बढ़कर कुछ भी नहीं। वे पराधीनता के प्रबल विरोधी हैं, और यह प्रतिरोध, उनके काव्य में अपनी सम्पूर्ण ओजस्विता एवं गर्जना के साथ ध्वनित होता दिखाई देता है। वे *'जय-जय जयति हिन्द'* कविता में जहाँ मातृभूमि की वंदना कई रुपकों एवं उपमानों के साथ करते दिखायी देते हैं तो वहीँ उनकी *'विद्रोही'* कविता में राष्ट्र विरोधी शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल प्रतिध्वनित होता है। वे कहते हैं –

" भूल गये तुम भूल गये पर, हरिश्चंद्र को भूल गये।
गीता-रामायण को भूले, रामचंद्र को भूल गये।
काँटों पर सोने वाले मेवाड़ सिंह को भूल गये।
फांसी पर मुस्काने वाले भगत सिंह को भूल गये।
भूल गये जो कुछ तुमको, वह याद कराने आया हूँ।
में विद्रोही हूँ जग मैं विद्रोह कराने आया हूँ ।।"[2]

अतीत का गौरवगान कवि नीरज के काव्य की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। नीरज सदियों से गुलामी की जंजीरों में जकड़ी मानवता के अन्दर चेतना का संचार करते हैं। उन्होंने *'कवि और हिटलर'* नामक कविता के माध्यम से राष्ट्रहित के लिए बलिदान की महत्ता को उजागर किया है। वे कहते हैं की गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ मनुष्य पशुतुल्य है। पराधीन होकर जीने वाला मानव मोरी में सड़कर मरने वाले कीड़े के समान है। किन्तु राष्ट्रहित व मातृभूमि के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाला बलिदानी मृत्यु को प्राप्त होकर भी युगों-युगों तक अमर हो जाता है उदा.-

"देश-राष्ट्र के हित हँस कर जो कूट हलाहल पीता।
वीर वही है और वही मर कर युग-युग तक जीता।"[3]

ऐतिहासिक अस्मिता का भान करने वाले वैदिक सूत्र, वाक्यांश उनकी आध्यात्मिक आस्था, व दार्शनिक चिंतन के प्रति दृढ़ता के भाव को प्रदर्शित करते हैं। उनका मानना है कि एक परम चेतना प्रकृति में विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। संपूर्ण सृष्टि एक ही ब्रह्म का विस्तार है। वो मातृभूमि की वंदना करते हुए कहते हैं –

"वंदन-हित निमित अमित कोटि कंठ पूत प्राण,
एकोऽहंबहुस्याम , सर्वंखल्विदम् – गान।"[4]

वहीँ वे *'सत्य ब्रह्म जगत मिथ्या'* के स्थान पर वे 'जगत को ही सत्य' मानते हैं। भौतिक जगत में ही जीवात्मा जन्म लेती हैं, पोषित होती है और कर्म के बंधन में बांध कर अपने कर्तव्यों को पूरा करती हैं। अतः संसार मिथ्या नहीं है। उन्होंने अपनी

कविता *'जगत सत्य ब्रह्म मिथ्या'* में जगत की सत्यता को उजागर किया है वे *'वसुधैवकुटुम्बकम्'* वैदिक वाक्यांश को अपनी रचनाओं में बड़ी ही आत्मीयता के साथ उजागर करते हैं। वे *'सत्यं शिवं सुन्दरं'* की व्याप्ति सम्पूर्ण जगत में अनुभूत करते हैं। सत्य के शिवत्व स्वरुप एवं उसकी सुन्दरतम् व्याप्ति का प्रतिभास नीरज के काव्य का मूल तत्त्व प्रतीत होता है। मानवीय भावों एवं विचारों को प्रस्तुत करने वाले रूपक, वैदिक सूत्र व वाक्यांशों का प्रयोग नीरज के काव्य को अनुपम विलक्षणता प्रदान करते हैं।

लोक संस्कृति, पर्व एवं प्रकृति –

लोक जीवन की सरलता, सहजता, रस, गंध और रूप की अभिव्यक्ति नीरज के काव्य की सर्वप्रमुख विशेषताओं में से एक है। नीरज के अंतरतम में पल्लवित ग्रामीण संस्कार और लोक संस्कृति के मूल्य उन्हें एक संवेदनशील एवं सहृदय कवि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके गीतों में गाँव की मिट्टी की सौंधी खुशबू है, बैल, खेत-खलिहान है, तारों और जुगनुओं से भरा आसमान है। प्रकृति और मनुष्य के साहचर्य को प्रदर्शित करने वाले दृश्य हैं। लोकोक्तियाँ हैं, किस्से हैं, लोकगीतों के वाचिक मंगलाचार हैं। नीरज अपनी रचनाओं में भारतीय लोक संस्कृति के प्रति आस्था, विश्वास, और श्रद्धा के सजीव चित्र उकेरने वाले सफल रचनाकार हैं। उदा. दृष्टव्य -

"खड़ी सजी बारात गा रही सखियाँ मंगलाचार।
प्रीति – पालकी लिए द्वार पर बैठे हुए कहार।
दुल्हनियाँ जाने को लाचार।
लाल रंग की बनी चुनरियाँ, पीत रंग की चोली।
मुतियन वाली झालर – झूमर, चन्दन वाली डोली।
कानों दमके तारा – झूमर, माथे चंदा बेंदी।
संध्या आँजे काजल, ऊषा रचे महावर – रोली।"[5]

नीरज के काव्य में व्यक्त लोक संस्कृति उनकी उत्सवधर्मी चेतना का अभिन्न अंग है। उनके काव्य और गीतों में मुखरित होने वाली लोक चेतना पाठकों से आत्मीय संवाद स्थापित करने की क्षमता से युक्त है। वे लोक तत्वों के माध्यम से जन साधारण की चेतना को जगाने का सामर्थ्य रखते हैं। लोक जीवन, पर्व व उत्सवों में रचा उनका अंतर्मन अभिव्यक्ति पा कर लोक संस्कृति से जुड़े तमाम रागात्मक संबंधो के सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। उनकी रचनाओं में सावन का त्योहार है, बसंत की रात है, पतझड़ है, फाग है, मेघ मल्हार है, दिवाली है, होली के चटक रंगों वाली फुहार है। ऋतुओं के माध्यम से राष्ट्रीय सुरक्षा व कर्त्तव्य के प्रति भी जागृत करते हैं-

"ओ! उपवन के रसिक मधुकारों, गुंजन रण भेरी में बदलो,
अपना बाग़ – बहार लूटने पतझर घर तक आ पहुंचा है।"[6]

'गीतात्मकता' नीरज के काव्य का प्राण तत्व है। गेयता का गुण नीरज के काव्य व गीतों के सौंदर्य को लोक सत्ता के परे एक अलग स्तर पर स्थापित करता है। इनकी रचनाओं में भारतीय पर्व एवं त्योहारों पर रचे गए गीत, हिंदी साहित्य की रंजकता व रोचकता में श्रीवृद्धि करने वाले हैं। वे अपने काव्य में दीवाली बनकर संसार के अंधकार को दूर करने की बात करते हैं, तो वहीं होली बनकर बिछड़े हृदयों को मिलाने की बात भी करते हैं, वे मानवीय समाज को विध्वंस से बचने की बात करते हैं। भटके हुए को रास्ते पर लाने की बात करते हैं, वे स्वयं को मिटाकर मानवता की रक्षा की बात करते हैं। -

"संसार जल रहा है जब दुखी की ज्वाला में,
तब कैसे अपने सुख को सहना संभव है।
मिटते मानव औ, मानवता की रक्षा में
प्रिय! तुम भी मिट जाना मैं भी मिट जाऊँगा
तुम दिवाली बनकर जग का तम दूर करो
मैं होली बनकर बिछुड़े हृदय मिलाऊंगा।"[7]

'सावन के त्यौहार' नामक कविता में न केवल लोक संस्कृति के मूल्य मुखरित हुए हैं, अपितु उन्होंने जीवन की दार्शनिक व्याख्या भी प्रस्तुत की है। उदा.

"तूने मुझको ऐसे लूटा है इस भरे बाज़ार में
चुनरी तक का रंग उड़ गया, सावन के त्यौहार में
दाम लिया कुछ नहीं छली! पर छल मुझ से ऐसा किया।
गाँठ टटोली तो देखा है, पूँजी लूटी त्रिकाल की।।"[8]

सांप्रदायिक सौहार्द्र एवं मानवता –

नीरज सांप्रदायिक एकता, सद्भाव, और मानवता के संपोषक कवि हैं। मानवता ही उनके लिए सबसे बड़ा धर्म है। वे ऐसे मजहब को चलाने की हिम्मत करते हैं जिसमें इंसान को इंसान बनाया जा सके। वे एक ऐसे समाज व संसार के स्वप्न द्रष्टा हैं जिसमें सभी संप्रदाय अपने असली मतभेद भूल कर एकसाथ रहें, जिसमें आपसी प्रेम, आस्था, एवं गरिमा सर्वोपरि हो।

"काश! ऐसी भी मोहब्बत हो कभी इस देश में,
मेरे घर उपवास हो जब तेरे घर रमजान हो।
मजहबी झगड़े ये अपने आप सब मिट जायेंगे,
और कुछ होकर न, गर – इंसान बस इंसान हो।"[9]

नीरज के काव्य में 'प्रेम' जीवन जीने की अनिवार्य शर्त के रूप में विविध रूपों में प्रकट होता है। प्रेम के बिना संसार – संसार नहीं, जीवन-जीवन नहीं – प्रेम ही मनुष्य को मनुष्यत्व तक पहुँचाता है। समाज व देश को एकता के सूत्र में आबद्ध करता है। सांप्रदायिक एकता एवं सद्भाव का मूलमंत्र प्रेम ही है। प्रेम और सद्भाव की अजस्रधरा में ही विभिन्न संस्कृतियाँ पुष्पित और पल्लवित होती हैं।

"प्रेम है कि ज्योति -स्नेह एक है,
प्रेम है कि प्राण -देह एक है,
प्रेम है कि विश्व गेह एक है,
प्रेमहीन गति, प्रगति विरुद्ध है।
प्रेम तो सदैव ही समृद्ध है।।" [10]

जीवन संघर्ष एवं आशावादी दृष्टिकोण –

नीरज का काव्य उनके निज का दर्पण है। जीवन के सत्यों को उन्होंने न केवल देखा बल्कि उसे भोग भी है। किन्तु जीवन संघर्ष की कठिन से कठिनतम घड़ी में भी उन्होंने आशा का दामन कभी नहीं छोड़ा। वे जीवन की विपरीत परिस्थितियों का सामना मुस्कुराकर करने में यकीन रखते हैं। उनकी रचनाएँ – *'यदि मन अजीत अजेय, पराजय भी फिर जय है।' 'मैं अकम्पित दीप प्राणों का लिए यह तिमिर तूफ़ान मेरा क्या करेगा।' 'मैं तूफानों में चलने का'* आदि कवितायें मानव मन में नव आशावादिता का संचार करती हैं। विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष की राह न छोड़ना एवं मन में आशावादी भाव रखकर निरंतर आगे बढ़ते जाना जैसे मूल्य भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कवि नीरज की कविताएँ, गीत आदि इन जीवन मूल्यों का संचार भारतीय जनमानस में करती नज़र आती हैं, वे हताशा के बादलों से घिरे मानव मन में उत्साह का संचार कर उसे नित नए संघर्ष के लिए सज्ज कर अभिप्रेरित करते हैं। - उदा.

"माला बिखर गई तो क्या है
खुद ही हल हो गई समस्या,
आँसू गर नीलम हुए तो
समझो पूरी हुई तपस्या,
रूठे दिवस मनाने वालों!

फटी कमीज़ सिलाने वालों!
कुछ दीपों के बुझ जाने से आँगन नहीं मरा करता है।
छिप-छिप अश्रु बहाने वालों !
मोती व्यर्थ लूटाने वालों !
कुछ सपनों के मर जाने से जीवन नहीं मरा करता है।" [11]

समसामयिक बोध –

नीरज की रचनाएँ समसामयिक बोध से सिक्त है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज, देश, राजनीति व्यवस्था व वैश्विक चुनौतियों के सत्य को उजागर किया है। उन्होंने तत्कालीन विश्व व देश की सामाजिक विद्रूपताओं,भ्रष्टाचार, आतंकवाद, नैतिक व सामाजिक मूल्यों के पतन पर पूरी प्रखरता से प्रहार किया है। उनका हृदय भारतीय सभ्यता व संस्कृति का ह्रास करने वाले विचारों के प्रति विकल हो उठता है।

" सभ्यता कहाँ गयी? कहाँ है खड़ा विश्व?
जा रहा है किधर गतिरथ, विज्ञान – कलाओं का?
किस दिशि उन्मुख इतिहास? दे रहा क्या विकास
क्या शोर समय का है क्या ज़ोर हवाओं का?"[12]

वे भारतीय समाज की नींव समतावादी दृष्टिकोण और प्रगतिशील विचारधारा पर रखना के हिमायती है। वे मानवीय शोषण के विरोधी हैं। वे खेतों में काम करने वाले किसानो व मजदूरों की वेदना को अपने गीतों व कविताओं के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाते हैं। *'मजदूर का स्वप्न', 'वह भी इस जग का मानव है'* जैसी कविताएँ उनकी प्रगतिशील विचारधारा को व्यक्त करती दिखाई देती हैं –

वे मजदूरों और किसानों के दिलों में पलने वाली क्रांति के प्रति समाज के ठेकेदारों को सावधान करते हुए कहते हैं –

"तुमने नवयुग के विश्वासों को बहकाया।
भूखे के मुँह तक से तुम कौर छीन लाये।
ब्लैक ट्रेड किया तुमने माँ की चोली तक से।
आज़ादी तक धर चोर – बाज़ारों में आये।
हो सावधान! संभलों ओं ताज – तख़्तवालों।
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।"[13]

कवि नीरज ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में वंश परंपरागत राजनीति व वर्चस्ववादी विचारधारा के प्रति प्रतिरोध का स्वर मुखरित किया है। वे विकास और लाभ को समाज के अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाने के पक्षधर रहे हैं। *'अन्तोदय'* एवं *'सर्वोदय'* के आदर्शों व सिद्धांतों की अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी कविताओं में की है। लोक नायक जयप्रकाश नारायण के समाजवादी व समतावादी विचारों से प्रभावित नीरज का मन आपातकाल के समय उन पर हुए अत्याचारों पर चित्कार उठता है – वे कहते हैं–

"जय प्रकाश इतिहास एक है, त्याग और बलिदानों का
उस पर पानी नही चढ़ेगा, सत्ता के दीवानों का,
अभी समय है शेष बचा लें, वे खुद को बर्बादी से
बच न सकेगी दिल्ली भी अब जयप्रकाश की आँधी से।"[14]

कवि नीरज भारतीय लोक संस्कृति, भाषा, पर्व एवं परम्पराओं के ह्रास पर गहरी चिंता व्यक्त करते हैं। वे भारतीय परंपरा पर होने वाले विदेशी हमलों से आहत हैं। वे देश व समाज में दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही बाज़ारवादी मानसिकता और उससे उपजी विद्रूपताओं पर गंभीर मार्मिक टिप्पणी करते हैं और कहते हैं *"हम सब अमेरिकन खिलौने हैं।"* उन्होंने *'गोली चले बाज़ारों में'* तथा *'मरते हुए देश को बचाओं साथियों'* जैसी कविताओं के माध्यम से देश की दशा में बदलाव ला कर व्यवस्था में सुधर लाने की गुहार लगाते हैं। आरक्षण व जातिवाद के कारण देश के बिगड़ते हालातों पर गंभीर संवेदना व्यक्त करते हैं। सत्ता व पद

के मोह में फंस कर भ्रष्ट होते नेताओं के आचरण व देश के हालात पर जनता जनार्दन का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं –

" जिस नेता को भी देखो
वो है दीवाना कुर्सी का
सारा देश बना है अपना
पागलखाना कुर्सी का।"[15]

विश्वशांति एवं समतावादी दृष्टिकोण –

कवि नीरज की रचनाएँ युद्ध और अशांति की विभीषिका से ग्रस्त विश्व को शांति एवं सौहार्द्र का सन्देश देती हैं। उनकी रचनाओं में निहित ओजस्वी प्रवाह में एक ओर क्रांति की प्रबल ज्वाला है तो दूसरी ओर विश्व शान्ति एवं बंधुत्व की करुण पुकार भी है। उनका समतामूलक दृष्टिकोण सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार मानता है। शान्ति एवं सद्भाव पर ही मानव जीवन की प्रगति टिकी है। सम्पूर्ण विश्व में निर्मित होने वाली युद्ध की परिस्थितियां और उसके उसके परिणामस्वरुप उत्पन्न होने वाली विभीषिका के प्रति सम्पूर्ण मानव जाति को सचेत हुए अपनी रचना *'अब युद्ध नही होगा'* के माध्यम से कहते हैं कि –

" बढ़ चूका बहुत आगे रथ अब निर्माणों का,
बम्बों के दलदल से अवरुद्ध नहीं होगा,
है शान्ति शहीदों का पड़ाव हर मंज़िल पर,
अब युद्ध नहीं होगा, अब युद्ध नहीं होगा।"[16]

विश्वबंधुत्व, शान्ति एवं *'वसुधैवकुटुम्बकम्'* की भावना से ओत-प्रोत कविता – *'कोई नहीं पराया'* – सम्पूर्ण मानव जाति को, प्रेम, मानवता और जिओ और जीने दो का सन्देश देती नज़र आती है –

"कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है,
मेरा धर्म व कुछ स्याही – शब्दों का एक गुलाम है,
मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो घट – घट में राम है।
मेरा तो आराध्य आदमी, देवालय हर द्वार है।
कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।"[17]

नीरज ह्रदय परिवर्तन के माध्यम से संसार व सम्माज में परिवर्तन लाने के पक्षधर हैं। वे दुश्मन को अपना ह्रदय देने की बात करते हैं।

" तुम शान्ति नहीं ला पाए युद्धों के द्वारा।
अब फेंक ज़रा तलवार, प्यार लेकर देखो।
सच मानो निश्चय विजय तुम्हारी ही होगी।
दुश्मन को अपना ह्रदय ज़रा देकर देखो।"[18]

जीवन दर्शन –

नीरज के काव्य में निहित दर्शन एक जीवंत एवं संतुलित जीवन दर्शन है। जिसमें सामंजस्य का भाव है, समष्टिगत सौंदर्य की प्रधानता है। आसक्ति है, विरक्ति है, संन्यास है, कल्पना है, क्रान्ति का विद्रोही स्वर है और विश्व शान्ति की अभिव्यंजना है। जीवन और जगत को देखने की विलक्षण दृष्टि गीतकार नीरज के पास है। जिसमें भारतीय दर्शन एवं ज्ञान परंपरा के साक्षात्कार होते हैं। उनके काव्य में आत्मा से परमात्मा, स्थूल से सूक्ष्य, देह से विदेह तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर करने वाले भावबोध अभिव्यक्त हुए हैं। कवि नीरज की दृष्टि पाठक वर्ग को एक अलग भाव भूमि पर ले जाती है, जहाँ उनकी दार्शनिकता का एक विलक्षण पक्ष दिखाई देता है। उनकी रचना – *'हर दर्पण तेरा अर्पण; कोई मोती गूँथ सुहागिन, मात्र परछाई हूँ, निराकार जब तुम्हें दिया आकार स्वयं साकार हो गया, सत्य का निर्माण करती स्वप्न की अंतिम शरण ही'* आदि चिंतन मनन की प्रक्रिया और जीवन दर्शन से परिचित करवाती है। *'नसेनी'* नामक उनकी कविता जीवन का ही एक रूपक है जिसमें दो बाँस – ह्रदय और बुद्धि अथवा शरीर और आत्मा है तथा तीन डंडे जीवन की तीन अवस्थाएँ है जो नीरज के सरल, सहज व ह्रदयस्पर्शी दार्शनिक पक्ष को उजागर करती है –

"दो बाँस, तीन डंडे से बनी नसेनी यह,
जो खड़ी सेहन का जोड़ रही छत से नाता,
धरती–आकाश बने, जब से तब से इस पर,
हर एक यहाँ चढ़–उतर, उतर–चढ़ता जाता।"[19]

नीरज के काव्य में परम सत्ता की उपस्थिति एवं उससे ऐक्यानुभूति का भाव अपनी सम्पूर्णता एवं समग्रता के साथ प्रकट होता है। वह आध्यात्म, दर्शन और चिंतन के समस्त उपदानों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। उसमें सत्य एवं शिवत्व की सुन्दरतं अभिव्यक्ति साकार हो उठती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कवि नीरज का रचना संसार भारतीय संस्कृति की जड़ों को सिंचित करने वाला है। उनकी भावभूमि भारतीयता से सिक्त है, वह उस सभ्यता का परिचय एवं उपवृंहण है, जो चिरंतर, चिंतन, मनन व प्रकाश अन्वेषण की ओर अग्रसर है। उनके काव्य में जहाँ देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देने की गुहार है तो वहीँ देश को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करने वाले विद्रोही की प्रचंड चित्कार है। लोक जीवन से जुड़े गीतों के स्वर हैं, मिट्टी की सौंधी खुशबू है, पर्व है, त्यौहार है, सावन के झूलों में झूमता लोक जीवन का उल्लास है। दीपावली के दीयों से जगमगाता संसार है, फागुन में होली के रंगों की फुहार है, माँ की लोरी का स्नेह भर स्पर्श है, तो वही – सामाजिक शोषण व असमानता के प्रति प्रतिरोध है, वीरों की अमर गाथा है, साम्प्रदायिक समन्वय है, सौहार्द्र है, मानवता ही सबसे बड़ा धर्म है जीवन का मर्म है, विश्वशांति की करुण पुकार है, परमसत्ता से ऐक्य की उत्कष्ठा है। मृणमय वसुधा में चिन्मयता के दर्शन का प्राकट्य है। नीरज का काव्य तात्कालीन विश्व के लिय शान्ति, मैत्री एवं सौहार्द्र का एक अद्भुत विकल्प प्रस्तुत करने में सक्षम है। जिसकी आज सम्पूर्ण विश्व को महती आवश्यकता है। उनके काव्य का अवगाहन हमें यह बताता है कि उनका रचनाकर्म एवं संसार भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अमूल्य थाती है।

सन्दर्भ –

1. शुक्ल, रजनीश कुमार. (2023). *भारतबोध: सनातन और सामयिक* (प्रथम सं.). नई दिल्ली: प्रभात प्रकाशन प्रा. लि.
2. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 169.
3. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 181.
4. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 101.
5. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 2). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 94.
6. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 3). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 144.
7. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 2). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 24.
8. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 2). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 62.
9. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 3). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 196.
10. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 297.
11. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 3). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 108.
12. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 385.
13. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 350.
14. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 3). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 315.
15. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 3). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 325.
16. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 377.
17. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 292.
18. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 300.
19. नीरज, गोपाल दास. (2010). *नीरज रचनावली* (खंड 1). दिल्ली: आत्माराम एंड संस, पृ. 372.

Received: 12.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

मानवतावाद और समकालीन चुनौतियां : पंडिता रमा बाई के दृष्टिकोण का पुनर्पाठ

निभा कुमारी*
nk8415650@gmail.com

सारांश:-

यह शोध आलेख पंडिता रमा बाई के सामाजिक व शैक्षिक चिंतन के साथ मानव के प्रति अटूट प्रेम स्वरूप मानवतावादी दृष्टिकोण का पुनर्पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। जिसमें समकालीन सामाजिक चुनौतियाँ भारतीय समाज में अपनी गहरी पैठ स्थापित की हुई थी। 19वीं शताब्दी के हमारे भारतीय धरातल पर स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता वो ना सिर्फ निंदनीय था किसी समाज के लिये वरन् समाज के प्रगति में अवरोधक का कार्य करता था। स्त्रियों के शिक्षा, विधवा जीवन की प्रताड़ना व परंपराएं, बाल विवाह कही से भी न्याय संगत नहीं प्रतीत होता था। इन्हीं सब सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध पंडिता रमा बाई ने अपना महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया। उन्होंने अपने प्रगतिशील विचारो के परिणति स्वरूप स्त्री की गरिमा, शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता और मानवीय समता व स्वतंत्रता को प्रमुखता के साथ महत्त्व दिया है। प्रस्तुत शोध आलेख अध्ययन उनके समकालीन लैंगिक असमानता, शिक्षा, सामाजिक न्याय और स्त्री सशक्तिकरण की चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करता है और पंडिता रमा बाई के दृष्टिकोण को सामाजिक उन्नति के पक्ष में पथ प्रदर्शक का कार्य करता है।

मूल शब्द:-

पंडिता रमा बाई, मानवतावाद, स्त्री शिक्षा, सामाजिक न्याय, समकालीन लैंगिक समानता, स्त्री सशक्तिकरण, सामाजिक चुनौतियाँ।

प्रस्तावना:-

भारत के इतिहास में एक ऐसा समय भी अपना स्थान मजबूती के साथ स्थापित किये हुए था। जिसमें स्त्रियों के मानवीय गरिमा, आत्मसम्मान, स्वतंत्रता व समानता को समाप्त कर दिया था। सामाजिक रूढ़ियों के माध्यम से स्त्रियों के जीवन को नरक तुल्य बना कर रख दिया था। समाज के ठेकेदारों ने स्त्रियों के साथ समकालीन लैगिंग असमानता व अन्याय के माध्यम से उनको बेबस भरी जिंदगी सौगात में प्रदान की थी। हमारे समाज की विडम्बना तो देखिये एक तरफ विकास हेतु समता मूलक न्यायप्रिय समाज की कल्पना करता है परंतु दूसरी तरफ जब इसे विचारो को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने की बारी आती है तब पुरातन विचारो से मुक्ति ही नहीं चाहता है। जिसमें बाल विवाह, स्त्री शिक्षा प्रतिबंध, विधवा समस्या, सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, अन्याय, लैंगिग भेदभाव को संजोये रखने का प्रयास करता है। जो किसी भी प्रगतिशील समाज के भविष्य के लिए अभिशाप प्रतीत होती है। किसी भी समाज में हम जब व्यवस्था को परिवर्तित करना चाहते हैं व विकास की रूपरेखा निर्धारित करते हैं तो सर्वप्रथम उन तमाम सामाजिक बुराइयों को उखाड़ फेंकते हैं ताकी समाज के कलंक कहे जाने वाले प्रथाओं का पदचिन्ह भी समाज पर छायाकिंत ना हो सके। समाज का दर्पण एक साफ-सुथरी छवि के रूप में अपनी अस्तित्व को स्थापित करे। दूसरों के लिये प्रेरणा स्त्रोत बन कर मार्ग प्रशस्त करें। परंतु भारतीय समाज का दुर्भाग्य तो देखिये जिस प्राचीन भारतीय समाज में जो व्यवस्था स्थापित इस तरह का उससे भी 19वीं शताब्दी का काल प्रभावित ना हो सका। क्योंकि वह अपनी संकीर्ण मानसिक रूढ़ियों की मानसिकता में ऐसे जकड़ा था। जिसमें पुरुष प्रधान समाज की गरिमा व अस्तित्व को खंडित ना किया जा सके और ना इसमें हस्तक्षेप की वो अपेक्षा रखता था। मुख्य रूप से इसी विचारो के फलस्वरूप स्त्रियों को अपने इशारों की कठपुतली बना कर रख दिया था। जहाँ स्वयं की सर्व श्रेष्ठता हावी हो वहाँ दूसरों के अस्तित्त्व व स्वतंत्रता पर प्रश्न चिन्ह खड़े ही कर दिये जाते हैं।

* **JRF (UGC, New Delhi); शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

परंतु कब तक ये व्यवस्था व मानसिकता को संजोया जा सकता है जब तक सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार किया जाता रहे। जैसे ही इसके विरोध के स्वर गुंजयमान होने लगेंगे। वैसे-वैसे इस सोच की गहरी छाया धूमिल होने लगेगी। उसी तत्कालीन 19वीं शताब्दी के समाज में सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलनों की नींव रखी गई। उसी संदर्भ में पंडिता रमा बाई का उदय एक सामाजिक चिंतन के स्वरूप में हुआ। जो समाज में विद्यमान व्यवस्था में परिवर्तन करने का अथक प्रयास किया। इनके सुधारात्म प्रयासों को समाज द्वारा स्वीकार करना इतना आसान नहीं था। इनके द्वारा जब संपूर्ण समाज का प्रतिरूपों का संज्ञान प्राप्त हुआ। तब इनके हृदय व मन मस्तिष्क में कई प्रश्न सामाजिक व्यवस्था के विरोध में उठने लगे। जिसका मात्र उपाय समाज को नये सिरे से गढ़ने की आवश्यकता थी। उस विद्यमान सामाजिक परंपराओं को खत्म करने की जरूरत थी। जो स्त्रियों को सामाजिक दास्ता की बेड़ियों को जकड़ कर उनके जीवन को बेबस भरी जिंदगी प्रदान की थी। इनके जगह पर मानवीय गरिमा, सम्मान के साथ नारी को आत्मनिर्भर बनाने की ओर कदम बढ़ाने का एक सफल प्रयास था।

पंडिता रमा बाई: जीवन और वैचारिक पृष्ठभूमि:-

रमा बाई डोगरें का जन्म 23 अप्रैल 1858 को कर्नाटक के कन्नड़ जिले के मल्हेरंजी गाँव में हुआ था। पिता अनंत शास्त्री, माता लक्ष्मी बाई डोंगरें थी। रमा बाई के माता-पिता का एक बेमेल विवाह हुआ था। पिता की उम्र 44 वर्ष और माता की उम्र 9 वर्ष था। उनकी माँ का बाल विवाह था। जो उस तत्कालीन समाज की एक महत्वपूर्ण प्रथाओं में से एक थी बाल विवाह। यह अनंत शास्त्री का दुसरा विवाह था। उनका 10 वर्ष की उम्र में पहला विवाह हुआ था। पहली पत्नी के मृत्यु के उपरान्त विदूर जीवन यापन कर रहे थे।[1] अनंत शास्त्री बहुत सुलझे और अनुभवी व्यक्तित्व को अपने में समाहित किये थे। जिसके कारण तत्कालीन समाज की स्थितियों से अवगत थे और उसको स्वीकार नहीं करते थे। समाज में प्रचलित परंपराओं के विपरीत जाकर अपनी पत्नी को शिक्षा प्रदान की थी। जिसके वजह से उनको समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। फिर भी वे सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया। उसके आगे नहीं झुके। उनको अपनी स्वेच्छा से जो श्रेष्ठ लगा उसी को प्राथमिकता प्रदान किया। जो तत्कालीन समाज के लिये अपवाद स्वरूप उभर कर सामने आया। उन्होंने ना सिर्फ अपनी पत्नी लक्ष्मीबाई डोंगरे का शिक्षित किया वरन् अपनी बेटी रमा बाई को भी शिक्षा ग्रहण करने हेतु उचित समझा। उन्होंने अपने संस्कृत ज्ञान के अनुपम भंडार को अपनी पत्नी को समर्पित कर दिया। और बेटी को शिक्षित करने का दायित्व लक्ष्मी बाई को सौंप दिया उनका विचार था कि शास्त्रों में कही ऐसा वर्णित नहीं है जो स्त्रियों को संस्कृत शिक्षा हेतु प्रतिबंधित करें।"[2]

रमा बाई जब आठ वर्ष की थी तभी से उनकी शिक्षा शुरू हो चुकी थी और क्रमबद्ध स्वरूप पंद्रह वर्ष तक संस्कृत ज्ञान की अनवरत धारा निरंतर प्रवाहित होती रही जो उनके सुनहरे भविष्य की एक सशक्त नींव स्थापित की जा रही थी।[3] जिससे भावी पीढ़ियों की भाग्य को बदलने का जिम्मेदारी उनके कंधों पर आने वाली थी। उनका जीवन यात्रा का सफर अत्यंत ही संघर्ष पूर्ण था। अल्प आयु में माता-पिता की साया सिर से उठ चुका था। एक बड़े भाई श्रीनिवास ही उनके जीवन का एक मात्र सहारा थे। जिन्होंने अपनी छोटी बहन को लेकर देश के भिन्न-भिन्न जगहों पर जाकर संस्कृत ज्ञान की व्याख्या करते थे। देश के भ्रमण के उपरान्त दोनों भाई-बहन अलग-अलग जगहों की परंपराएं, प्रथाएं तथा अनुभव को अपने जीवन में समेटा था। उनका उद्देश्य था कि अपने शिक्षा रूपी ज्ञान का दीप जो पिता ने उनके अंदर विरासत में प्रज्वलित किया था के समाज और देश को हमेशा प्रकाशित करना था। जीवन के अंतिम समय तक पिता के समर्पण व त्याग को संजोये रखना था।

रमा बाई अपने जीवन यात्रा के भ्रमण के उपरान्त ना सिर्फ अपने संस्कृत ज्ञान की ख्याति बिखेरती बल्कि स्त्रियों को शिक्षा के प्रति जागृत भी करती थी। वे प्राचीन विदुषी स्त्रियों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए व्याख्या का विश्लेषण प्रस्तुत करती थी।[4] उनके व्याख्या को सुनने के लिये दूर-दूर से लोग और महिलाएं आती थी। जिससे इनके ज्ञान की दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। लोग आश्चर्यचकित होते थे। जब पुरुषों की भरी सभा में एक स्त्री बेबाक होकर संस्कृत ज्ञान की शिक्षा प्रस्तुत कर रही है वो भी तब समाज में स्त्री शिक्षा अभिशाप स्वरूप प्रतिबंध था। ये कैसे संभव था कि एक स्त्री की शिक्षा ऐसे रूप से निरूपित की गई जो समाज में एक मिसाल कायम कर रही थी। इनके ज्ञान की कसौटी को परखने के लिये कलकत्ता में विद्वानों की मंडली बुलाई गई। जिसमें रमा बाई को निमंत्रण दिया गया। रमा बाई उस सभा में अपने भाई के साथ पहुँची। वहाँ उपस्थित विद्वानों ने अपने ज्ञान के आधार पर संस्कृत भाषा अनेकों प्रश्नों की बौछार किये। जिसका प्रत्युत्तर रमा बाई अत्यंत संयम और आत्मविश्वास के साथ दिया। ये क्षण रमा बाई के माता पिता के लिये अत्यंत ही गौरवपूर्ण होता जब वो अपनी बेटी के ज्ञान के इस महासागर में गोते लगाते हुए देखते। उनको अपने परवरिश, संस्कार एवं शिक्षा देने का अभिमान होता। परंतु ये दुर्भाग्य ही था जो उनको नसीब नहीं हो सका। किंतु उनका समाज के विरोध में जा कर उठाया गया कदम व्यर्थ नहीं गया ये सौभाग्य था। उनकी बेटी ने उनके

सपनों को साकार कर दिया। रमा बाई के संस्कृत ज्ञान से संतुष्ट होकर उनको पंडिता की उपाधि से सम्मानित किया गया और शिक्षा की देवी 'सरस्वती' से विभूषित किया गया।[5]

पंडिता रमा बाई अपने भ्रमण के दौरान समाज के रीति-रिवाजों को अत्यंत करीब से देखा और समझा था। जिसके अनुभव के आधार पर सम्पूर्ण समाज की एक व्यापक छवि बन गई थी। जिससे उनका मन मष्तिक उद्वेलित हो चुका था। उनके जीवन का उद्देश्य स्पष्ट हो गया कि समाज में प्रचलित व्यवस्था में परिवर्तन की दरकार है। इसमें तमाम चुनौतियाँ विद्यमान है जिसका निष्पादन करना अनिवार्य है। उन्होंने समाज के स्थापित नियमों का खुलकर विरोध करना शुरू किया। इनके द्वारा बदलाव हेतु जो कदम उठाये जा रहे थे। उसको समाज स्वीकार नहीं कर पा रहा था। जिसके फलस्वरूप रमाबाई के प्रगतिशील कदमों को रोकने के लिये समाज ने खुलकर विरोध करना शुरू कर दिया, परंतु रमाबाई पहले ही इन विरोधों का सामना करने के लिये तत्पर हो चुकी थी। उनके राह में आने वाले कोई भी चुनौतियों से विचलित नहीं हो सकी। इन सब परिस्थितियों से उनका संकल्प और दृढ़ता प्रदान कर रहा था। वे सर्वप्रथम अनाथ, विधवा स्त्री जो समाज द्वारा बहिष्कृत कर दी जाती थी। उनको अपने ममता के आँचल में समेट लिया। इनको आश्रय प्रदान करने के लिये शारदा सदन, आर्य महिला समाज, और मुक्ति मिशन जैसे संस्था का निर्माण किया। इस संस्था ने इन प्रताड़ित स्त्रियों के लिये शिक्षा की व्यवस्था की। इनके द्वारा शिक्षा के साथ-साथ स्वयं को आत्मनिर्भर बनाने हेतु भी प्रशिक्षित किया जाता था। कौशल प्रशिक्षण के माध्यम से स्त्रियों को आर्थिक मजबूती प्रदान हो जाता था। अपने जीवन को बेहतर बनाने के लिये रोजगार हेतु बन जाती थी। रमा बाई उन तमाम स्त्रियों के निराशापूर्ण जीवन में आशा की किरण बन कर उभरी। उनको अपने स्वयं के लिये अपने पर हो रहे समाज के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने हेतु प्रेरित किया। तत्कालीन समाज में अनेक चुनौतियाँ उनके कार्यों को बाधित करने हेतु तत्पर थी। परंतु उनका साहस और आत्मविश्वास को कोई नहीं हिला सका। ऐसी महिला समाज में विरले ही जन्म लेती है। जो बिखरे समाज की व्यवस्थाओं को समेटने का जज्बा रखती है। उनके हौसले कभी भी कमजोर और हताश नहीं हुए वरन् उनके अंदर नई ऊर्जा का संचार होने लगता था।

पंडिता रमा बाई के चिंतन में मानवतावाद की झलक:-

रमाबाई का जीवन अत्यंत ही अभावों में गुजरा था। परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय थी। जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर गहरा छाप छोड़ा था। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को तराशने में विद्यमान होती है। रमा बाई को तराशने में परिस्थितियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जिसका एक बेहतरीन मिसाल के रूप में हमारे समक्ष उभरती है। ये हमारे लिये बहुत ही प्रेरणा का स्त्रोत है, जिनके बदौलत स्त्रियों को अपने भविष्य को संवारने का मौका दिया। उन्होंने अपने जीवन में मानवीय करुणा को सर्वोपरि रखा था। इसके लिये उन्होंने समाज में स्त्रियों की मार्मिक व्यथा स्थापित की गई थी। उसको मानवीय गरिमा के साथ देखना चाहती थी। उनका चिंतन था कि स्त्रियाँ सिर्फ एक परिवार की अहम् भूमिका नहीं निभाती है बल्कि समाज को भी गढ़ने में भी अपनी महत्वपूर्ण योगदान देती है जिसके फलस्वरूप उनको वो आत्म सम्मान मिलनी चाहिए जिसकी वो हकदार है। उनको पारिवारिक पृष्ठभूमि तक सीमित रखने के बजाय वो स्वतंत्र मानवीय व्यक्तित्व के रूप में निरूपित करती है।

स्त्रियों के शिक्षा के प्रति उनकी संवेदनशीलता अत्यंत ही गहरी थी। ऐसा संस्कार उनको अपने माता-पिता से विरासत में मिली थी। जिसको भावी पीढ़ियों को सुपुर्द करना था। उन्होंने स्त्रियों के उत्थान में शिक्षा को अत्यंत आवश्यक कड़ी के रूप में स्वीकार किया है, इस क्षेत्र में सबसे पहले स्त्रियों को शिक्षा हेतु उत्प्रेरित किया। उनका मानना था कि स्त्री के जीवन उत्थान में शिक्षा एक अत्यंत महत्वपूर्ण इकाई है। यही वो आधार है जिस पर स्त्रियाँ अपना जीवन को बेहतर बना सकती है। इसलिये उन्होंने अपने आश्रम में बेसहारा स्त्रियों के लिये उचित शिक्षा की व्यवस्था किया था। जिसका भरपूर फायदा उन स्त्रियों को प्राप्त हुआ। उनमें आत्मविश्वास और अपने जीवन को बेहतर बनाने का एक सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। उनके आश्रम में स्त्रियों ने शिक्षा के महत्त्व से भली-भाँति परिचित हो चुकी थी। यह रमा बाई के जीवन के लिए एक सफल कदम था।

पंडिता रमा बाई अपने संस्था में अनाथ, समाज द्वारा निष्कासित स्त्रियों को ना सिर्फ शिक्षा के लिये जागरूक किया बल्कि स्वयं उनको आत्म-निर्भर बनाते हुए सबल बनाना चाहती थी। स्त्रियाँ कब और क्यों असहाय महसूस करती है इस स्थिति से अच्छे से परिचित थी। उन स्त्रियों का आर्थिक रूप से किसी दूसरे पर निर्भर होना है। यदि स्त्रियाँ स्वयं को इतना आर्थिक तौर पर आत्मनिर्भर हो जाये तो कोई भी उसको कमजोर समझ कर शोषित नहीं कर सकता है। आर्थिक निर्भरता स्वयं स्त्रियों के लिये स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करती है। जो स्त्रियों के जीवन के लिये सार्थक कदम है। इसलिये रमा बाई स्त्रियों को अपने संस्था के

माध्यम से कौशल प्रशिक्षण का कार्य करवाती थी। ताकि प्रशिक्षित होकर स्त्रियों को रोजगार उपलब्ध हो सके। किसी अन्य पर आश्रित रहने की जरूरत नहीं पड़े।[6]

उन्होंने समाज में होने वाले भेद-भाव जिसमें जाति, लिंग, सामाजिक असमानता व अन्याय के विरूद्ध हमेशा खड़ी रही है। जब प्रकृति ने हमें जन्म से बिना भेद-भाव के पैदा की है। मनुष्य अपने स्वार्थवश क्यों ऐसी मानसिक विचारो के फलस्वरूप विभेद करता है। स्त्रियाँ तो सम्मान की पात्र है जगत जननी है फिर ऐसा दुर्व्यवहार किया जाता है। उनके साथ अन्याय, असमानता और शोषण जैसे घृणित बर्ताव किया जाता है। रमा बाई स्त्रियों के हितों के लिये हमेशा समाज के नियमों के प्रतिरोध में रही थी। उनको सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता और आत्मसम्मान के लिये संघर्ष करती थी। समाज के वंचित स्त्रियों के प्रति अपनी संवेदना को बनाये रखी थी। जितना संभव हुआ उनको अपने संरक्षण में रखा तथा बेहतर जीवन देने का अथक प्रयास किया। इतिहास के पन्नों में ऐसी निर्भय और आत्मविश्वास से अडिग दृढ़ संकल्पी स्त्री बहुत ही विरले ही जन्म लेती है। विधवा स्त्री, अनाथ और गरीब स्त्रियों के प्रति किये गये कार्य अत्यंत ही मानवतावादी दृष्टिकोण को अपने दामन में समाहित किए थी।

पंडिता रमा बाई और समकालीन चुनौतियाँ:-

रमा बाई के समय समाज के धरातल पर तमाम ऐसी चुनौतियाँ अपना विकराल रूप धारण किये थी। जो एक स्थाई परम्परा स्वरूप निरंतर प्रवाहित होने का स्वप्न देख रही थी। सामाजिक कुप्रथाएं, परंपराएं विरासत के तौर पर समाज में अपना स्थायित्व बनाई थी। सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा समस्या, स्त्री शिक्षा प्रतिबंध, विधवा पुनर्विवाह निषेध, लैगिंग असमानता आदि विद्यमान थी।[7] जिससे समाज को निजात दिलाना अत्यंत ही आवश्यक प्रतीत होता था। पुरुष प्रधान समाज की पितृसतात्मक व्यवस्था के अनुरूप ही समाज में ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात किया गया था। समकालीन समय में पितृसत्तात्मक स्वरूप की मानसिकता स्थापित है। लैंगिग असमानता की स्थितियाँ शिक्षा, रोजगार और वेतन पर दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान में उपस्थित चुनौतियाँ एक अलग आयाम में है। समान परिस्थितियों में भेद-भाव लैंगिकता के आधार पर विद्यमान है। निर्णय लेने की प्रक्रिया में पुरुष को ही सर्वोच्चता प्राप्त है। स्त्रियों की निर्णय सहमति के पात्र समझा ही नहीं जाता है। असमानता के प्रश्न समाज में उठते रहते हैं। स्त्री शिक्षा के प्रति पंडिता रमा बाई के प्रयास आज भी अपनी महत्ता को प्रतिबिंबित करते हैं। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में जागरूकता आई है परिदृश्य में बदलाव के असर दृष्टिगोचर हो रहे है, परंतु इस दिशा में अभी कार्य करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। साक्षरता के आकड़े पुरुषों के समकक्ष नहीं आया है। समाज में स्त्री सशक्तिकरण की अवधारण परीक्षित हुई है वो रमा बाई के आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ जोड़ कर देखा जा सकता है। महिला उद्यमिता और आर्थिक सुदृढ़ता की नींव पूर्व में ही रखी जा चुकी थी। उनके सामाजिक चिंतन में स्त्रियों की शिक्षा, स्वतंत्रता समानता, न्याय आज के प्रासंगिकता के आधार पर अपनी उपस्थिति दर्ज करता है। सामाजिक धरातल पर विधमान चुनौतियाँ का स्वरूप कही-ना-कही पुरातन संकीर्ण मानसिकता के आधार पर आज दृष्टिगोचर होती है। जो समाज के बुनियादी विकास के मार्ग को अवरूद्ध करता है। समाज की व्यवस्था के प्रवाह में जब तक इस पर विराम चिन्ह नहीं लगाया जाएगा तब तक सम्पूर्ण समाज का विकास संभव नहीं हो पाएगा। स्त्रियों को समान अधिकार, न्याय, समानता व स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए जिसकी वो हकदार है, उन अधिकारों से वंचित करने का किसी को अधिकार नहीं है। पुरुष समाज को कभी इसके लिये संघर्ष की जरूरत नहीं महसूस हुई क्योंकि समाज के आरंभ से इसको ये सब विरासत में प्राप्त हुई है। जिसको कोई नहीं छिन सकता है।

रमा बाई के विचारों का पुनर्पाठ:-

पंडिता रमा बाई के विचारो का समागम प्रगतिशीलता को अपने में समेटे हुए है। समाज की पृष्ठभूमि में जब भी स्त्रियों के साथ विभेद कर अधिकारों से मुक्त करने का मार्ग अपनाया जाएगा तब-तब रमाबाई के विचारो को प्राथमिकता देने की आवश्यकता महसूस होगी। इनके चिंतन का पुनर्पाठ इसलिये महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनके विचार केवल स्त्री प्रश्न के सुधार के विषय के रूप में नहीं देखा या समझा जा सकता है, बल्कि समाज के विकास में मूल आधार शिक्षा, आत्मनिर्भरता, गरिमा और सामाजिक न्याय है, उसके संदर्भ में भी अपनी अहम् भूमिका निभाता है। समाज के प्रत्येक आयामों में इनके विचारो को समाहित कर नए सिरे से गढ़ने की जरूरत है। वर्तमान संदर्भ में 19वीं शाताब्दी की जो स्थितियाँ, चुनौतियाँ, विद्यमान थी। उसमें व्यापक परिवर्तन हुए है। किंतु समस्त स्वरूपों में संतोषजनक सफलता नहीं मिली है। संविधान के अनुच्छेद तमाम अधिकारों को प्रदान करते हैं परंतु व्यवहारिक दृष्टिकोण से समाज में स्थापित नहीं की जाती है। आज भी स्त्रियों के शिक्षा, आत्मनिर्भरता, स्त्री सशक्तिकरण की दिशा में राज्य सरकार और केंद्र सरकार अपने स्तर से अनेकों सुविधाएँ समय-समय पर उपलब्ध कराती है।

फिर भी देश के आधी आबादी में असमानता के विभिन्न रूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिये पंडिता रमा बाई के मस्तिष्क के चिंतन किसी एक काल खंड तक सीमित नहीं किये जा सकते हैं। उनके विचार समकालीन स्त्री विमर्श को ऐतिहासिक आधार प्रदान करते हुए प्रगति के मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनकी सोच प्रत्येक उस समाज के लिये प्रेरणादायी बन कर उभरेगा जहाँ सामाजिक परिवेश में स्त्रियों के अधिकारों को सीमित कर उनके साथ दुर्व्यवहार करेगा।

निष्कर्ष :-

पंडिता रमाबाई भारतीय समाज की एक ऐसी सशक्त स्त्री थी। जिन्होंने अपने अडिग आत्मविश्वास से समाज में परिवर्तन लाने का अथक प्रयास किया। उनके हृदय में मानवता के साथ स्त्रीहितो के प्रति अथाह प्रेम समर्पित था। जिसके लिये उन्होंने समाज के द्वारा निर्मित परम्पराओं के विरूद्ध बिगुल फूँका। उसको समाप्त करने हेतु तमाम संघर्ष और आलोचना का सामना करना पड़ा। जो एक स्त्री जाति के लिये अत्यंत ही दुष्कर कार्य था। परंतु उन्होंने कभी इन चुनौतियों से विचलित नहीं हुई थी। उनके इस साहस और दृढ़ता से हमें स्वयं के भविष्य को बेहतर करने की प्रेरणा देती है। उन्होंने संर्कीण समाज के मानसिकता में खुद को अलग रूप से परिष्कृत किया जो अन्य के लिए मिसाल कायम की। जीवन के पड़ाव में स्त्री गरिमा, सम्मान, आत्मनिर्भरता शिक्षा, बेसहारा स्त्रियों को सशक्त बनाने में तथा मानवतावाद को सर्वोपरि मानते हुए अपना सर्वस्व जीवन समर्पित कर दिया। इसके सम्पूर्ण अध्ययन से संज्ञान प्राप्त होता है कि पंडिता रमाबाई के सामाजिक चिंतन समकालीन समाज के लिये भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि तत्कालीन समाज के लिये था। उनके विचार और कृत्य किसी निश्चित समय सीमा हेतु पाबंद नहीं किया जा सकता है। उनके सामाजिक चिंतन का विषय निरंतर समाज के उन्नति की ओर अग्रसर किया है। स्त्रियों को स्वयं के लिये स्वयं खड़ा होना पड़ता है। जब तक स्त्रियों सामाजिक व पारिवारिक पाबंदियों और शोषण को स्वीकार करती रहेगी तब तक समाज व परिवार उसको अपने नियमों के अनुसार दबाये रखेंगे। और ये परिस्थितियां निरंतर प्रवाहित होते हुए स्त्रियों के भाग्य व जीवन का निर्धारण कर देती है। जिसका विरूद्ध करना अत्यंत आवश्यक है। मानवतावाद, शिक्षा, सम्मान, आत्मनिर्भरता सामाजिक आधार के रूप में स्थापित किया गया है। जिसका जितना ही अनुपालन किया जाएगा उतना ही समाज और देश का उत्थान निर्धारित होगा। इसको नजरअंदाज करने का मतलब विकास के मार्ग को स्वयं अवरूद्ध करने का साहस करना। देश की आधी आबादी को अपने नीति नियमों के केंद्र में रखकर निर्धारण करना ही सभी के लिये बेहतर साबित होगा। उनको अधिकारों से क्यों वंचित करना है। इनके हितों के लिये इतिहास में कितने संघर्ष किये गये। कितने यातनाएं सहा गया। तब जा कर आज स्त्री सशक्तिकरण, स्त्री शिक्षा, समानता और विभेद की खाई पाटने का प्रयास किया जा रहा है। इन मुद्दों पर खुल कर अपने मंतव्य प्रस्तुत किया जाता है और उसको व्यवहारिक स्वरूप में निर्मित करने की कोशिश की जाती है। आज भारत में स्त्रियाँ अपने अधिकार, स्वतंत्रता, न्याय की बातों मंच से साझा करती है जो स्त्री सशक्तिकरण की आवाज और स्थिति को मजबूती प्रदान करती है। परंतु उसके पश्चात् भी इस दिशा में अभी और कार्य करने की जरूरत है ताकि स्त्रियाँ समाज व देश के विकास के साथ कदम-से-कदम मिला कर चल सके। अपने ऊपर होने वाले उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठा सके। अधिकारों के प्रति सजग रूप से जागरूक हो सके। ये खुबसुरत-सा तस्वीर का दृश्य पंडिता रमा बाई के संघर्षों को व्यर्थ नहीं जाने देगी। उनकी कार्यों की प्रासंगिकता समाज में निरंतर प्रवाहित होती रहेगी।

संदर्भ:-

1. कुमार, अजय. *पंडिता रमा बाई*. गौतम बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2020. पृ. 11
2. वही. पृ. 12
3. वही. पृ. 15
4. वही. पृ. 22
5. सुजाता. *विकल विद्रोहिणी पंडिता रमा बाई*. राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023. पृ. 35-36
6. बाई, पंडिता रमा. *हिंदू स्त्री का जीवन*. संवाद प्रकाशन, मुम्बई, 2006. पृ. 16
7. सरस्वती, दयानंद. *सत्यार्थ प्रकाश*. प्रकाश विभाग, नई दिल्ली, 1903. पृ. 154

Received: 13.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

नासिरा शर्मा के उपन्यास 'जिंदा मुहावरे' में भारत-पाकिस्तान विभाजन की त्रासदी का मनोवैज्ञानिक चित्रण

रेश्मा बानो* **डॉ. अखिलेश कुमार†**

reshmabhano434@gmail.com **drakhilesh369@gmail.com**

भूमिका:—

मनोविज्ञान साइकोलॉजी वह वैज्ञानिक अध्ययन है जिसके अंतर्गत मानव तथा पशुओं के व्यवहार मानसिक प्रक्रियाओं जैसे सोच स्मृति भावनाएं और अनुभव का विश्लेषण आत्मक अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान शब्द का अंग्रेजी रूपांतरण साइकोलॉजी है जो ग्रीक यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है psyche=आत्मा, logos=अध्ययन या विज्ञान। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इसका प्रारंभिक अर्थ आत्मा का विज्ञान था। मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन लिखता है "मनोविज्ञान मन और व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन है। इसमें व्यक्ति की जैविक संघर्ष संज्ञानात्मक भावनात्मक व्यक्तिगत और सामाजिक पशुओं का अध्ययन किया जाता है"।[1] अब जैसे-जैसे इस विषय का वैज्ञानिक विकास हुआ इसके अर्थ में भी परिवर्तन होता गया जैसे आत्मा का विज्ञान, मन का विज्ञान, चेतना का विज्ञान, व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रिया का विज्ञान। आज के समय में यह मनोविज्ञान केवल आंतरिक तक सीमित नहीं है बल्कि यह अन्य बातों का भी अध्ययन करता है जैसे की कोई व्यक्ति किस स्थिति में कैसा व्यवहार करता है। वह क्या-क्या सोचता है और क्या-क्या। महसूस करता है। जैसे विभाजन की त्रासदी में मानव मन में क्या-क्या विचार पनप रहे थे इस चीज का अध्ययन भी मनोविज्ञान के अंतर्गत किया जा सकता है।

1947 का भारत-विभाजन केवल एक भौगोलिक, राजनीतिक या प्रशासनिक सीमा-रेखा का खिंच जाना मात्र नहीं था; यह भारतीय उपमहाद्वीप की चेतना, सामाजिक ताने-बाने और मानवीय संवेदनाओं पर लगा वह गहरा घाव था, जिसकी टीस दशकों बाद भी महसूस की जाती है। विभाजन की इस भीषण त्रासदी ने लाखों लोगों को रातों-रात विस्थापित कर दिया, उनकी जड़ों से उखाड़ फेंका और उन्हें अपनी ही सरजमीं पर अजनबी बना दिया। साहित्य इस ऐतिहासिक मोड़ की विभीषिका का सबसे जीवंत दस्तावेज़ रहा है। प्रसिद्ध साहित्यकार नासिरा शर्मा का उपन्यास 'जिंदा मुहावरे' (1993) विभाजन के इसी दर्द और उसके दूरगामी परिणामों को केवल भौतिक या राजनीतिक स्तर पर नहीं, बल्कि गहरे मनोवैज्ञानिक धरातल पर रेखांकित करने वाली एक बेजोड़ कृति है। प्रस्तुत शोध-पत्र का मुख्य उद्देश्य 'जिंदा मुहावरे' उपन्यास के आलोक में विभाजन की त्रासदी के कारण उत्पन्न मानवीय मन के जटिल द्वंद्वों, आघात और पहचान के संकट का गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना है।

विभाजन पर आधारित अधिकांश साहित्य (जैसे भीष्म साहनी का 'तमस' या कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान') में हिंसा, रक्तपात और भौतिक विस्थापन का प्रचुरता से चित्रण मिलता है, लेकिन 'जिंदा मुहावरे' की विलक्षणता यह है कि यह हिंसा के बाहरी शोर से आगे बढ़कर इंसान के भीतर घटित होने वाले सन्नाटे और आंतरिक टूटन को पकड़ता है। उपन्यास यह दर्शाता है कि कैसे एक ऐतिहासिक दुर्घटना इंसान के अचेतन मन में जीवन भर के लिए भय, असुरक्षा और अविश्वास के बीज बो देती है। विस्थापन केवल स्थान परिवर्त नहीं होता, बल्कि वह स्मृतियों, संबंधों, और आत्म-पहचान का एक ऐसा बिखराव है, जिसे मनोवैज्ञानिक भाषा में 'सांस्कृतिक और भावनात्मक ट्रॉमा' कहा जाता है जिसको मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो विस्थापन से उपजा 'पहचान का संकट' (Identity Crisis) इस उपन्यास का केंद्रीय बिंदु है। जो भारतीय मुसलमान 1947 के बाद बेहतर भविष्य की तलाश में या परिस्थितियों के दबाव में पाकिस्तान चले गए, वे वहाँ भी पूर्णतः स्वीकार नहीं किए गए और उन्हें 'मुहाजिर' (शरणार्थी) का तमगा दे दिया गया। नासिरा शर्मा ने उपन्यास में बहुत सूक्ष्मता से दर्शाया है कि कैसे वे पात्र

* **शोधार्थी, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ**

† **असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,**
डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

न तो अपने अतीत को पूरी तरह भूल पाते हैं और न ही वर्तमान से जुड़ पाते हैं। तभी तो जब निजाम अपने परिवार से मिलने के लिए अपने ही वतन भारत आना चाहता तब उसे कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है "वीज़ा के लिए उसके चक्कर भारतीय दूतावास में लगने लगे थे। पहले दिन उसे बड़ा अजीब लगा। अपने गाँव, अपने घर, अपने अम्माँ-अब्बा से मिलने का खुलासा देना पड़ा था। उसका दिल खट्टा-सा हो गया और उसे भाभी का दिया ताना याद आया। निज़ाम को महसूस हुआ कि यादों को सूँघते-सूँघते इंसान जी तो…सकता है, मगर बिल्ली की तरह अपने पुराने ठिकाने अगर आना भी चाहे, तो हालात उसे इजाज़त कब देते हैं कि वह लौट सके?"[2] इससे यह समझ में आता है कि उन लोगों को ताउम्र 'अपना' और 'पराया' के द्वंद्व से जूझना पड़ा हैं। उपन्यास के पात्रों का यह मानसिक द्वंद्व सिगमंड फ्रायड (Sigmund Freud) के 'अचेतन मन और दमित इच्छाओं' (Unconscious Mind & Repression) के सिद्धांत से गहरा साम्य रखता है, जहाँ विभाजन का आघात उनके अवचेतन में गहरे तक बैठ गया है। जैसा कि नासिरा शर्मा अपने उपन्यास में कहती हैं "सच्चा विस्थापन वह नहीं जो नक्शे पर दिखाई दे, असली विस्थापन तो मन के भीतर तब घटित होता है जब इंसान अपनी ही भाषा और यादों के बीच पराया हो जाता है।"[3]

उपन्यास का शीर्षक 'जिंदा मुहावरे' स्वयं में एक गहरा प्रतीकात्मक और मनोवैज्ञानिक अर्थ समेटे हुए है। भाषा और मुहावरे किसी संस्कृति की जीवंत चेतना होते हैं; जब लोग विस्थापित होते हैं, तो वे केवल सामान नहीं ले जाते, बल्कि अपनी भाषा, स्मृतियाँ और मुहावरे भी साथ ले जाते हैं। लेकिन त्रासदी यह है कि नए परिवेश में वे मुहावरे केवल अतीत की याद बनकर रह जाते हैं— अर्थात् वे ऐसे 'जिंदा मुहावरे' बन जाते हैं जो पीड़ा और कसक का निरंतर अहसास कराते हैं।

इसके अतिरिक्त, उपन्यास में 'अतीत-मोह' और 'अपराध-बोध' की मनोवैज्ञानिक परतों को भी उकेरा गया है। कैथी कारुथ के 'ट्रॉमा थ्योरी,के अनुसार, अत्यधिक आघातकारी घटनाएँ व्यक्ति के मन में बार-बार लौटकर आती हैं। विस्थापित पात्र अपने अतीत की स्मृतियों में शरण लेते हैं, जो उनके लिए एक रक्षात्मक तंत्र का काम करती है। अपनी पुरानी हवेली, गलियों और दोस्तों की यादें उन्हें वर्तमान की कड़वाहट और अलगाव से बचाने का प्रयास करती हैं, परंतु यही यादें अंततः उनके मानसिक संताप को और बढ़ा देती हैं। इस शोध-पत्र में विभाजनकालीन साहित्य और आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि 'जिंदा मुहावरे' किस प्रकार विभाजन से प्रभावित इंसानी मन की अवचेतन गहराइयों और पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानांतरित होने वाले मानसिक आघातों को उद्घाटित करता है।

1. नासिरा शर्मा का व्यक्तित्व एवं कृतित्व :–

नासिरा शर्मा हिंदी साहित्य की चर्चित लेखिका रही है जिन्होंने अपने लेखन के माध्यम से समाज में संस्कृत में स्त्री जीवन और मानवीय संबंधों के विविध पक्षों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनका जन्म 22 अगस्त 1948 को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जिले में हुआ था। इनकी माता का नाम नाज़नीन तथा पिता का नाम जमाल अली था इनके पिता इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के पद पर नियुक्त थे। उनकी शिक्षा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में संपन्न हुई जहां पर इन्होंने हिंदी के साथ-साथ फारसी भाषा और साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। इन्होंने फारसी भाषा और साहित्य में एमए किया। हिंदी उर्दू अंग्रेजी फारसी एवं पश्तो भाषण पर उनकी गहरी पकड़ है।

इच्छा पूरी होने के बाद यह दिल्ली के जामिया मिलिया विश्वविद्यालय में फारसी भाषा की प्रवक्ता बनी। नासिरा शर्मा एक आज़ाद ख्याल की महिला थी जिन्होंने कभी रूढ़ियों का समर्थन नहीं किया इसीलिए उन्होंने कानून का सहारा लेकर अंतरधर्मी विवाह किया था। नासिरा शर्मा हिंदी साहित्य की एक सशक्त एवं संवेदनशील और विशाल सेल लेखक का है। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि समाज चेतना और मानवी सर्वकारों के प्रति गहरी प्रतिबद्धता में समाज को लेकर बाहर से देखने वाली रेखा नहीं बल्कि उसके भीतर उतरकर उनके दर्द और संघर्ष और सच्चाइयों को समझने वाली रचनाकार है।

नासिरा शर्मा ने अब तक 10 उपन्यास, छे कहानी संकलन, तीन लख संकलन, सात पुस्तक को के फारसी अनुवाद से, जहां हो हर लहू रोते हैं नामक रिपोर्ट आज संग्रह प्रकाशित करवाया जो निम्नवत है।

उपन्यास – सात नदिया एक समंदर 1984, शाल्मती 1987, ठिक की मंगनी 1989, जिंदा मुहावरे 1993, अक्षय वट 2003, कुइयांजान 2005, जीरो रोड 2008, पारिजात 2011, अजनबी जजीरा 2012, कागज की नाव 2014, अल्फा बीटा गामा 2014, कुछ रंग थे ख्वाबों के 2024।

कहानी – हद से आगे, खामोशी की आवाज, परछाइयों के बीच , अपने –अपने हिस्से, बेघर, सलीम, दीवारों, दूसरा आदि

यात्रा वृतांत– ईमान, अक्स –ए –ईरान।

2. भारत पाक विभाजन की त्रासदी:–

भारत पाक विभाजन भारतीय इतिहास की एक ऐसी घटना थी जिसने न केवल राजनीतिक सीमाओं बल्कि बल्कि सामाजिक संबंधों और मानवीय जीवन को भी गहराई से प्रभावित किया है। विभाजन के समय बड़ी संख्या में लोग अपना घर छोड़ कर भारत या पाकिस्तान की ओर जाना पड़ा। सांप्रदायिक हिंसा है विस्थापन और अपनों से बिछड़ने की पीड़ा ने इस घटना को मान्यता राशि का रूप दे दिया। हिंदी उपन्यासकारों ने इस पीड़ा को अलग-अलग दृष्टि से अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है जैसे यशपाल के' झूठा सच' में विभाजन से पहले की राजनीतिक परिस्थितियों सांप्रदायिक तनाव और हिंसा और विस्थापन के साथ-साथ विभाजन के बाद के सामाजिक परिवर्तन को व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है। भीष्म साहनी के 'तमस' उपन्यास में सांप्रदायिकता किस प्रकार सामान व्यक्ति के जीवन को हिंसा और तबाही में बदल देती है इसका मार्मिक चित्रण मिलता है। वही राही मासूम राजा का 'आधा गांव' पपूरे उत्तर प्रदेश के ग्रामीण समाज के माध्यम से यह लिखतें है की विभाजन की राजनीति ने सदियों से साथ रहने वाले समुदायों के बीच अविश्वास पैदा कर दिया इसी के साथ कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' विभाजन को लेकर एक ऐतिहासिक घटना न मानकर मनुष्य द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार की सीमाओं और विभागों पर प्रश्न उठाना है।

इसी में आगे नासिरा शर्मा का यह उपन्यास 'जिंदा मुहावरे' भारत पाक विभाजन की एक मानवीय पीड़ा और उसके दुष्प्रभाव को प्रस्तुत करने वाली महत्वपूर्ण कृति मानी गई है। जिसको लिखने प्रेरणा उन्हें कहां से मिली इसके बारे में स्वयं लेखिका अपने इस उपन्यास की भूमिका में बता रही हैं कि "चन्द साल पहले 'सिब्ते हसन' की किताब 'माज़ी के मज़ार' पढ़ने का मौक़ा मिला। यूं तो पूरी किताब ने मुझे प्रभावित किया मगर जो शब्द मेरे ज़हन में गहरे उतर गए वे भाषा के बारे में थे कि जब किसी भी ज़बान का कोई बोलने वाला नहीं बचता तो वह ज़बान 'मुर्दा' कहलाती है मगर उस ज़बान के चन्द मुहावरे दूसरी किसी भाषा में जाकर ज़िन्दा हो उठते हैं और समय के गुज़रने के साथ उनका प्रयोग उस ज़बान में इस तरह खप जाता है कि वे उस ज़बान का हिस्सा लगने लगते हैं मगर इस तरह घुलने-मिलने के बावजूद यह 'ज़िन्दा मुहावरे' अपनी 'मुर्दा ज़बान' का पुरातन इतिहास अपने में समोए होते हैं। बात दिलचस्प लगी और किताब खत्म करने के काफ़ी दिनों बाद भी 'ज़िन्दा मुहावरे' की गूँज विभिन्न स्तरों पर बजती रही और दिमाग़ अपने आप सृजनात्मक दूरियाँ तय करने लगा"।[4] यह उपन्यास न केवल 1947 की राजनीतिक घटना का वर्णन करता है बल्कि विभाजन के कारण टूटे हुए परिवारों बिछड़े हुए संबंधों और विस्थापन पहचान के संकट को मानवीय दृष्टि से सामने भी लाता है। उपन्यास में विभाजन के कारण उत्पन्न सबसे बड़ी त्रासदी अपनों और अपनी जन्म भूमि से बिछड़जा है। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि जब निजाम पाकिस्तान चला जाता है तब उसके परिवार के अन्य लोग भारत में ही रह जाते हैं। जब निजाम भारत को छोड़कर पाकिस्तान जाने लगता है तब उसका पिता उसे कहता है "छुट्टे साँड की तरह डोलव हिआँ से हुआँ। ऐही दिन देखे के वास्ते ख़्वाजा साहब से तौका मांगा रहा।"[5] पाकिस्तान पहुंचने के बाद निजाम को कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है जैसे लक्षित उपन्यास में दिखाया गया है "दो दिन भूखा रहने और फुटपाथ पर सोने के बाद पेट की आग ने निज़ाम को मज़दूरी करने, बोझा ढोने और फेरी लगाने पर मजबूर कर दिया था। महीना-भर कराची में रोते-पीटते गुज़ार लेने के बाद जब वह पास-आस पास नज़र दौड़ाता, तो ज़मींदाराना ग़ुरूर पारा-पारा हो जाता। बीसियों बीघा, ज़मीनबाग़, कुएँ, घर-बार छोड़कर जिस मुल्क को वह अपना समझ कर आया, वहाँ दो गज़ ज़मीन के लाले पड़े थे।[6] इससे यह समझ आता है कि जो लोग अपना वतन छोड़ कर दूसरे वतन गए हैं उनको बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा चाहे वह खाने पीने की चीजों को लेकर हो या कपड़ों और घर की। निजाम और उसके परिवार के बीच इस भौगोलिक दूरी के साथ साथ द उनके बीच भावनात्मक दूरी और प्रतिष्ठा का दर्द भी दिखाई देता है। जैसे निजाम के पाकिस्तान जाने के बाद उसके पिता रहीमुद्दीन उसकी प्रतीक्षा में सोचते हैं "निजाम के पाकिस्तान चले जाने के बाद, उसके इन्तज़ार की तख़्ती सबकी आँखों में लटकी रही। हर आहट, हर खटके पर सबके कान खड़े हो जाते। रहीमउद्दीन चारपाई पर बैठे-बैठे गाँव आने वाली पगडंडी की तरफ नज़र गाड़े अक्सर सोचते कि किसी दिन थका-हारा नन्हें पैरों की धूल झाड़ता उनके पायताने आकर बैठ जाएगा और उनके कन्धे पर अपना थका सर रखकर कहेगा, "सच कहत रहे अब्बा घर से बाहर निकलो तो बस ज़िल्लत और दुःख के सिवाए कुछ हाथ नहीं लगता है।" "जो गुज़र गया ओका भूल जाओ बेटवा, अब आगे की सुध लेव। रज्जो का ब्याह तोरे इन्तज़ार में रुका रहा। अब...।"[7] रहीमउद्दीन बेटे को प्यार से गले लगा कर सारे गिले-शिकवे भूलकर उसे ढाढ़स बँधाते। मगर निजाम के पिता का इंतजार बना ही रहता है। किस प्रकार निजाम और उसके माता-पिता के अनुभवों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि नया देश मिल जाने मात्र से व्यक्ति को मानसिक शांति या पूर्ण अपनापन प्राप्त नहीं होता पाकिस्तान पहुंचने के बाद भी निजाम मुहाजिर होने की पहचान झेलता रहता है। विभाजन की दूसरी बड़ी त्रासदी सांप्रदायिक हिंसा और मानवी मूल्य का विघटन है। उपन्यास

में हिंसा भाई और असुरक्षा के वातावरण के बीच यह प्रश्न भी उभरता है कि धर्म और राजनीति के नाम पर मनुष्य को क्यों अलग होना पड़ा। इस प्रकार जिंदा मुहावरे विभाजन को केवल सीमा के बंटवारे के रूप में ही नहीं बल्कि पारिवारिक सांस्कृतिक एवं स्मृति और मानवीय संबंधों के वितरण के रूप में प्रस्तुत करता है इस दृष्टि से नासिरा शर्मा का यह उपन्यास विभाजन और पीड़ा को को उजागर करता है जिसका परिणाम राजनीतिक सीमाओं से कहीं अधिक गहरा और दीर्घकालिक मानव मन में पड़ा है।

3. विभाजन का मानव पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव:–

भारत-पाक विभाजन केवल राजनीतिक सीमाओं को ही नहीं बदला बल्कि व्यक्ति की मानसिकता को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है। उनके घर परिवार उनके जन्म भूमि और सामाजिक परिवेश से अलग होने की स्थिति ने व्यक्ति की भीतर अनेक प्रकार के मानसिक द्वंद्व उत्पन्न कर दिए थे। जैसा की रामचंद्र शुक्ल ने कहा है "साहित्य समाज का दर्पण होता है और उपन्यास उसकी एक सशक्त विद्या है" इसका तात्पर्य समाज में जो कुछ भी घटित होता है वही हमारे साहित्य में उद्घाटित किया जाता है। जिसमें उपन्यास सबसे अहम भूमिका निभाता है इसीलिए नासिरा शर्मा के उपन्यास जिंदा मुहावरे में भारत पाक विभाजन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है। नासिरा शर्मा का 'जिंदा मुहावरे' इसी मानवी और मनोवैज्ञानिक पक्ष को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में भारत पाक विभाजन की त्रासदी के बाद मानव मन पर पड़े प्रभावों पर गहराई से अध्ययन किया गया है जिसमें यह पाया गया की बंटवारे से न केवल सामाजिक उथल-पुथल हुई बल्कि व्यक्ति के संवेदनाओं को भी बहुत गहरी चोट पहुंची। जिनके जीवन को विभाजन की परिस्थितियाँ अलग-अलग दिशाओं में ले जा रही है जिसमें निजाम एक अहम किरदार है जो विभाजन के समय भारत छोड़कर पाकिस्तान चला जाता है उसके पीछे उसका पूरा परिवार भारत में ही रह जाता है इन्हीं के माध्यम से पूरे भारत समाज के लोगों के मनोविज्ञान को दर्शाया गया है। जो निम्न है

3.1 रिश्तों का बटवारा:– भारत-पाकिस्तान विभाजन की सबसे बड़ी मानवी राशियों में परिवार और आदमी संबंधों का टूटना था तो राजनीतिक सीमा ने अनेक ऐसे परिवारों को अलग कर दिया जिनके सदस्यों ने वर्षों तक एक दूसरे के साथ जीवन बिताया था और आगे भी एक दूसरे के साथ ही जीवन बिताना चाहते थे। नासिरा शर्मा के उपन्यास जिंदा मुहावरे में यह स्थिति विशेष रूप से पारिवारिक संबंधों के माध्यम को दिखाती है। इसमें निजाम और इमाम दो सगे भाई होते हैं परंतु भारत पाकिस्तान विभाजन में दो भाइयों का भी बंटवारा हो जाता है जैसे निजाम पाकिस्तान जाने लगता है तब घर वालों के रोकने पर वह अपने घर वालों से कहता है "मसला अपना और पराया नहीं है। माना कि हमारा घर-आँगन नहीं बचा तो क्या हुआ। हमारा आब-ब-दाना तो उठ गया यहाँ से। बेहतर है कि हम कूच करें। अभी आप लोगों की बात पल्ले नहीं पड़ रही है, मगर वक्त आने पर समझेंगे। बरसों रहने के बाद आज ढाक के वही तीन पात? बँटवारे के बाद हमारी हैसियत? इस गाँव से बाहर निकलकर देखें, फिर कहें कि कौन किस को खदेड़ रहा है?" निज़ाम का सारा वजूद सुलग रहा था। ऊँची आवाज़ आँगन की दीवार फलाँग गई"।[8] परंतु नाम के साथ सभी जाने से इनकार कर देते हैं तब तब वह अकेले ही घर से पाकिस्तान चला जाता है और जाते-जाते यह सोचता रहता है की'सबे का खून सफेद होय गवा है। जमीन की खातिर हम में मुँह मोड़ लीहिन। हमका भी अब केही की परवाह नाहीं। न अम्मा, न अब्बा, न भाई-भाभी, न बहन। जहाँ जात हैं अब वही हमार वतन कहलाइहैं। नया ही सही अपना तो होइहें। जहाँ रोज-रोज ओकी खुदारी को कोई ललकारिये तो नाहीं। कोई ओके गरीबन पर हाथ डाले की जुर्रत तो न करिहैं...' निशुराम दिल ही दिल पेन-ताव खाता हुआ आगे बढ़ रहा था"।[9] यह थी निजाम की मानसिक स्थिति परंतु इसके विपरीत उनके माता-पिता भाई और भाभी जिनको नहीं छोड़कर हमेशा के लिए जा रहा था उनकी अलग ही मानसिक स्थिति थी जैसे अपने बेटे और अपने दोस्त के जाने के बाद रहीमुद्दीन सोचता है"इन सबके बगैर हम अकेले जी नहीं सकते हम का?" मसूद अली के चमड़े जूतों की आवाज़ को अपने से दूर होता सुन रहीमउद्दीन का टूट सा चेहरा दिखाई पड़ा, मगर आँखों की ओट के कारण गिरती बूँदों को कोई नहीं देख पाया"।[10] इससे यह कहां ज्यादा सकता है की जो लोग भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गए हैं उनकी मानसिक स्थिति और जो लोग भारत में रह गए उन लोगों की भी मानसिक स्थिति एक समान थी दोनों की जिंदगी में उथल-पुथल मची हुई थी। दोनों की मानसिक संवेदनाओं को पीड़ा पहुंची थी। विभाजन के कारण रिश्तो में उत्पन्न यह दूरी व्यक्ति के भीतर अकेलापन प्रतिष्ठा और भावनात्मकता पैदा करती है। जैसे निजाम के पाकिस्तान चले जाने पर उनके परिवार वाले उसके इंतजार में ही अपना दिन गुजरते रहते हैं जैसा कि उपन्यास में वर्णित किया गया है "निजाम के पाकिस्तान चले जाने के बाद, उसके इंतज़ार की तड़प सबकी आँखों में लटकी रही। हर आहट, हर खटके पर सबके कान खड़े हो जाते। रहीमुद्दीन चारपाई पर बैठे-बैठे गाँव आने वाली पगडंडी की तरफ नजर गाड़े अक्सर सोचते कि किसी दिन थका-हारा नन्हें पैरों की धूल झाड़ता उनके पायताने आ जाएगा और उनके कन्धे पर अपना थका सिर रखकर कहेगा, "सच कहते रहे अब्बा घर से बाहर निकली तो बस जिल्लत और दुःख के सिवाए कुछ हाथ नहीं लगता है।"[11] परिवार उनके मानसिक संतुलन और सुरक्षा का आधार होता है जब वही बिखर जाता है तो व्यक्ति

स्वयं को अधूरा महसूस करने लगता है। भाई भाई के बीच के बंटवारे में जब एक भाई दूर देश चला जाता है दूसरा भाई भारत में उसका इंतजार करता रहता है 45 सालों बाद जब निजाम उर्फ नन्हे अपने देश वापस लौट कर आ रहा होता है तो उसके दिमाग में कई ख्याल घूमते रहते हैं जो उसके मनोवैज्ञानिक उत्पीड़न को दर्शाते हैं। जैसे "कराची से उड़ा जहाज दिल्ली पहुँच जाएगा। थोड़ी-सी देर में पैंतालीस बरस की दूरी सिमटकर एक फासला बन जाएगी। निजामुद्दीन हवाई जहाज में बैठे-बैठे सोच रहे थे। धीरे से उन्होंने अपनी आँखें घुमाईं और बीवी को देखा, समीहा का चेहरा पल-पल रंग बदल रहा था। उस पर यादों की परछाइयाँ आँख-मिचौली खेल रही थीं। बेटा अकबर ज़रूर हर चीज़ से बेनियाज़ अंग्रेज़ी का नॉवेल पढ़ रहा था।

"दिल्ली हवाई अड्डे पर गोलू लेने आएगा, कैसे पहचानूँगा उसे? हाँ...तस्वीर... तस्वीर... भेजी थी न!" निजाम को एकदम से याद आया और उसी के साथ अपनी आखिरी मुलाकात जब गोलू ने उससे लिपटकर कहा था।

"कहाँ जाते हो चच्चा, हमका भी ले चलो साथ…" और धीरे से काँपनी का थैला उसे पकड़ दिया था।

"क्या आज पिंजड़ा होगा वहाँ?" आँखों के सामने बेशुमार लालमुनियाँओं के झुण्ड चमकने लगे व महावर लगे पैजे, लाल चौंच, माथे पर बिन्दी और लाल, सुरमई व कढ़ाई पंखों पर, सफेद धब्बा, सुहागिन चिड़ियाँ कैसा मीठा गाना गाती थीं। निजाम ने आँखें बन्द कर लीं। उसे लगा, जैसे अमरूद की डाल पर बड़ा-सा पिंजड़ा लटक रहा है।

"नन्हें, बड़ी देर लगा दिए, बेटवा, आखिर कहाँ रह गए थे! साँझ ढलने को आई।" अम्मा की आवाज़ कानों से टकराई। चूड़ीदार पायजामे पर बड़ा-सा कुर्ता और सिर पर दुपट्टा! सहसा वह चौंका"।[12] और जब वह भारत पहुंच जाता है तब उसकी मुलाकात वहां उसके बड़े भाई इमाम से होत है तो दोनों के बीच के मनोवैज्ञानिक दर्द और लाचारी को नासिरा शर्मा ने इस उपन्यास में दिखाया है जैसे "दोनों भाई पहले एक-दूसरे को देखते रहे, फिर तड़प कर बगलगीर हुए। एक-दूसरे से लिपट कर उन्होंने अम्मा, अब्बा, अपना बचपन, अपनी जुदाई को याद करके जैसे उन्हें समेटा हो और न चाहने पर भी दोनों रो पड़े। उनकी यह हालत देखकर गयास ने दबी ज़बान से बाजू पर हाथ रखकर कहा, "अब्बा, अन्दर तो चलें, अम्मी चची का इन्तज़ार कर रही होंगी।"

"हाँ, चलो!" दोनों होश में आ गए। जेब से रूमाल निकाल कर उन्होंने आँखें खुश्क कीं और आगे बढ़े"।[13] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिंदा मुहावरे में व्याप्त बंटवारा वास्तव में मानव मन के बंटवारे का प्रतीक बन जाता है

3.2 नए परिवेश का भय:– विभाजन के बाद लोगों ने अपना घर ही नहीं अपने परिचित लोग और परिचित परिवेश छोड़कर दूसरे देश में जाने का निर्णय लिया उनके सामने जीवन को नए श्री से शुरू करने की अनेकों चुनौतियां थी। उनके अपने पुराने वातावरण से जुड़ी स्मृतियों और नए वातावरण की अनिश्चित उनके मनों में द्वंद पैदा करती रहती थी जिंदा मुहावरे में यह समस्या विशेष रूप से उन पत्रों के माध्यम से सामने आती है जो विभाजन के कारण भारत और पाकिस्तान के बीच स्थानांतरित हुए। जैसे की भारत छोड़कर जाने वाला निजाम जो अपने पूरे परिवार को छोड़कर पाकिस्तान चला जाता है वहां उसे अपने आप को एक नए वातावरण और नए परिवेश में ढालना पड़ता है। जब वह पाकिस्तान पहुंच जाता है तब उसे कई मुसीबत का सामना करना पड़ता है जैसे उपन्यास में वर्णित है।"दो दिन भूखा रहने और फुटपाथ पर सोने के बाद पेट की आग ने निज़ाम को मजदूरी करने, बोझा ढोने और फेरी लगाने पर मजबूर कर दिया था। महीना-भर कराची में रोते-पीटते गुज़ार लेने के बाद जब वह आस-पास नज़र दौड़ाता, तो जमींदाराना गुज़र पारा-पारा हो जाता। बीसियों बीघा, जमीनबाग़, कुएँ, घर-बार छोड़कर जिस मुल्क को वह अपना समझ कर आया, वहाँ दो गज़ ज़मीन के लाले पड़े थे।[14] सुरक्षा केवल जान मार के खतरे से पैदा नहीं होती व्यक्ति को अपने भविष्य परिवार और सामाजिक पहचान को लेकर भी चिंता रहती है जैसे निजाम को पाकिस्तान में अपने आने वाले कल की हमेशा चिंता रहती थी कि वह अपने मुंह को छोड़कर जिस मुल्क में आया है क्या यह मुल्क उसे अपना आएगा क्या इस मुल्क में वह अपनी एक अलग जगह बन पाएगा। निजाम को पाकिस्तान आए कई वर्ष हो चुके थे परंतु अभी भी उसकी उसे मुजाहिद ही कहा जाता था जो दूसरे देश से आया हो। तभी तो जब पाकिस्तान में राजनीतिक व्यवस्था में कुछ छल-ए-ताल-पुथल मची हुई थी तब निजाम की पत्नी सबीहा जो भारत छोड़कर पाकिस्तान आए थे यहीं पर उसका और निजाम का विवाह हुआ था वह निजाम भी और अपने बच्चों की थी इस नए परिवेश में उसके बच्चों को कोई हानियां पहुंचा दे। तभी वह वह अपने बच्चों की चिंता करती हुई इस उपन्यास में दिखाई पड़ती है । नए परिवेश कब है इसलिए भी उत्पन्न होता है क्योंकि व्यक्ति को यह निश्चित नहीं होता से स्वीकार करें वह अपने पुराने जीवन और वर्तमान स्टाफ इसके मां इस कई प्रकार की विसंगतियां उत्पन्न होती हैं इस प्रकार इस उपन्यास में नए परिवेश केवल भौगोलिक परिवर्तन ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत और मानसिक अनुकूलन की भी कठिन परीक्षा बन जाता है।

3.3 असुरक्षा की भावना:–विभाजन की त्रासदी का एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिणाम सुरक्षा की भावना भी है जो कि व्यक्ति का घर सामाजिक वातावरण और संपत्ति तथा पारिवारिक संरचना अचानक बदल जाती है। सुरक्षा केवल जान माल के खतरे से पैदा नहीं होती बल्कि व्यक्ति को अपने भविष्य परिवार और सामाजिक पहचान को लेकर भी चिंता रहती है। विभाजन के कारण जब लोग अपने पुराने स्थान से अलग हुए तो उनके सामने समस्या की ने वातावरण में अपने जीवन को किस प्रकार आगे बढ़ाने की जैसे भारत से पाकिस्तान गए ऐसे कई परिवार इस उपन्यास में दिखाए गए हैं जिन्होंने इस सुरक्षा की भावना को अपने अंदर महसूस किया जिसमें निजाम, सबीहा, वारिमशाह आदि कई सारे लोग दिखाए गए हैं जो निजाम की कहानी के आसपास घूमते रहते हैं। जिंदा मुहावरे में परिवारों से अलगाव और सामाजिक परिस्थितियों के माध्यम से यह अनुभव सामने आता है कि राजनीतिक घटना का प्रभाव निजी जीवन तक पहुंच जाता है निजाम और ईमान की अलग-अलग दिशाओं में चली गई जिंदगी इस विघटन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण दिखाई देती है अपना देश छोड़कर आए हुए लोगों को पाकिस्तान में मुजाहिद भी कहा गया चाहे उन लोगों ने वहां अपनी पूरी उम्र क्यों ना निकलती हो। निजाम जब पाकिस्तान पहुंचता है तो तब उसको सबसे पहले यही भावना घेर लेती है जैसा कि उपन्यास में दिखाया गया है "कराची पहुँच कर निज़ाम का दिल एक अनजान जगह को देखकर ऐसा घबराया कि जी चाहा, कि उलटे पैर घर लौट जाए। साथ आए लोग जाने कहाँ बिखर कर गुम हो गए थे। हमदर्दी के दो बोल बोलने वाला कोई नज़र न आता। रात को जब सोया, तो बार-बार चौंक कर उठ बैठता। समझ न पाता कि वह है कहाँ? क्या इसी अनजान-वीरान बस्ती का ख़्वाब लेकर ही चला था? ह जन्नत कहाँ खो गई"?[15] इससे यह समझ में आता है कि निजाम को अपने आने वाले कल के कितनी चिंता थी उसे अपने भारत छोड़ने के फैसले पर पछतावा हो रहा था।

असुरक्षा का दूसरा रूप सामाजिक और आर्थिक भविष्य की चिंता भी थी जो व्यक्ति अपना वतन अपना घर जमीन और अपना परिवार छोड़कर दूसरे देश गया हो उसको अपनी पहचान बनाने की असुरक्षा तो महसूस होगी जैसे उपन्यास में कई पत्रों को लड़ते हुए दिखाया गया है। जब भी हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच कोई राजनीतिक या सांप्रदायिक लड़ाई सुने पड़ती है तो इन दोनों देशों में रहने आए शरणार्थी अपने आप को असुरक्षित महसूस करने लगते हैं इसी संदर्भ में निजाम की बीवी सबीहा मन में व्याप्त असुरक्षित भावना को दिखाया गया है जैसे "इधर कराची शहर में रोज किसी-न-किसी तरह की मुठभेड़ चल रही थी। ऐसी हालत में निजाम पर दबाव तिजारत के अलावा बच्चों के भविष्य का भी था। नाहीद अपने घर खुश थी। छोटी बेटी भी अब जवान हो गई थी। लड़कों की कमी नहीं थी, मगर नादिरा अपनी बड़ी बहन से बिल्कुल अलग थी। उसको अभी तक कोई लड़का पसन्द नहीं आया था। सब में कोई-न-कोई कमी उसे नजर आती थी। सबीहा उसके इन तेवरों से फ़िक्रमन्द थी"।[16] यह फिक्रमंदी सबीहा के मन में व्याप्त सुरक्षा की भावना को उजागर करती है और निजाम भी इससे अछूता नहीं रह गया जब भी पाकिसतान में कोई दंगा सुनाई देता है तब वह अपने परिवार को लेकर चिंतित हो जाता है कि कहीं यह दंगाई उसको या उसके परिवार को कोई हानि न पहुंचा दे क्योंकि वह भारत देश से आया है निजाम की इस व्यथा को इस उपन्यास में बखूबी दिखाया गया है जैसे "सुबह निज़ाम को इत्तला मिली की शहर के एक हिस्से में फ़साद हो गया है। उसने घर फ़ोन मिलाया और सबीहा को बताया कि इस हालत में किसी बच्चे को बाहर निकलने दे।"[17] इस उदाहरण को पढ़कर यह कहा जा सकता है कि दूसरे देश में गए हुए शरणार्थियों को अपने सुरक्षा को लेकर हमेशा डर बना रहता था जैसे निजाम को था और निजाम का या डर सही भी साबित हुआ जो उसके परिवार की सुरक्षा को लेकर था। उसे दंगे में उसके बेटे को गायब कर दिया गया जिसका कोई पता नहीं चला कि वह जीवित है या मर गया। इसके बाद निजाम का पूरा परिवार एक सदमे में चला जाता है कि इस देश में उन्हें नहीं अपनाया इस देश में उनका परिवार सुरक्षित है भी या नहीं। इसके बाद पूरे परिवार की मानसिक स्थिति बिगड़ जाती है जो उपन्यास में दिखाई गई है।"

निष्कर्ष

भारत-पाकिस्तान विभाजन के बाद आए गए शरणार्थियों की जो मनोदशा या मनोविज्ञान नासिरा शर्मा के उपन्यास 'जिंदा मुहावरे' में दिखाया गया है यह केवल इतिहास की घटना के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकता है बल्कि उसको मानवी और मनोवैज्ञानिक परिणाम को केंद्र में भी रख कर देखना चाहिए। बंटवारे ने इन लोगों के परिवार और सामाजिक परिवेश से अलग– अलग कर दिया तथा उनके सामने कई ऐसी परिस्थितियों और चुनौतियां रख दी जिसमें वह अपने मन में एक अलग मानसिक जंग लड़ रहे थे। इस उपन्यास में रिश्तों का टूटना और नए परिवेश का डर बना रहा है। लोग मानसिक खुशी के लिए तरस रहे थे निजाम उसमें से एक था जब वह अपने घर अपने गांव वापस लौट कर आता है तो उसे वह खुशी दोबारा भोगने को मिलती है जैसे जब गांव में उसकी भाभी उसे खाने को पूछती हैं तो वह बड़ा लालसाई होकर पुरानी यादों के सहारे बोलता है"

अरहर की भाव उड़ती दाल, जिसमें घी पड़ा हो, गरमा गरम भुर्ता, धनिया की चटनी और तवे पर से उतरती भाभी की हाथ की सफेद चित्तीदार रोटियां।"जाने कैसे निजाम चाहते हुए बोल उठा"।[17] इससे यह देखने को मिलता है कि मानो मां को आंतरिक सुख अपनों के साथ और अपने बचपन से बीते हुई जगह पर ही मिलता है जो बंटवारे ने उनसे छीन लिया था। वहां पाकिस्तान में ना तो उसका कोई भाई था ना कोई बाप ना कोई मन ना ही कोई रिश्तेदार जिससे वह अपने मन की बात कर सके जिससे वह उसे देश में 45 साल बिता कर भी खुद को असुरक्षित और अकेला महसूस करता रहा था। सुरक्षा और पहचान का संकट इसी मानवीय विघटन के कई अलग-अलग रूप दिखाई पड़ते हैं।

इस उपन्यास की एक यह भी विशेषता है कि इसमें विभाजन की चर्चा में केवल एक समुदाय के पीड़ा को ही नहीं रखा गया बल्कि तमाम मानवी संबंधों और संस्कृतियों को भी दिखाया गया है। इसमें राजनीतिक विभाजन का वास्तविक प्रभाव आम लोगों के जीवन और उनके मानव मन पर दिखाया गया है। इस अध्ययन में भी 'जिंदा मुहावरे' को भारत विभाजन के बाद और पाकिस्तान दोनों के मुस्लिम समाज के अलगाव बोध तथा पीड़ा से जोड़कर देखा गया है जिस पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना मेरे नजदीक अत्यंत आवश्यक था। इस अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि भारत पाक विभाजन केवल आर्थिक और विविधता का ही विभाजन नहीं बल्कि लोगों की मानों का भी बंटवारा था। जिसे दोनों देशों के मानव मन को बहुत गहराई से चोट पहुंचाया है।

संदर्भः—

1. अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन. "मनोविज्ञान." एपीए मनोविज्ञान शब्दकोश में. अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसिएशन.

2. शर्मा, नासिरा. (1994). *जिंदा मुहावरे*. वाणी प्रकाशन, पृ. 31

3. वही, 1994, भूमिका से

4. वही, 1994, भूमिका से

5. वही, पृ. 11

6. वही, पृ. 15

7. वही, पृ. 20

8. वही, पृ. 10

9. वही, पृ. 11

10. वही, पृ. 11

11. वही, पृ. 20

12. वही, पृ. 113

13. वही, पृ. 114

14. वही, पृ. 15

15. वही, पृ. 23

16. वही, पृ. 85

17. वही, पृ. 118

Received: 14.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'ऐ लड़की' का समाजशास्त्री समीक्षा

सोनू गौतम*
sguatam422@gmail.com

प्रस्तावना:-

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'ऐ लड़की' हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श और परिवार के समाजशास्त्र का एक अत्यंत सघन, यथार्थवादी और मार्मिक दस्तावेज़ है। यह कृति मुख्य रूप से मृत्यु-शय्या पर पड़ी एक वृद्ध माँ (अम्मू) और उसकी तीमारदारी कर रही उसकी स्वतंत्र विचारों वाली बेटी के बीच का एक वैचारिक संवाद है। इस संवाद के माध्यम से लेखिका ने भारतीय मध्यवर्गीय परिवार की संरचना, उसमें स्त्री की दोयम दर्जे की स्थिति और पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जड़ों का अत्यंत गहरा समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह उपन्यास कई महत्वपूर्ण विमर्शों को एक साथ खोलता है। इसमें जहाँ एक ओर श्रम का लैंगिक विभाजन और विवाह संस्था में स्त्री के 'अदृश्य और अवैतनिक श्रम' की विडंबना उजागर होती है, वहीं दूसरी ओर वृद्धावस्था के समाजशास्त्र का वह कटु यथार्थ भी सामने आता है जहाँ उम्र के अंतिम पड़ाव पर व्यक्ति, विशेषकर स्त्री, पारिवारिक हाशिए पर धकेल दी जाती है।

यह रचना केवल एक पीढ़ी की स्मृतियों का आख्यान नहीं है, बल्कि यह मातृत्व के उस मिथकीय महिमामंडन को खारिज करती है जो स्त्री को केवल एक 'उपयोगिता' तक सीमित कर देता है। अंततः यह उपन्यास स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व, उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता और आत्म-सम्मान की तलाश का एक ऐसा मुखर समाजशास्त्रीय महाकाव्य है, जो समकालीन पारिवारिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अपनी पूर्ण प्रासंगिकता बनाए हुए है।

उपन्यासकार का परिचय

हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श और साझी संस्कृति को नया आयाम देने वाली सशक्त कथाकार कृष्णा सोबती (18 फरवरी 1925 – 25 जनवरी 2019) का जन्म अविभाजित भारत के गुजरात (पंजाब) में हुआ था। देश के विभाजन का उनके मन और साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी शिक्षा लाहौर, शिमला और दिल्ली में संपन्न हुई। कृष्णा जी ने अपनी रचनाओं में मानक हिंदी, उर्दू और ठेठ पंजाबी भाषा का अद्भुत सम्मिश्रण किया है। उनकी नायिकाएँ समाज के पारंपरिक साँचों को तोड़कर अपनी स्वतंत्र पहचान और शारीरिक-मानसिक इच्छाओं को मुखरता से जीती हैं, जिसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'मित्रो मरजानी' है। उनका रचना-संसार अत्यंत व्यापक है; जिसमें 'ज़िंदगीनामा' (अविभाजित पंजाब की संस्कृति का महाकाव्यात्मक दस्तावेज़), डार से बिछुड़ी', 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'दिल-ओ-दानिश' और 'समय सरगम' जैसे कालजयी उपन्यास शामिल हैं।

कथा साहित्य में उनकी कहानी 'सिक्का बदल गया' विभाजन की विभीषिका का एक मार्मिक आख्यान है, जबकि 'ऐ लड़की' स्त्री-जीवन, पितृसत्ता और वृद्धावस्था का सघन मनोवैज्ञानिक यथार्थ प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'हशमत' उपनाम का उपयोग करते हुए 'हम हशमत' शीर्षक तले बेजोड़ संस्मरण भी रचे हैं।

साहित्य में उनके इस युगांतरकारी और समग्र योगदान के लिए उन्हें वर्ष 1980 में 'साहित्य अकादमी पुरस्कार', 1996 में 'साहित्य अकादमी फेलोशिप' और 2017 में देश के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से अलंकृत किया गया। अपनी वैचारिक दृढ़ता और लेखकीय स्वाभिमान के चलते उन्होंने 2010 में भारत सरकार के 'पद्म भूषण' सम्मान को विनम्रतापूर्वक यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि एक लेखक को सत्ता से एक निश्चित दूरी बनाए रखनी चाहिए। उनका साहित्य आज भी अकादमिक शोध के लिए एक अनमोल धरोहर है।

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय मोतिहारी, गांधी परिसरा, पूर्वी चंपारण, बिहार**

उपन्यास का समाजशास्त्र

उपन्यास का समाजशास्त्र साहित्य-समीक्षा की वह महत्वपूर्ण शाखा है, जो उपन्यास और तत्कालीन समाज के बीच के अंतर्संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन करती है। यह विमर्श मानता है कि कोई भी रचना शून्य में नहीं जन्म लेती, बल्कि वह अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ही उपज होती है। विशेषकर, उपन्यास विधा का सीधा संबंध आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था, औद्योगीकरण और 'मध्यवर्ग' के उदय से है। यह व्यक्ति के अकेलेपन, सामाजिक संघर्ष और टूटती संस्थाओं का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज़ है। विभिन्न विचारकों ने उपन्यास और समाज के इस संबंध को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है कि "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"[1]

भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद का यह कथन स्पष्ट करता है कि मनुष्य का चरित्र किन सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के दबाव में बनता या टूटता है, इसका यथार्थ चित्रण ही उपन्यास का सच्चा समाजशास्त्र है। "उपन्यास के साहित्यिक रूप (Form) और आधुनिक पूँजीवादी बाज़ार-समाज की आर्थिक संरचना के बीच एक गहरी समरूपता है।"[2] गोल्डमान का यह कथन सिद्ध करता है कि बाज़ारवादी समाज में जहाँ हर चीज़ 'वस्तु' बन जाती है, वहीं उपन्यास का नायक इस अमानवीय व्यवस्था के बीच प्रामाणिक मानवीय मूल्यों की तलाश करता है।

मादाम स्तेल और हेगेल के चिन्तन से उपन्यास के सामाजिक आधार और अभिप्राय विकसित हुई। यहीं चिन्तन उपन्यास के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की उपज है। मिशेल जेराफ ने लिखा है कि- "उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपित होकर सामने आता है।"

समाज से उपन्यास के संबंध के अनेक स्तर और रूप है। फिल्म के बाद उपन्यास ही आधुनिक युग का सर्वाधिक प्रतिनिधि कला रूप है। उपन्यास और उसका समाजशास्त्र साहित्य-समीक्षा की वह वैज्ञानिक शाखा है जो इस विधा के उद्भव, संरचना और तत्कालीन समाज के साथ उसके गहरे अंतर्संबंधों का अध्ययन करती है। यह विमर्श स्थापित करता है कि उपन्यास कोरी कल्पना या केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि इसका सीधा संबंध आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था, औद्योगीकरण और 'मध्यवर्ग' के ऐतिहासिक उदय से है। जॉर्ज लूकाच और लूसिएन गोल्डमान जैसे विचारकों के अनुसार, जब बाज़ारवादी और अमानवीय समाज में पारंपरिक मूल्य दरकने लगते हैं, तब उपन्यास का 'समस्याग्रस्त नायक' अपने प्रामाणिक वजूद और अस्मिता की तलाश करता है। यह विधा फंतासी से इतर आम इंसान के रोज़मर्रा के संघर्षों, अस्तित्व के संकट, व्यक्ति व समाज के द्वंद्व और परिवार जैसी संस्थाओं के विघटन को यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है। निष्कर्षतः उपन्यास आधुनिक मानव सभ्यता का एक ऐसा 'गद्य-महाकाव्य' है जिसका मूल उद्देश्य—मुंशी प्रेमचंद के शब्दों में—मानव-चरित्र के रहस्यों को खोलना और व्यक्ति के नितांत अकेलेपन तथा उसके सामाजिक यथार्थ को वैज्ञानिक दृष्टि से अनावृत करना है।

'ऐ लड़की' का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

हिंदी साहित्य की सशक्त हस्ताक्षर कृष्णा सोबती द्वारा रचित 'ऐ लड़की' केवल एक मृत्यु-शय्या पर पड़ी बीमार माँ और उसकी तीमारदारी कर रही बेटी के बीच का संवाद नहीं है; बल्कि यह जन्म से लेकर मृत्यु तक एक स्त्री के सामाजिक यथार्थ का सघन दस्तावेज़ है। यह रचना भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में स्त्री की स्थिति, पितृसत्तात्मक संरचना, श्रम के लैंगिक विभाजन और वृद्धावस्था में व्यक्ति के हाशियाकरण को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है।

लेखिका ने माँ के जीवन-अनुभवों और उसकी स्मृतियों के माध्यम से मातृत्व की विडंबनाओं और एक स्त्री के नितांत अकेलेपन का बेबाक चित्रण किया है। समाज और परिवार रूपी नियंत्रक संस्था के भीतर पनपते अंतर्द्वंद्वों की वास्तविक परिणति कथा के भीतर किस प्रकार हुई है, इसे रचना के निम्नलिखित विशिष्ट उद्धरणों और उनके समाजशास्त्रीय विश्लेषण के आलोक में स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है

1. वृद्धावस्था में हाशियाकरण :- इस अवस्था में पहुँचकर वृद्धों का जो सामाजिक हाशियाकरण होता है, वह अत्यंत मार्मिक है। आधुनिक पारिवारिक संरचना में उन्हें एक 'बोझ' मान लिया जाता है, जिसका दर्द इस स्वीकारोक्ति में झलकता है कि "लड़की, बूढ़ों के लिए न दिल में जगह रहती है, न घर में। मैंने तो पूरा कमरा घेर रखा है।"[4] यह उद्धरण आधुनिक पारिवारिक संरचना में वृद्धों के विस्थापन और उन्हें एक 'बोझ' समझे जाने की सामाजिक त्रासदी को दर्शाता है।

2.**बाल-पोषण और प्राकृतिक नियम :-** जीवन की शुरुआत और संबंधों के बनने-टूटने का क्रम बाल-पोषण के उस प्राकृतिक नियम से ही शुरू हो जाता है, जहाँ संसाधनों का बँटवारा तय है। माँ समझाती है कि "मुनिया, माँ का दूध एक बार छूट जाता है तो दुबारा मुँह नहीं लगता !... यह कुदरत का नियम है।"[5] यह परिवार में संसाधनों के बँटवारे और बाल-पोषण के समाजशास्त्र को दिखाता है, जहाँ अगली संतान के आते ही पहले बच्चे को स्वतंत्र होना पड़ता है।

3.**पीढ़ियों का भूमिका-हस्तांतरण :-** स्वतंत्रता और अलगाव की यह पहली सीढ़ी जीवन के अंतिम पड़ाव तक पहुँचते-पहुँचते उस अवस्था में बदल जाती है, जहाँ पीढ़ियों का भूमिका-हस्तांतरण हो जाता है। जो माँ-बाप उँगली पकड़कर चलना सिखाते हैं, वे ही कि "पहले माँ-बाप अँगुली पकड़ बच्चों को क़दम भरना सिखाते हैं। फिर वही बूढ़े होकर अपने बच्चों के बच्चे बन जाते हैं।"[6] समाज में इसे पीढ़ियों के बीच भूमिकाओं का पलटना कहा जाता है। उम्र के साथ अधिकार और निर्भरता का केंद्र बदल जाता है।

4.पितृसत्ता और शक्ति-संतुलन :- पितृसत्ता और शक्ति-संतुलन समाज में पदानुक्रम तय कर देता है। इसी के बल पर यह मान लिया जाता है कि "लड़की, मर्द का दबदबा रहना ही चाहिए। उसका स्थान नीचे नहीं, ऊपर है।"[7] यह पारंपरिक समाज में जेंडर पदानुक्रम की स्पष्ट स्वीकृति है, जहाँ पुरुष को हमेशा सत्ता के शीर्ष पर रखा जाता है। इन्हीं मर्यादाओं की आड़ में श्रम का लैंगिक विभाजन तय कर दिया जाता है, जहाँ घर की सेवा का पूरा दायित्व स्त्री के हिस्से आता है:

5. श्रम का लैंगिक विभाजन :- "तुम्हारे पिताजी उठते थे देर से। लौटकर उन्हें चाय दिया करती थी।"[8] यह रोज़मर्रा के जीवन में श्रम के लैंगिक विभाजन को दर्शाता है, जहाँ घरेलू सेवा और देखभाल का पूरा दायित्व स्त्री पर होता है।

6. परिवार एक नियंत्रक संस्था के रूप में :- इस पुरुषवादी सत्ता को बनाए रखने के लिए 'परिवार' एक नियंत्रक संस्था के रूप में कार्य करता है। समाजशास्त्र के अनुसार, परिवार व्यक्ति पर नैतिक नियंत्रण स्थापित करता है, क्योंकि "परिवार लगता है तो हाथ पहचान करता है। आप ही संयम बाँध लेता है।"[9] पुरुषवादी सत्ता के अनुसार, परिवार व्यक्ति पर नैतिक और सामाजिक नियंत्रण स्थापित करता है और उसे निरंकुश होने से रोकता है।

7. गृहस्थी का समाजीकरण :- स्त्री के लिए यह नियंत्रण गृहस्थी के समाजीकरण का रूप ले लेता है, जहाँ उसे हर काम में मितव्ययिता सिखाई जाती है "मर्यादा का रंग तो कुछ और ही होता है... घर-गृहस्थी माप-तौल सिखाती है। मूठ पड़नी है तो मूठ, चुटकी डलनी है तो चुटकी।"[10] यह स्त्री के पारिवारिक समाजीकरण को दर्शाता है, जहाँ उसे हर काम में संयम और मितव्ययिता सिखाई जाती है।

8. पुरुष-वर्चस्व का मिथकीय करण :- इस पूरे पारिवारिक ढाँचे की नींव उस पितृसत्तात्मक शक्ति-संतुलन पर टिकी है, जिसे समाज ने मिथकों तक में स्थापित कर रखा है। पुरुष-वर्चस्व को सही ठहराते हुए गढ़ा गया यह मिथक कि "इस ब्रह्मांड का महानायक सूरज है... सृष्टि का हर नर सूरज से शक्ति खींचता है।"[11] पितृसत्ता अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिए मिथकों का सहारा लेती है और पुरुष को 'सृष्टिकर्ता' के समकक्ष खड़ा करती है।

9. वैवाहिक संबंधों के बाद माँ-बेटे के संबंध :- और इस पूरी यात्रा की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि जिस पुत्र के लिए एक स्त्री अपना पूरा जीवन और आकाश समेट लेती है, वैवाहिक संबंधों के बाद वही पुत्र अपनी नई दुनिया में उलझ जाता है। पुरुष के प्राथमिकता-केंद्र बदलते ही माँ हाशिए पर चली जाती है "लड़के माँ को प्यार नहीं जता सकते ! अंकुश लगा रहता है... माँ पिछला अध्याय बनकर रह जाती है।"[12] इसमें विवाह के पश्चात् पुरुष के प्राथमिकता-केंद्र बदल जाते हैं। यह नई पारिवारिक संरचना में सास-बहू की रंजिश और माँ के हाशिए पर जाने का समाजशास्त्रीय यथार्थ है।

10. मातृत्व की सामाजिक व जैविक परिभाषा :- इस मातृत्व का महिमामंडन करते हुए समाज यह स्थापित करता है कि स्त्री की सार्थकता उसकी पीड़ा सहने में ही है, क्योंकि "लड़की, बच्चा बनाने से ही दर्द का साज-सिंगार पता लगता है।"[13] समाज स्त्री की सार्थकता मातृत्व की पीड़ा सहने में ही मानता है। यह मातृत्व का महिमामंडन है।

11. पितृवंशीय परिवार व्यवस्था :- यह पुरुष-वर्चस्व केवल एक पीढ़ी तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पितृवंशीय व्यवस्था के तहत आगे बढ़ता है, जहाँ "पिता पर पुत्र से कहीं ज़्यादा उसके पौत्र का अधिकार बनता है।"[14]

यह भारतीय समाज की पितृवंशीय व्यवस्था का प्रमाण है, जहाँ वंश और कुल की निरंतरता पोते से मानी जाती है।

12. स्त्री की मुख्य पहचान: मातृत्व :- इस अदृश्य श्रम और सेवा के बदले समाज स्त्री को केवल एक पहचान देता है—मातृत्व। उसकी व्यक्तिगत पहचान को मातृत्व के अधीन कर यह मान लिया जाता है कि "नारी उसी को धारण कर हरियाती है... बच्चा बनाया कि गले में मणका डाल लिया।"[15] समाज में स्त्री की व्यक्तिगत पहचान को मातृत्व के अधीन कर दिया जाता है; संतान ही उसकी सामाजिक मान्यता का आधार बनती है।

13. स्त्रियों का घरेलू दायरे में सीमित होना :- इसी महिमामंडन के जाल में फँसकर स्त्रियों का अपना वजूद घरेलू दायरे में सीमित हो जाता है। उनका अपना आकाश सिकुड़ जाता है, जिस पर लेखिका तीखा प्रहार करती हैं "जो दिलों पर अर्गलाएँ चढ़ा लेते हैं, उनका आकाश उन्हीं तक रह जाता है... बस उसी के आसपास थई-थई रोटियाँ सेंकते जाओ..."[16] यह स्त्री के घरेलू जीवन में कैद हो जाने और अपनी बौद्धिक/आध्यात्मिक क्षमता को नष्ट कर देने पर एक तीखा प्रहार है।

14. कुल और वर्ग का समाजशास्त्र :- इसके साथ ही, पारिवारिक विरासत और कुल के समाजशास्त्र पर प्रहार करते हुए वह यह भी स्पष्ट करती हैं कि झूठे अभिमान का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि "घरानों की तीसरी पीढ़ी आप ही नीचे सरक जाती है। खानदान की नाक पर गुमान चिपका ही रहे, यह ठीक नहीं।"[17] इसे 'सामाजिक गतिशीलता' का पतन कहा जाता है, जहाँ अभिजात्य वर्ग का पतन पीढ़ियों के साथ स्वाभाविक रूप से होता है। जो सामाजिक गतिशीलता के पतन का शाश्वत सत्य है।

15. विवाह का आर्थिक समाजशास्त्र :- शिक्षा और समान अधिकारों से वंचित कर जब स्त्री को विवाह संस्था में धकेला जाता है, तो वहाँ विवाह का आर्थिक समाजशास्त्र उसे पूरी तरह पंगु बना देता है। "घर का यह खेल बराबरी का नहीं, ऊपर-नीचे का है। घर का स्वामी कमाई से परिवार के लिए सुविधाएँ जुटाता है... इसी प्रभुताई के आगे गिरवी पड़ी रहती है बच्चों की माँ।"[18] मार्क्सवादी-नारीवादी दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि पुरुष की आर्थिक सत्ता स्त्री को आजीवन दोयम दर्जे का नागरिक बना देती है।

16. अदृश्य घरेलू श्रम :- इस आर्थिक पराधीनता के बीच स्त्री के अदृश्य घरेलू श्रम को कोई मूल्य नहीं मिलता। उसके जीवन भर खटने को 'प्रेम' और 'कर्तव्य' का आवरण पहनाकर बेगार बना दिया जाता है "औरत दिन-रात जो खटती है वह बेगार के खाते में ही न ! भूली रहती है अपने को मोह-ममता में।"[19] स्त्री के घरेलू श्रम को कोई आर्थिक मूल्य नहीं दिया जाता; उसे 'प्रेम' और 'कर्तव्य' (बेगार) का नाम देकर अदृश्य कर दिया जाता है।

17. स्त्री का आत्म-दमन :- इस संस्था को बचाए रखने के लिए स्त्री को निरंतर आत्म-दमन करना पड़ता है; "परिवारवाली औरत को अपने में क्या-क्या हुनर जगाने पड़ते हैं और क्या-क्या अंकुश लगाने होते हैं, यह तुम्हें नहीं मालूम।"[20] परिवार बनाए रखने के लिए स्त्री को निरंतर अपनी इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। यह संस्थागत दबाव का सीधा परिणाम है।

18. पुत्र-मोह और बेटियों का दोयम दर्जा :- स्त्री-जीवन की इस त्रासदी का बीज उसके बचपन में ही बो दिया जाता है। समाज में पुत्र-मोह और बेटियों के दोयम दर्जे की नींव इतनी गहरी है कि "लड़कियों को तैयार ही जानमारी के लिए किया जाता है-भाई पढ़ रहा है, जाओ दूध दे आओ। भाई सो रहा है... कंबल ओढ़ा दो।"[21] लड़कियों को जन्म से ही केवल घर के पुरुषों की सेवा के लिए संस्कारित किया जाता है।

19. शैक्षिक अवसरों में लैंगिक भेदभाव :- इसी भेदभाव का विस्तार शैक्षिक अवसरों में भी स्पष्ट दिखाई देता है, जहाँ संसाधनों का बँटवारा पूरी तरह असमान है। माँ का यह संस्मरण कि "हमारे भाई को भेजा गया कॉलेज और हम बहनें... पढ़ाई पंडित, ग्रंथी और मौलवी के पास।"[22] यह पितृसत्तात्मक समाज में शैक्षिक संसाधनों के असमान बँटवारे का ज्वलंत ऐतिहासिक दस्तावेज़ है।

20.मातृत्व का विखंडन :- इच्छाओं के इस दमन के बाद समाज स्त्री को 'मातृत्व' का झुनझुना थमाता है, लेकिन लेखिका यहाँ मातृत्व का निर्मम विखंडन करती हैं। माँ जीवन के अंतिम पड़ाव पर यह स्वीकार करती है कि मातृत्व कोई देवत्व नहीं, बल्कि स्त्री की ऊर्जा का दोहन करने वाली एक व्यवस्था है, जहाँ "संतान माँ के हिस्से का सारा वक़्त गटक जाती है... माँ को प्योसर गाय या धाय बनाकर रखे रहते हैं। खटती रहे। सुख देती रहे।"[23] माँ अंत में यह स्वीकार करती है कि मातृत्व कोई देवत्व नहीं, बल्कि स्त्री की ऊर्जा का दोहन करने वाली एक सामाजिक व्यवस्था है।

21. पितृसत्तात्मक उत्तराधिकार :- स्त्री चाहे अपना पूरा जीवन परिवार को सौंप दे, लेकिन अंततः पितृसत्तात्मक उत्तराधिकार के तहत कुल की सत्ता और संपत्ति पुत्र को ही मिलती है "लड़की, कुल की सरदारी बेटियों को नहीं जाती। सगुण शास्त्र से तुम्हारा

भाई ही पगड़ी बाँधेगा।"[24] यह हिंदू समाज की पैतृक उत्तराधिकार प्रणाली है, जहाँ परिवार का नेतृत्व और मुख्य संपत्ति (सरदारी/पगड़ी) केवल पुत्र को ही हस्तांतरित होती है, पुत्री को नहीं।

22. सशक्तीकरण और आर्थिक स्वतंत्रता :- इन तमाम वंचनाओं, पराधीनताओं और पारिवारिक विडंबनाओं को झेलने के बाद, मृत्यु-शय्या पर पड़ी एक माँ अपनी बेटी को जो अंतिम और सबसे मूल्यवान सीख देती है, वह स्त्री-सशक्तीकरण और आर्थिक स्वतंत्रता का मूलमंत्र है। जीवन भर के अपने अनुभवों का निचोड़ देते हुए वह कहती है "शादी के बाद किसी के हाथ का झुनझुना नहीं बनना। अपनी ताक़त बनाने की कोशिश करना।"[25] यह नारीवादी समाजशास्त्र का वह सर्वोच्च और सबसे सशक्त निष्कर्ष है जो यह उद्घोष करता है कि केवल आर्थिक स्वतंत्रता और आत्म-निर्भरता ही एक स्त्री को विवाह संस्था के शोषण से बचाकर उसे एक स्वतंत्र पहचान दे सकती है।

निष्कर्ष:

यह कहा जा सकता है कि कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की' एक स्त्री के जीवन-संघर्ष, पारिवारिक नियंत्रण और पितृसत्तात्मक दबावों का अत्यंत जीवंत और निर्मम समाजशास्त्रीय आख्यान है। कथा में माँ का चरित्र यह स्पष्ट करता है कि एक स्त्री जीवन भर 'मोह-ममता' के नाम पर परिवार रूपी संस्था को सींचती है, अपना बौद्धिक और व्यक्तिगत आकाश सीमित कर लेती है, लेकिन जीवन के अंतिम पड़ाव (वृद्धावस्था) में वह स्वयं को नितांत अकेला, ठगा हुआ और 'बेगानी' पाती है।

यह रचना केवल एक पीढ़ी का दर्द नहीं है, बल्कि पितृसत्ता की उस पूरी व्यवस्था पर एक तीखा प्रहार है जो स्त्री को केवल एक 'उपयोगिता' की वस्तु मानती है। अंत में माँ का अपनी बेटी को यह सीख देना कि "अपनी ताकत स्वयं बनाओ", इस उपन्यास को एक निराशावादी अंत से निकालकर नारी-विमर्श और स्त्री-सशक्तीकरण के एक उज्ज्वल मार्ग की ओर ले जाता है। 'ऐ लड़की' अपनी स्वतंत्र अस्मिता और वजूद की तलाश का ऐसा महाकाव्य है, जो आज के समय में भी पूरी तरह प्रासंगिक और मार्गदर्शक है।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद, मुंशी. (1985). *साहित्य का उद्देश्य (कुछ विचार)*. इलाहाबाद: हंस प्रकाशन. पृ. 24
2. गोल्डमान, लूसिएन. (1975). *उपन्यास का समाजशास्त्र (Towards a Sociology of the Novel)* (अनुवाद: रामविलास शर्मा). दिल्ली: राजकमल प्रकाशन. पृ. 112
3. पाण्डेय, मैनेजर. (2016). *साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि*. पंचकूला : आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. पृ. 247
4. सोबती, कृष्णा. (2018). *ऐ लड़की*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन पा लि०. पृ. 10
5. सोबती, कृष्णा. (2018). *ऐ लड़की*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन पा लि०. पृ. 11
6. सोबती, कृष्णा. (2018). *ऐ लड़की*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन पा लि०. पृ. 14
7. वही, पृ.18
8. वही, पृ. 21
9. वही, पृ. 25
10. वही, पृ. 25
11. वही, पृ. 27
12. वही, पृ. 38
13. वही, पृ. 41
14. वही, पृ. 45
15. वही, पृ. 46
16. वही, पृ. 49
17. वही, पृ. 50
18. वही, पृ. 55
19. वही, पृ. 56
20. वही, पृ. 58
21. वही, पृ. 68
22. वही, पृ. 68
23. वही, पृ. 74
24. वही, पृ. 78
25. वही, पृ. 53

Received: 15.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

गंगा प्रसाद विमल के कथा-साहित्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अध्ययन

शिव कुमार*
kumarshiv15085@gmail.com

प्रस्तावना-

हिन्दी कथा-साहित्य में गंगा प्रसाद विमल का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने **60** वे दशक के अकाहनी आन्दोलन चलाया। जिसमें आधुनिक मनुष्य की बदलती हुई मानसिकता, सामाजिक विसंगतियों, अकेलेपन, संबंधों के संकट, असितत्वगत बैचैनी तथा मूल्य विघटन को अपनी रचनात्मक दृष्टि का विषय बनाया। इनके कथा-साहित्य में बाहरी घटनाओं की अपेक्षा मनुष्य के भीतर घटित होने वाली घटनाओं को विशेष महत्व प्राप्त हैं। यही कारण है कि उनके पात्र केवल सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिनिधित्व नहीं है, बल्कि वे अपने भीतर अनेक प्रकार के द्वन्द, असमंजस, तनाव और मानसिक संघर्ष को लेकर चलते हैं। आधुनिक जीवन की जटिलता ने मनुष्य को बाहरी रूप में जितना बदला है। उससे कहीं अधिक उसके भीतर परिवर्तन किया है। विमल के कथा-साहित्य में इसी आन्तरिक परिवर्तन और उससे उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का प्रभावशाली चित्रण किया है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से आशय व्यक्ति के मन में उत्पन्न संघर्ष से है, जिसमें दो या अधिक परस्पर विरोधी इच्छाएँ, विचार मूल्य अथवा भावनाएं एक दूसरे से टकराती रहती हैं। आधुनिक व्यक्ति एक ओर सामाजिक परम्पराओं और नैतिक मूल्यों से जुडा हैं, तो दूसरी ओर स्वतन्तत्रा, व्यक्तिगत इच्छा और आधुनिक जीवन मूल्यों की ओर आकर्षित है। इस द्वन्द्व के कारण उसके भीतर असुरक्षा, अकेलापन, अपराधबोध, कुंठा निराशा और बेचैनी जन्म लेती है। गंगा प्रसाद विमल ने इस मानसिक स्थिति को अत्यन्त सूक्ष्मता से अपनी कहानियों और उपन्यासों में व्यक्त किया है।

विमल के साहित्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का मूल आधार आधुनिक जीवन की परिस्थितियाँ है। आधुनिक मनुष्य अनेक स्तरों पर विभाजित दिखाई देता है। वह परम्परा से पूरी तरह अलग नहीं हो पाता, मोह बना रहता है। वहीं आधुनिकता को भी पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। परिणामतः उसके भीतर लगातार संघर्ष चलता रहता है। विमल लिखते हैं कि "आधुनिकता परम्परा का निषेध के रूप में परिभाषित की गयी है। परम्परा का पूर्व रूप से निषेध सयास रूप से करना मनुष्य की वर्तमान सृष्टि में नामुमकिन है। एक जड परम्परा स्वयं सभ्यता की मूलाधार से टूट जाती है, एक परम्परा लम्बे अरसे तक प्रयोग में न आने पर भी संभव नहीं है। किन्तु सम्पूर्ण रूप से परम्पराओं से विच्छेद संभव नहीं है। आधुनिक से आधुनिक विचारधारा भी परम्परा की भित्ति पर खड़ी होती है। जिस तरह परम्परा का सम्पूर्ण बहिष्कार संभव नहीं है, उसी तरह परम्परा का पूर्ण स्वीकार आधुनिकता के अर्थ में असंगत है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आधुनिकता के सिलसिले में हम किसी मध्यम वर्ग की अपेक्षा करें।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विमल न तो परम्परा का पूर्ण नकार चाहते हैं और न ही पूर्ण आधुनिकता। इनके मतानुसार आधुनिकता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें पुराने मूल्यों टूटते हैं तो नये मूल्य बनते हैं। इसी नये-पुराने के बीच झूलते मध्यम वर्ग के मानसिक अन्तर्द्वन्द का चित्रण अपने साहित्य में करते हैं। इनके पात्र सामाजिक संबंधों, पारिवारिक दायित्वों, आर्थिक दबावों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच में फँसे हुए दिखाई देते हैं। उनका संघर्ष केवल बाहरी परिस्थितियों से नहीं आन्तरिक भी है। वे अपने से अनेक प्रश्न करते हैं। जैसे जीवन का उद्देश्य क्या है, संबंधों की सतर्कता क्या है और मनुष्य की स्वतन्त्रता की सीमा कहाँ तक है इस प्रकार मानसिक अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक मनुष्य की मूल समस्या बनकर सामने आती है। विमल के साहित्य में एकाकी जीवन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का प्रमुख कारण है। आधुनिक शहरी जीवन में व्यक्ति अनेक लोगों के बीच रहते हुए भी भीतर से अकेला हो गया है। लोगों के सामाजिक संपर्क बढें हैं किन्तु आत्मीय संबंध कम हुए हैं। इस स्थिति में व्यक्ति अपने सुख-दुःख को साझा करने के लिए किसी विश्वसनीय व्यक्ति की तलाश करता है। विमल लिखते हैं कि "तुम आ गये हो

* **शोध छात्र, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत बागपत; सम्बद्ध- चौधरी चरण सिंह वि. वि. मेरठ**

तो मुझे काफी तसल्ली होती है। यहां गाँव में हमारा छोटा सा काम करने वाला भी कोई नहीं है। हम इतने अकेले पड़ गये हैं कि जैसे किसी समुद्री टापू में रह रहे हों।"[2] यहाँ भौतिकता में इतनी व्यस्तता हो गई है कि लोग एक दूसरे को समय नहीं दे पाते। आपसी बातचीत भी बन्द है। मन की बात व्यक्ति किससे करें। यही अकेलापन व्यक्ति को आत्मचिन्तन की ओर ले जाता है। वे अपने अतीत और वर्तमान और भविष्य के बारे में सोचते रहते हैं। कभी पुरानी स्मृतियाँ उन्हें सुख देती है तो कभी वहीं स्मृतियाँ दुःख देती है तो कभी वहीं स्मृतियाँ पीड़ा का कारण बन जाती हैं। इस प्रकार स्मृति और वर्तमान के बीच भी एक मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न होता है। व्यक्ति वर्तमान में जीना चाहता है किन्तु अतीत उसका पीछा नहीं छोड़ता।

विमल के साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों की टूटन और उनमें उत्पन्न तनाव मानसिक अन्तर्द्वन्द्व कों गहराई प्रदान करता है। पति पत्नी के बीच बढ़ती दूरी, प्रेम का क्षय, संवादहीनता तथा पारस्परिक अविश्वास उनके पात्रों के मन को प्रभावित करते हैं। एक उद्धरण देखिए-" पर आपकी पत्नी आपको छोड़कर क्यों चली गई"? पत्नी के प्रश्न पर वह थोडा सा नरम सा पड़ा, बहुत कोमल अन्दाज में बोला-बस आजादी का दंश उसे भी काट गया। आजादी और आराजकता में फर्क ही कितना है।"[3] सैलानी कहानी में दो मित्र एक पार्क में बैठकर आपस में बातचीत करते हैं। बातों बातों में पता चला एक की पत्नी अब उसके साथ नहीं है। वह आजाद रहना चाहती है। समाज के नियमों से, परिवार से, रिश्तों से। आगे कहता है वह गई जरूर है। किन्तु वहाँ रहकर भी संतुष्ट नहीं होगी। अभी तक उसके कई घर बदले होंगे। उस पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव पड़ रहा है। जहाँ शादी एक औपचारिकता मात्र है। लोग आजादी के नाम पर आराजकता फैला रहे हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जब दाम्पत्य जीवन में भावनात्मक निकटता समाप्त होने लगती है तब व्यक्ति बाहरी रूप से संबंध को निभाते हुए भी भीतर से टूटने लगता है। वह सामाजिक मर्यादा और व्यक्तिगत संतोष के बीच उलझ जाता है। एक ओर परिवार को बनाये रखने की इच्छा होती है। दूसरी ओर स्वतन्त्र जीवन की अंकाक्षा उसे भीतर से बेचैन करती है। विशेष रूप से विमल के स्त्री पात्रों में यह जीवन संघर्ष दिखाई देता है। स्त्री सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक और अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं के बीच फँसी हुई है। स्त्री समाज के केन्द्र में है।

मूल्य रक्षा, धार्मिक निर्वहन, परिवार संचालन सभी की अपेक्षा स्त्री से की जाती है। उपन्यास कहीं कुछ और' में पति की नौकरी छूटने के पश्चात् वह रोजगार की तलाश में परदेश चला जाता है किन्तु लम्बे समय तक परिवार से सम्पर्क नहीं करता। ऐसे में परिवार चलाने की जिम्मेदारी पत्नी पर आ जाती है। बिना किसी आर्थिक सहयोग के व्यवस्था चलाना कितना मुश्किल होता है जिस परिवार में चार बच्चे एवं एक बीमार बहन जो पेट से हो किसी भी समय चिकित्सा की आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु वह अपने बच्चों का हौसला बढ़ाते हुए कहती है- "कौन सा संकट? तुम्हें कौन सी परेशानी है? माँ ने पूछा और मेरे कहने से पहले की कह उठी," अभी तुम्हारे पापा और मैं जीवित हूँ। तुम्हें इस बारे में कुछ भी नहीं सोचना चाहिए। तुम कोई काम नहीं करोगे।"[4] वह हार नहीं मानने वाली स्त्री कहीं ना कहीं अन्तर्द्वन्द्व से जूझ रही है। लड़के को मना तो कर दिया किन्तु पति का पता नहीं घर में रुपया नहीं पांच लोगों का पेट चलाना आसान नहीं होगा। वह अपने अस्तित्व को पहचानना चाहती है किन्तु पारिवारिक और सामाजिक बन्धन उसे स्वतन्त्र निर्णय लेने से रोकते हैं। फलतः उसके भीतर घुटन पीड़ा और असन्तोष की भावना उत्पन्न हो जाती है।

विमल के साहित्य में स्त्री केवल पुरुष पात्र की सहायक भूमिका में उपस्थित नहीं है कहीं ना कहीं उसका मानसिक संसार है। उसकी इच्छाएँ, महत्वाकांक्षाएं, असुरक्षाएँ और संघर्ष कथा का महत्वपूर्ण हिस्सा बनते हैं। 'आसमान की तरफ उठे हाथ' कहानी में एक महिला आजीविका की खोज में समुद्र किनारे मछली पकड़ने जाती हैं।

वहाँ एक मछुआरा उसे बहलाकर अपनी नाव में, यह बोलकर बिठा लेता है कि अन्दर समुद्र में ताजी और अच्छी मछलियों मिलेंगी। काफी अन्दर पहुँचने पर मछुआरे ने महिला के साथ दुष्कर्म किया। महिला विरोध करते हुए कहती है। "मैं ऐसी-वैसी औरत नहीं हूँ. मेरा घर है.. छोटा सा घर है.. तुम्हारे इस कांड से मेरा घर टूट जायेगा.... बिखर जायेगा.. पर उस निर्दयी पर तो कल पशु सवार था. उसने मेरा सर्वस्व लूट लिया... हे प्रभु.. मुझे क्षमा करो- मेरी इस स्वीकृति से मुझे फिर से पवित्र कर दो।"[5] यहाँ महिला की इस स्वीकृति से घर चलाने की आकांक्षा और दैहिक सुरक्षा दोनों देखने को मिलता है। वह प्रभु के समक्ष पाप के प्रायश्चित के लिए भी याचना करती है जबकि इसमें उसका कोई दोष नहीं था।

विमल के स्त्री पात्रों में प्रेम और आत्मसम्मान, परिवार और स्वतंत्रता, कर्तव्य और व्यक्तिगत इच्छा के बीच संघर्ष दिखाई देता है। वे निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र होना चाहती है, लेकिन सामाजिक संरचनाएँ उन्हें रोकती है। यही कारण है कि उनकी मानसिक पीड़ा केवल, व्यक्तिगत नहीं रह जाती है बल्कि व्यापक सामाजिक समस्या का रुप ग्रहण कर होती है। आधुनिक

स्त्री शिक्षा और चेतना के माध्यम से अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होती है। वह स्वतंत्र जीवन और सम्मानजनक अस्तित्व चाहती है, लेकिन परंपरागत सामाजिक व्यवस्था उससे त्याग, समर्पण और सहनशीलता की अपेक्षा करता है।

विमल के साहित्य में परंपरा और आधुनिकता का द्वन्द्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके पात्र आधुनिक शिक्षा और विचार-पद्धति से प्रभावित हैं, लेकिन उनकी चेतना पर पारंपरिक संस्कारों की छाप भी हैं। मानुष खोर उपन्यास में विमल लिखते हैं-" उसने झुककर तिबारी में बैठे उर्बीदत्त को प्रणाम किया। न जाने कहां-कहां से ढोल वाले आ गए। फिर तो मौसमी मंडाण (सामूहिक नृत्य) में दूर दूर से आये ग्राम-जन नाचने लगे। परन्तु उसका गीत धारा प्रवाह चलता रहा"।[6] ज्यादातर क्षेत्रों में लोकगीत कई वर्षों की परंपरा से चले आ रहे हैं जो समय विशेष पर गाये जाते हैं। इसी तरह के कुछ मौसमी गीत भी होते हैं। जिन्हें अतिथी के स्वागत में गाया जाता है। दिनभर काम करने के बाद थकान मिटाने के लिए भी लोग परंपरागत गीतों के साथ सामूहिक नृत्य करते हैं। कुछ समाज विशेष में पूजा पाठ परंपरा के तौर पर चला आ रहा है जैसे "यह सूचना सन्न करने वाली थी। बड़े ब्राह्मण पूजा पाठ करने वाले थे। देहरादून जब वे अपनी आढ़त पर बैठते थे तो चारों तरफ धूप बत्तियों की महक सुंधाई देती थी। दीवालों पर देवी देवताओं के चित्र दिखाई देते थे। बड़ी तिजोरी के उपरी खाने में यानी दराज में वैभव लक्ष्मी की पुस्तिका रखी रहती थी।"[7] उपर्युक्त कथन के माध्यम से यह कहना चाहते हैं जहाँ पीढ़ी दर पीढ़ी धर्म सुरक्षित रहता था आज वह उपेक्षित होता जा रहा है। आधुनिकता की दौड़ में व्यक्ति मात्र औपचारिक हो गया है। वह द्वेध की स्थिति में है। आधुनिक व्यक्ति की समस्या यह है कि वह पुरानी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करना चाहता और नई व्यवस्था में उसे पूर्ण सन्तुष्टी नहीं मिलती है परिणाम स्वरूप वह बीच में झूलता रहता है।

जब व्यक्ति को अपने जीवन में उद्देश्य दिखाई नहीं देता, तब उसके भीतर निरर्थकता और खालीपन की भावना उत्पन्न होने लगती है।

विमल के पात्र इसी प्रकार की मानसिक बेचैनी से गुजरते हैं। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष अस्तित्वगत संकट है। आधुनिक मनुष्य अपने अस्तित्व और जीवन की सार्थकता को लेकर प्रश्न करता है। आधुनिक मनुष्य की व्यथा का चित्रण ममरीचिका उपन्यास में करते हुए कहते हैं. "मैंने झूठ कहा था। मैं सम्पन्न आदमी नहीं हूँ। मुझे कोई फेलोशिप नहीं मिली। बात असल में यह है कि मैं अपने शहर में पड़ा-पड़ा, कुछ न होने की वजह से परेशान हो गया था। ऐसी हालत में मैं या तो आत्महत्या कर लेता या शहर छोड़कर भाग जाता। मैं सचमुच गरीबी के करण निरन्तर अपमान की वजह से इस हालत में पहुँच गया था कि और कोई रास्ता नहीं था।"[8]

इस उपन्यास में एक व्यक्ति शिक्षित होने के बावजूद लंबे समय से बेरोजगार है। वह झूठ बोलकर अपने आत्म सम्मान की रक्षा करता है। अपने शहर से दूर कहीं गुमनामी का जीवन बिताने पर मजबूर है। आधुनिक शिक्षित बेरोजगारों का यही हाल है। वह मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की पीड़ा अकेले सहन करता है। यह अस्तित्वगत संकट कभी निराशा के रूप में, कभी संबंधों से मोहभंग के रूप में, और कभी अकेलेपन के रूप में सामने जाता है। जब कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से कमजोर होता है तो उसे मानसिक तनाव झेलना पड़ता है। बेरोजगारी, आर्थिक असुरक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने का दबाव व्यक्ति को मानसिक रूप से कमजोर कर देता है। वह स्वयं की समाज में उपेक्षित महसूस करता है। उसकी आत्म सम्मान की भावना आहत होती है।

इनके साहित्य में स्मृति का विशेष महत्व है। अपनी कई कहानियों का आधार स्मृति को बनाया। जब लम्बे समय से कोई व्यक्ति अपने गांव व परिचित से दूर रहता है तो कभी-कभी स्मृतियों में खोकर उन्हें खोजने का प्रयास करता है। इनके यहाँ पात्र वर्तमान में रहते हुए भी अतीत की घटनाओं से मुक्त नहीं हो पाता। पुरानी घटनाएं संबंध और अनुभव उनके वर्तमान को प्रभावित करते हैं विमल अपनी कहानी 'खण्हरों की खेती' में लिखते हैं "हाँ मुझे रिटायर हुए भी बीसेक साल हो गए हैं। मैं तो इधर रहता था पछवा दून में। अब सब लोग यहाँ से धीरे-धीरे गांव छोड़कर चले गए न...? एक मैं ही हूँ जो रिटायरमेन्ट के बीस साल बाद गांव आया हूँ। हुआ यह कि मुझे गांव की याद सताने लगी। मैंने पता किया तो मालूम हुआ हमारा घर अभी नीचे बाँध में काम करने वालों की वजह से इस्तेमाल में है। और जब घर इस्तेमाल में हो तो समझो कभी भी खण्डहर नहीं बन सकता।"[9] उपर्युक्त अनुच्छेद के माध्यम से लेखक के मन में गाँव के प्रति चिन्ता है कि लोग धीरे-धीरे शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। गाँव खण्डहरों में तब्दील होते जा रहे हैं। वह स्वयं रिटायरमेन्ट के बीस वर्षो बाद गाँव में आता है। जहां पूरे गांव में सन्नाटा पसरा है। वहीं उसे खुशी इस बात की है कि उसका घर बाँध बनाने वाले लोग इस्तेमाल कर रहे हैं। जिससे वह खण्डहर नहीं होगा। गाँव से लोगों का बड़ी संख्या में पलायन भी मानसिक अन्तर्दन्द का कारण बनता है। गाँव का अस्तित्व खतरे में है।

अतीत कभी सुखद समृद्धि बनकर आता है कभी पछतावे का कारण बनता है। व्यक्ति वर्तमान में कुछ नया करना चाहता है किन्तु अतीत की असफलताएँ उसे ऐसा करने से रोकती है इस प्रकार अतीत और वर्तमान के बीच में भी मानसिक संघर्ष उत्पन्न करता है। पूर्वदीप्ति जैसी कथन प्रविधियों के माध्यम से पात्रों, स्मृतियों और मनोस्थितियों को अभिव्यक्त करने से कथा में मनौवैज्ञानिक गहराई आती है। घटनाएं केवल घटनाएं नहीं रह जाती, बल्कि वे पात्रों के मानसिक संसार को समझने का माध्यम बनती है। 'दृश्यकथा' कहानी में लिखते हैं। "उस निचाट सन्नाटे में अचानक पक्षियों का एक युगल एक पेड़ से दूसरे पेड़ की ओर लपकते हुए आपका ध्यान आकर्षित कर रहा था। आप कहीं भी देख रहे हो, न घाटी के दृश्य से बच सकते थे न सन्नाटे के उस शाश्वत धारावाही दृश्य से और न कभी उस आकस्मिक रूप से अवतरित पक्षी युग्म से"[10] यहाँ कवि अतीत की स्मृतियो में खोकर कहना चाहता कि लोग गाँव से पलायन कर रहे हैं। साथ ही पक्षी भी विलोपित होते जा रहे हैं बढ़ते शहरीकरण के कारण लोगों ने पेडों को भी काट डाला जिससे पर्यावरण असन्तुलित हो रहा है। इन दृश्यों को देखने के लिए काफी दूर गांवों में जाना होगा। किन्तु वहाँ भी यही दृश्य देखने को मिलेगा।

संवादहीनता भी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का प्रमुख कारण है जब आपसी बातचीत नहीं होती तो व्यक्ति अपनी भावनाओं को दूसरों के समक्ष व्यक्त नहीं कर पाता। तो भावनाएं उसके भीतर जमा होती जाती हैं। इससे मानसिक घुटन और तनाव बढ़ता है। इस उद्धरण के माध्यम से समझा जा सकता है-"शायद अब अंत ही आ गया! उसने खुद से कहा। बह कुछ दिनों से जब से बीवी मायके जाकर बैठ गई तब से खुद से ज्यादा बतियाने लगा था। दोस्तों ने सलाह दी, "यार जाकर डाक्टर को दिखा आओ, कहते हैं किसी बडे रोग की शुरूआत इसी तरह होती है।" वह भी सोचता है हर्ज ही क्या है डाक्टर से मिलने में एक बार मिल ही आता हूँ। दिमागी बिमारियों के डाक्टर को।"[11] 'डर' नामक कहानी का उद्धरण बताता है कि व्यक्ति अपने मन की बात पत्नी से करता है किन्तु जब पत्नी ही नाराज होकर मायके जाकर बैठ जाए तो वह किससे कहे। वह मन ही मन घुटने लगता है। यह धीरे-धीरे मनोरोग की स्थिति में पहुँच जाता है। वह खुद से ज्यादा बाते करने लगता है। रातों की नीद गायब होने लगती है। मानसिक कुठा का शिकार होने लगता है। यह व्यक्ति को पागलपन तक पहुँचा देता है। आधुनिक संबंधों में संवाद की कमी विशेष रूप से दिखाई देती है। पति-पत्नी, माता-पिता और संतानों अथवा मित्रों के बीच भावनात्मक दूरी बढ जाती है। लोग साथ रहते हुए भी अपने मन की बात साझा नहीं कर पाते। विमल के पात्रों में मौन कई बार शब्दों से अधिक प्रभावशाली होते हैं। उनके भीतर बहुत कुछ चलता है। लेकिन वो उसे व्यक्त नहीं कर पाते। यही अव्यक्त भावनाएँ उनके मानसिक संघर्ष को तीव्र करती हैं।

निष्कर्ष :-

अन्ततः कहा जा सकता है कि विमल के साहित्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक मनुष्य के जीवन की केन्द्रीय समस्या के रूप में सामने आता है। इनके पात्रों में अकेलापन, दाम्पत्य संबंधों की टूटन, प्रेम की जटिलता, स्त्री स्वतन्त्रता की आकांक्षा, परम्परा और आधुनिकता का संघर्ष, आर्थिक संकट, असितत्वगत समस्या, स्मृति और वर्तमान का द्वन्द्व तथा संवाद हीनता मानसिक संघर्ष के प्रमुख आधार हैं। विमल की विशेषता यह है कि वे मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को केवल मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे सामाजिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक परिस्थितियों से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। उनके पात्रों का अन्तर्गमन आधुनिक सभ्यता के उस संकट को व्यक्त करता है जिसमें बाहरी विकास के बावजूद भीतर से अकेला और असुरक्षित हो जाता है। इस दृष्टि से गंगा प्रसाद विमल का कथा-साहित्य आधुनिक मनुष्य के अन्र्तमन का सूक्ष्म और संवेदनशील अध्ययन प्रस्तुत करता है। इनके यहाँ मानसिक अन्तर्द्वन्द्व केवल पात्रों की कमजोरी नहीं, बल्कि बदलते हुए सामाजिक जीवन की अनिवार्य परिणति है। विमल की रचनाएं यह सकेत देती हैं कि मनुष्य की वास्तविक त्रासदी जितना उसके बाहर है उसके अधिक भीतर घटित होती है। इस आन्तरिक संघर्ष को कलात्मक और मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ अभिव्यक्त करना उनके साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सन्दर्भ :-

1. विमल, गंगा प्रसाद. (2019). *आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता (आलोचना)*. नई दिल्ली: नई किताब प्रकाशन, पृ. 16.
2. विमल, गंगा प्रसाद. (2018). *कहीं कुछ और* (उपन्यास). नई दिल्ली: किताब घर प्रकाशन, पृ. 101.

3. विमल, गंगा प्रसाद. (2017). *अतीत का सब* (कहानी संग्रह). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृ. 86.

4. विमल, गंगा प्रसाद. (2018). *कहीं कुछ और* (उपन्यास). नई दिल्ली: किताब घर प्रकाशन, पृ. 107.

5. विमल, गंगा प्रसाद. (2016). *मैं भी जाऊँगा* (कहानी संग्रह) – आसमान की तरफ से उठे हाथ. गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश: अंतिका प्रकाशन, पृ. 55.

6. विमल, गंगा प्रसाद. (2015). *मानुषखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: नई किताब प्रकाशन, पृ. 133.

7. विमल, गंगा प्रसाद. (2015). *मानुषखोर* (उपन्यास). नई दिल्ली: नई किताब प्रकाशन, पृ. 102.

8. विमल, गंगा प्रसाद. (2014). *मरीचिका* (उपन्यास). गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश: श्रुति बुक्स प्रकाशन, पृ. 122.

9. विमल, गंगा प्रसाद. (2016). *मैं भी जाऊँगा* (कहानी संग्रह) – खण्हरों की खेती. गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश: अंतिका प्रकाशन, पृ. 21.

10. विमल, गंगा प्रसाद. (2016). *मैं भी जाऊँगा* (कहानी संग्रह) – खण्हरों की खेती. गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश: अंतिका प्रकाशन, पृ. 41.

11. विमल, गंगा प्रसाद. (2016). *मैं भी जाऊँगा* (कहानी संग्रह) – खण्हरों की खेती. गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश: अंतिका प्रकाशन, पृ. 71.

Received: 16.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

महिला आत्मकथाओं में सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण

सृष्टि सुमन*
srishtysuman667@gmail.com

सारांश

हिंदी साहित्य में स्त्रियों का आत्मकथात्मक लेखन अपेक्षाकृत देर से विकसित हुआ लेकिन महिला आत्मकथाएँ सामाजिक यथार्थ का व्यापक और संवेदनशील चित्र प्रस्तुत करती हैं। इनमें स्त्री जीवन के विविध संघर्षों, सामाजिक असमानताओं और परिवर्तन की आकांक्षाओं को गहराई से अभिव्यक्त किया गया है। इसके साथ ही सामाजिक परिवर्तन एवं नारी चेतना की वाहक भी हैं। महिला आत्मकथाओं में केवल किसी स्त्री के व्यक्तिगत जीवन की कहानी नहीं होतीं, बल्कि वे उस समाज का भी सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं जिसमें वह स्त्री जीती है तथा आत्मकथाओं में स्त्रियों के जीवन-संघर्ष, उनके अनुभव, सपने, असफलताएँ एवं उपलब्धियाँ समाज की वास्तविक परिस्थितियों से गहरे रूप में जुड़ी होती हैं। आत्मकथाओं के अध्ययन से हम पाते हैं कि महिला आत्मकथाएँ सामाजिक यथार्थ को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं जिसमें हिंदी की महिला आत्मकथाकारों ने अपने अनुभव एवं जीवन के माध्यम से पितृसत्तात्मक व्यवस्था, लैंगिक भेदभाव, घरेलू हिंसा, शिक्षा में असमानता, आर्थिक निर्भरता और सामाजिक रूढ़ियों जैसे मुद्दों को उजागर किया है। उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार समाज में स्त्री को पुरुष की तुलना में कम अवसर दिए जाते हैं एवं उसे अनेक प्रकार के बंधनों में समाज द्वारा बांधने का प्रयास किया जाता है। कई महिला आत्मकथाओं में जाति, वर्ग और लिंग के आधार पर होने वाले शोषण का भी मार्मिक चित्रण मिलता है। विशेष रूप से दलित एवं वंचित वर्ग की महिलाओं की आत्मकथाएँ सामाजिक विषमताओं की गहरी पड़ताल करती हैं। ये रचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि स्त्री का संघर्ष केवल लैंगिक नहीं, बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक स्तर पर भी होता है।

बीजशब्द :

महिला, सामाजिक यथार्थ, आत्मकथा, असमानता, पितृसत्तात्मक

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में आत्मकथा विधा को जीवन एवं समाज का दर्पण माना जाता है। यह केवल किसी व्यक्ति के जीवन-वृत्त का विवरण नहीं होती, बल्कि अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक यथार्थ को भी अभिव्यक्त करती है। आत्मकथा के माध्यम से लेखक अपने अनुभवों, संघर्षों, उपलब्धियों, संवेदनाओं और अंतर्द्वंद्वों को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। इस प्रकार आत्मकथा व्यक्ति और समाज के बीच स्थापित संबंधों को समझने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन जाती है। हिंदी साहित्य में स्त्रियों का आत्मकथात्मक लेखन अपेक्षाकृत देर से विकसित हुआ, किंतु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और इक्कीसवीं शताब्दी में इस विधा ने विशेष विस्तार प्राप्त किया। महिला आत्मकथाओं का महत्त्व इसलिए अधिक है क्योंकि वे स्त्री जीवन के उन अनुभवों को स्वर प्रदान करती हैं जिन्हें पितृसत्तात्मक समाज ने लंबे समय तक हाशिए पर रखा। इन आत्मकथाओं में स्त्रियाँ केवल अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं करतीं, बल्कि वे सामाजिक संरचना, लैंगिक भेदभाव, असमानता, शोषण और संघर्ष के विविध आयामों को भी उजागर करती हैं। इस प्रकार महिला आत्मकथाएँ व्यक्तिगत अनुभव और सामाजिक यथार्थ के बीच एक सशक्त सेतु का कार्य करती हैं।इक्कीसवीं शताब्दी की महिला आत्मकथाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं क्योंकि इनमें स्त्रियों ने अपने अनुभवों को अधिक निर्भीकता, स्पष्टता और प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। इन आत्मकथाओं में एक ओर स्त्री की स्व-अनुभूति, आत्मबोध, संवेदनाएँ एवं स्वतंत्र अस्तित्व की खोज दिखाई देती है, तो दूसरी ओर सामाजिक

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय मोतिहारी, गांधी परिसरा, पूर्वी चंपारण, बिहार**

यथार्थ के विविध रूप भी उभरकर सामने आते हैं। जातिगत विषमता, लैंगिक असमानता, वर्गीय भेदभाव, सांस्कृतिक रूढ़ियाँ तथा आर्थिक विषमताएँ इन रचनाओं के प्रमुख विषय हैं। इस प्रकार स्व-अनुभूति और सामाजिक यथार्थ एक-दूसरे के पूरक रूप में उपस्थित दिखाई देते हैं।विशेष रूप से दलित और वंचित वर्ग की महिला आत्मकथाओं ने इस विमर्श को नया आयाम प्रदान किया है। सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' , मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी' ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार'तथा चन्द्रकांता की 'हासिये की इबारतें' जैसी आत्मकथाएँ स्त्री जीवन, जातिगत शोषण और सामाजिक विषमता के यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। इसी प्रकार रमणिका गुप्ता तथा अन्य महिला लेखिकाओं की आत्मकथाएँ स्त्री-अस्मिता, आत्मसंघर्ष और सामाजिक चेतना के विविध पक्षों को उद्घाटित करती हैं। ये आत्मकथाएँ केवल आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हैं, बल्कि समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक और स्त्री-विमर्श संबंधी अध्ययन की महत्त्वपूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत करती हैं। इन आत्मकथाओं की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें निजी अनुभव सामाजिक अनुभवों से गहरे रूप में जुड़े हुए दिखाई देते हैं। स्त्रियाँ अपने जीवन की स्मृतियों और संघर्षों को केवल व्यक्तिगत स्तर पर प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि उन्हें व्यापक सामाजिक संदर्भों से जोड़कर देखती हैं। परिणामस्वरूप आत्मकथा एक निजी दस्तावेज भर नहीं रह जाती, बल्कि सामाजिक यथार्थ को समझने का एक सशक्त माध्यम बन जाती है। यही कारण है कि इक्कीसवीं शताब्दी की महिला आत्मकथाएँ हिंदी साहित्य तथा स्त्री-विमर्श दोनों में केंद्रीय स्थान रखती हैं।

महिला आत्मकथाओं का विश्लेषण

डॉ. सुशीला टाकभौरे(2011) की आत्मकथा **'शिकंजे का दर्द'** एक दलित स्त्री के संघर्षपूर्ण जीवन की मार्मिक कथा है। इस आत्मकथा में लेखिका ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से जातिगत भेदभाव, सामाजिक उपेक्षा और पितृसत्तात्मक शोषण की कठोर वास्तविकताओं को उजागर किया है। उनके जीवन में जाति और लिंग दोनों ही संघर्ष के कारण बने, जिससे उन्हें समाज और परिवार दोनों स्तरों पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। शिकंजे का दर्द केवल व्यक्तिगत पीड़ा की कहानी नहीं है, बल्कि दलित स्त्री अस्मिता, आत्मसम्मान और प्रतिरोध का सशक्त दस्तावेज है। यह आत्मकथा शिक्षा, साहस और आत्मविश्वास के माध्यम से अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का सामना करने की प्रेरणा देती है।

मन्नू भण्डारी(2008) की आत्मकथा **एक कहानी यह भी'** मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री के अस्तित्व और स्वाभिमान की लड़ाई का एक बेहद बेबाक और ईमानदार दस्तावेज़ है। मन्नू भण्डारी ने पारंपरिक रूप से थोपे गए 'आदर्श नारी' के मुखौटे को उतारकर एक स्त्री के वास्तविक अंतर्द्वंद्व और उसके कड़े संघर्ष को सामने रखा है। आत्मकथा में स्त्री-विमर्श की शुरुआत उनके अपने घर से होती है, जहाँ वे पिता के दोहरे मापदंडों को करीब से देखती हैं। उनके पिता बेटियों को आधुनिक और जागरूक तो बनाना चाहते थे, लेकिन केवल घर की चौखट के भीतर रखकर। मन्नू जी ने पितृसत्ता के इस दायरे को स्वीकार नहीं किया और कॉलेज की प्राध्यापिका शीला अग्रवाल की प्रेरणा से सड़कों पर उतरकर आज़ादी के आंदोलनों का नेतृत्व किया। वहीं दूसरी तरफ, उन्होंने अपनी माँ के अत्यधिक त्याग, सहनशीलता और मूक समर्पण को 'महानता' मानने से साफ इनकार कर दिया। माँ की उस असहायता ने मन्नू जी के भीतर विद्रोह की भावना जगाई और उन्हें सिखाया कि एक स्त्री को चुप रहकर अत्याचार सहने के बजाय अपनी आवाज़ बुलंद करनी चाहिए।

रमणिका गुप्ता (2015) की आत्मकथा **आपहुदरी** की सबसे बड़ी विशेषता उसकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता है। लेखिका ने स्त्री जीवन से जुड़े उन विषयों पर भी खुलकर विचार व्यक्त किए हैं, जिन्हें समाज प्रायः वर्जित मानता रहा है। उन्होंने पुरुष-प्रधान व्यवस्था के दोहरे मानदंडों को चुनौती देते हुए स्त्री के आत्मनिर्णय और स्वतंत्र अस्तित्व के अधिकार का समर्थन किया है। आत्मकथा में वे स्वयं को कभी असहाय या पीड़ित के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं, बल्कि संघर्षशील और आत्मविश्वासी व्यक्तित्व के रूप में उभरती हैं। कोयलांचल क्षेत्र की कठिन परिस्थितियों तथा राजनीतिक चुनौतियों के बीच उन्होंने मजदूरों और आदिवासियों के अधिकारों के लिए निरंतर संघर्ष किया। महिला चेतना के संदर्भ में यह आत्मकथा स्पष्ट संदेश देती है कि स्त्री की वास्तविक मुक्ति अन्याय को सहने में नहीं, बल्कि अपने अधिकारों के प्रति सजग, साहसी और संघर्षरत बनने में निहित है।

महिला आत्मकथा की आवश्यकता

महिला आत्मकथा की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई क्योंकि लंबे समय तक महिलाओं के जीवन, उनके संघर्षों, भावनाओं और अनुभवों को समाज में पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया। साहित्य में भी स्त्री का चित्रण अधिकतर पुरुष लेखकों की दृष्टि से होता था। ऐसे में महिलाओं ने स्वयं अपनी कहानी लिखकर अपने जीवन के उन पक्षों को सामने रखा, जिन्हें समाज अक्सर अनदेखा करता रहा। महिला आत्मकथाएँ केवल किसी एक महिला के जीवन की कहानी नहीं होतीं, बल्कि वे उस पूरे सामाजिक वातावरण का चित्र प्रस्तुत करती हैं जिसमें वह जीती है। इनमें बचपन, शिक्षा, विवाह, परिवार, मातृत्व, आर्थिक निर्भरता, सामाजिक भेदभाव, घरेलू हिंसा, कार्यस्थल की चुनौतियाँ और आत्मसम्मान की खोज जैसे अनेक अनुभव ईमानदारी से व्यक्त होते हैं। इससे समाज को महिलाओं की वास्तविक समस्याओं और उनकी संवेदनाओं को समझने का अवसर मिलता है। आत्मकथाओं की आवश्यकता इसलिए भी है क्योंकि वे महिलाओं को अपनी पहचान स्थापित करने और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने की प्रेरणा देती हैं। वे यह संदेश देती हैं कि स्त्री केवल परिवार की जिम्मेदारियाँ निभाने वाली व्यक्ति नहीं, बल्कि अपनी स्वतंत्र सोच, इच्छाओं और सपनों वाली एक पूर्ण व्यक्तित्व है। महिला आत्मकथाएँ समाज में व्याप्त लैंगिक असमानता, रूढ़ियों और पितृसत्तात्मक सोच पर भी प्रश्न उठाती हैं। वे सामाजिक परिवर्तन की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं और समानता, न्याय तथा मानवीय गरिमा की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती हैं; साहित्यिक दृष्टि से भी महिला आत्मकथाएँ अत्यंत आवश्यक हैं, क्योंकि उन्होंने हिंदी साहित्य को नए अनुभव, नई संवेदनाएँ और नई दृष्टि प्रदान की है। इन रचनाओं ने आत्मकथा-विधा को समृद्ध किया तथा स्त्री-विमर्श को एक सशक्त आधार दिया।

साहित्यिक महत्त्व

महिला आत्मकथाओं का हिंदी साहित्य में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्होंने साहित्य को एक नई दृष्टि, नई संवेदना एवं नए अनुभव प्रदान किए हैं। लंबे समय तक साहित्य में स्त्री का चित्रण मुख्यतः पुरुष लेखकों की दृष्टि से होता रहा, जिसके कारण स्त्री के वास्तविक अनुभव, उसकी मनःस्थितियाँ, संघर्ष और आकांक्षाएँ पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं हो सकीं। महिला आत्मकथाओं ने इस स्थिति को बदला और स्त्री को स्वयं अपने जीवन की कथा कहने का अवसर दिया। इस प्रकार पहली बार स्त्री अपने अनुभवों की स्वयं साक्षी और व्याख्याकार बनी। आत्मकथाओं ने हिंदी साहित्य में यथार्थवाद को नई शक्ति प्रदान की। इनमें जीवन की घटनाओं का चित्रण बिना किसी आडंबर के ईमानदारी तथा प्रामाणिकता के साथ किया गया है। स्त्री के निजी जीवन, पारिवारिक संबंधों, सामाजिक बंधनों, शिक्षा, विवाह, आर्थिक संघर्ष, मानसिक द्वंद्व और आत्मसम्मान जैसे विषयों को पहली बार इतने व्यापक रूप में साहित्य में स्थान मिला। परिणामस्वरूप हिंदी साहित्य का विषय-क्षेत्र और अधिक विस्तृत तथा समृद्ध हुआ। महिला आत्मकथाओं ने नारी-विमर्श को भी सुदृढ़ आधार प्रदान किया। इन रचनाओं के माध्यम से स्त्री-अस्मिता, समानता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय और सामाजिक न्याय जैसे प्रश्न साहित्य के केंद्र में आए। साथ ही, इन आत्मकथाओं ने समाज में व्याप्त लैंगिक भेदभाव, पितृसत्तात्मक व्यवस्था और रूढ़ियों को चुनौती दी तथा परिवर्तन की चेतना को विकसित किया। भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी महिला आत्मकथाएँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी भाषा सहज, आत्मीय, संवेदनशील और अनुभवपरक है। इनमें कृत्रिमता के स्थान पर जीवन की सच्चाई और आत्मीय अभिव्यक्ति मिलती है, जिससे पाठक लेखिका के अनुभवों से गहरे स्तर पर जुड़ जाता है। महिला आत्मकथाएँ केवल किसी महिला के जीवन का वर्णन नहीं हैं, बल्कि वे हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। इन्होंने साहित्य को नए विषय, नई दृष्टि, नई संवेदना और सामाजिक चेतना प्रदान की है तथा आत्मकथा-विधा को अधिक समृद्ध, व्यापक और प्रभावशाली बनाया है।

सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति

महिला आत्मकथाएँ स्त्री जीवन के साथ-साथ समाज की वास्तविक परिस्थितियों का भी चित्रण करती हैं। स्त्रियाँ अपने अनुभवों, संघर्षों और संवेदनाओं के माध्यम से उन सामाजिक समस्याओं को उजागर करती हैं, जिनका सामना उन्हें अपने जीवन में करना पड़ता है। आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जहाँ स्त्रियों की स्वतंत्रता और निर्णय लेने के अधिकार सीमित कर दिए जाते हैं। लैंगिक असमानता के कारण उन्हें शिक्षा, अवसर और सम्मान के क्षेत्र में भेदभाव सहना पड़ता है। दलित महिला आत्मकथाओं में जातिगत शोषण और सामाजिक उपेक्षा का यथार्थ अत्यंत मार्मिक रूप में व्यक्त हुआ है। साथ ही आर्थिक अभाव और वर्गीय विषमताएँ भी स्त्री जीवन को गहराई से प्रभावित करती हैं। महिला आत्मकथाएँ यह भी दर्शाती हैं कि शिक्षा और रोजगार स्त्रियों के आत्मनिर्भर बनने के महत्वपूर्ण साधन हैं। अनेक लेखिकाओं ने

सामाजिक और पारिवारिक बाधाओं को पार कर अपनी पहचान स्थापित की है। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक रूढ़ियाँ और परंपरागत बंधन भी स्त्री जीवन को नियंत्रित करते हैं, जिनका विरोध करते हुए वे अपनी स्वतंत्र अस्मिता की खोज करती हैं।

निष्कर्ष

महिला आत्मकथाओं में सामाजिक यथार्थ अनेक स्तरों पर अभिव्यक्त हुआ है। इनमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था, लैंगिक भेदभाव, जातिगत शोषण, आर्थिक विषमता, शिक्षा और रोजगार से जुड़े संघर्ष तथा सांस्कृतिक रूढ़ियों का सजीव चित्रण मिलता है। ये आत्मकथाएँ स्त्री जीवन की उन वास्तविकताओं को सामने लाती हैं जिन्हें लंबे समय तक समाज में उपेक्षित या अनदेखा किया जाता रहा है। इस प्रकार महिला आत्मकथाएँ केवल आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक परिवर्तन और स्त्री चेतना के सशक्त दस्तावेज के रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये रचनाएँ पाठकों को समाज में व्याप्त विषमताओं पर विचार करने के लिए प्रेरित करती हैं तथा स्त्री अस्मिता, अधिकारों और समानता के प्रश्नों को गंभीरता से समझने का अवसर प्रदान करती हैं। इसलिए महिला आत्मकथाएँ सामाजिक यथार्थ के अध्ययन के साथ-साथ स्त्री-विमर्श को समृद्ध करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

संदर्भ :-

खेतान, प्रभा. (2010). *अन्या से अनन्या*. राजकमल पेपरबैक्स.

गायकवाड, क्रान्ति. (2016). *समकालीन नारी जीवन और हिन्दी आत्मकथा*. अन्नपूर्णा प्रकाशन.

गुप्ता, रमणिका. (2015). *आपहुदरी*. वाणी प्रकाशन.

टाकभौरे, सुशीला. (2011). *शिकंजे का दर्द*. वाणी प्रकाशन.

नामदेवखिल्लारे, दीपक. (2016). *हिन्दी की महिला आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अनुशीलन*. अतुल प्रकाशन.

बैसंत्री, कौशल्य. (1999). *दोहरा अभिशाप*. परमेश्वरी प्रकाशन.

भण्डारी, मन्नू. (2008). *एक कहानी यह भी*. राधाकृष्ण प्रकाशन.

मीना. (2019). *महिला आत्मकथाओं में नारी संवेदना*. ए.बी.एल. पब्लिकेशन.

राय, सुशीला. (2005). *एक अनपढ़ कहानी*. रोशनाई प्रकाशन.

श्रीवास्तव, गरिमा. (2008, जून). पुनः अंकुरित होने की इच्छा और सामर्थ्य की कहानी. *समयांतर*.

Received: 17.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी कहानी की बदलती भाषा और शिल्प

सत्या शर्मा*

raisatyasharma8@gmail.com

शोधसार

प्रस्तुत शोध पत्र में 1990 के दशक के पश्चात आरम्भ हुए भूमंडलीकरण (globalization), उदारीकरण तथा बाज़ारवाद के दौर में हिन्दी कहानी की भाषा और शिल्प में आए परिवर्तनों का विश्लेषणात्मक रेखांकन किया गया है। भूमंडलीकरण ने न केवल भारतीय समाज की सामाजिक-आर्थिक संरचना को बदला, बल्कि साहित्यिक अभिव्यक्ति के तौर-तरीकों को भी गहराई से प्रभावित किया। इस दौर की हिन्दी कहानी ने पारम्परिक ढाँचों को तोड़कर समकालीन यथार्थ को नए रूप में स्वीकार किया है। भाषा के स्तर पर शुद्ध साहित्यिक अथवा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के स्थान पर 'हिंग्लिश', महानगरीय बोलचाल, तकनीकी शब्दावली (इंटरनेट, कम्प्यूटर, ई-मेल, पासवर्ड) तथा कॉरपोरेट जगत की शब्दावली का प्रवेश हुआ है। शिल्प के स्तर पर पारम्परिक रैखिक (linear) नैरेटिव के स्थान पर कोलाज शैली, फ़्लैशबैक, डायरी शैली, एकालाप (monologue), मेटा-फ़िक्शन तथा जादुई यथार्थवाद (magical realism) जैसी आधुनिक प्रविधियों ने स्थान ग्रहण कर लिया है। उदय प्रकाश, अखिलेश, अलका सरावगी, मनोज कुमार पाण्डेय, ऋषिकेश सुलभ, प्रियंवद, चंदन पांडेय तथा नीलाक्षी सिंह जैसे समकालीन कथाकारों की रचनाओं के पाठ-विश्लेषण (textual analysis) के आधार पर यह शोध स्पष्ट करता है कि समकालीन हिन्दी कहानी वैश्विक और स्थानीय के द्वन्द्व को नए भाषिक तथा शिल्पगत मुहावरों में व्यक्त कर रही है। निष्कर्षतः, भूमंडलीकरण के दौर की हिन्दी कहानी भाषा और शिल्प — दोनों स्तरों पर अधिक यथार्थवादी, बहुस्तरीय तथा वैश्विक चेतना से सम्पन्न हुई है; और भाषिक मिश्रण उसकी क्षति नहीं, बल्कि उसकी जीवंतता का प्रमाण है।

मुख्य शब्द:

भूमंडलीकरण, हिन्दी कहानी, भाषिक विमर्श, शिल्पगत परिवर्तन, बाज़ारवाद, समकालीन यथार्थ, हिंग्लिश

प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक ने भारतीय समाज को जिस गति से बदला, वैसा परिवर्तन इससे पूर्व केवल औपनिवेशिक आधुनिकता के आगमन के समय देखा गया था। 1991 में अपनाई गई उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण (LPG) की नीतियों ने उत्पादन, उपभोग, श्रम, परिवार और अवकाश — जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को पुनर्गठित किया। भूमंडलीकरण को केवल आर्थिक परिघटना मानना अपर्याप्त है; वह सांस्कृतिक प्रवाहों, कल्पना और स्मृति का भी पुनर्गठन करता है (Appadurai, 1996)। गिडेंस (Giddens, 1990) के अनुसार आधुनिकता के इस चरण में समय और स्थान का 'विस्थापन' (time-space distanciation) होता है, जिससे व्यक्ति का स्थानीय अनुभव दूरस्थ वैश्विक शक्तियों द्वारा संचालित होने लगता है। साहित्य, विशेषतः कहानी, इसी विस्थापित अनुभव को दर्ज करने का सर्वाधिक संवेदनशील माध्यम बनकर उभरी।

साहित्य समाज का दर्पण और नियामक — दोनों है; अतः इस युगांतकारी परिवर्तन का सीधा प्रभाव तत्कालीन हिन्दी कहानी पर पड़ा। इस दौर की कहानी ने प्रेमचंदयुगीन आदर्शोन्मुख यथार्थवाद तथा 'नई कहानी' के महानगरीय अकेलेपन से आगे बढ़कर उत्तर-आधुनिक यथार्थ को अंकित करना आरम्भ किया। अब कहानी के केन्द्र में केवल गाँव या कस्बा नहीं रहा, बल्कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, साइबर स्पेस, कॉल सेंटर और आर्थिक मंदी से उपजा नया संकट भी आ गया। इस नए यथार्थ को

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय मोतिहारी, गांधी परिसरा, पूर्वी चंपारण, बिहार**

पुरानी संवेदना, पुरानी भाषाई जड़ता और पारम्परिक ढाँचे में व्यक्त करना असम्भव था। अतः समकालीन कथाकारों ने समय की माँग के अनुरूप अपनी भाषा को लचीला बनाया और शिल्प के स्तर पर नए-नए प्रयोग किए।

ऐतिहासिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि

शीतयुद्ध की समाप्ति :- 1989 में बर्लिन की दीवार का ढहना और 1991 में सोवियत संघ का विघटन भूमंडलीकरण की सबसे बड़ी राजनीतिक पृष्ठभूमि थी। इसके साथ ही विश्व में समाजवादी विकल्प का प्रभाव क्षीण हुआ और अमेरिकी पूँजीवाद का वर्चस्व स्थापित हो गया। इस परिवर्तन को अनेक चिन्तकों ने 'इतिहास के अन्त' के रूप में प्रचारित किया, जिसे हिन्दी के आलोचकों ने विचारधारा के एकाधिकार का प्रयास कहकर प्रश्नांकित किया (सिंह, 2011)।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका :- द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात निर्मित संस्थाएँ जैसे विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और 1995 में स्थापित विश्व व्यापार संगठन (WTO) ने विकासशील देशों के लिए अपनी अर्थव्यवस्थाओं के द्वार खोलना अनिवार्य बना दिया। भारत में 1991 की नई आर्थिक नीति ने आयात-निर्यात, विदेशी निवेश और उपभोक्ता बाज़ार को मुक्त किया, जिसका सांस्कृतिक परिणाम उपग्रह टेलीविज़न, विज्ञापन-संस्कृति और ब्रांड-आधारित पहचान के रूप में सामने आया।

सूचना-प्रौद्योगिकी क्रान्ति :- कम्प्यूटर, मोबाइल और इंटरनेट ने संचार को तात्कालिक बना दिया। इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम साहित्य के प्रकाशन और प्रसार का लोकतंत्रीकरण रहा — ब्लॉग, वेब-पत्रिकाएँ और सोशल मीडिया ने नए कथाकारों को सम्पादकीय द्वारपालों के बिना पाठक तक पहुँचने का मार्ग दिया।

भूमंडलीकरण का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव

कॉरपोरेट संस्कृति, 'टारगेट' और 'डेडलाइन' के दबाव ने मनुष्य को अकेला और यांत्रिक बना दिया। समकालीन कहानियों में इस अकेलेपन, अवसाद और अजनबीपन को प्रमुखता से उकेरा गया है। प्रगतिशील दौर में जहाँ कहानी के केन्द्र में किसान और गाँव हुआ करते थे, वहीं भूमंडलीकरण के पश्चात कहानी के केन्द्र मॉल, मल्टीप्लेक्स, आईटी पार्क और बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ बन गए। संयुक्त परिवार का विघटन, लिव-इन सम्बन्ध और वृद्ध माता-पिता का एकान्त इस दौर के साहित्य की मुख्य विषय-वस्तु बने। साथ ही 'ग्लोकल' (वैश्विक और स्थानीय का मेल) चेतना का विकास हुआ, जिसने स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी-विमर्श और पर्यावरण-विमर्श जैसे नए साहित्यिक विमर्शों को नई ऊर्जा दी।

भाषा और शिल्प का लचीलापन इसी प्रक्रिया का परिणाम है। साहित्य की भाषा अब न विशुद्ध अकादमिक रही, न संस्कृतनिष्ठ। मातृभाषा के साथ अंग्रेज़ी शब्दों का मिश्रण (हिंग्लिश) इस दौर के साहित्य की पहचान बना, क्योंकि लेखक वही भाषा चुनता है जिसे उसका समाज उस क्षण बोल रहा होता है।

शोध समस्या

प्रस्तुत अध्ययन तीन केन्द्रीय समस्याओं से जूझता है। *प्रथम*, भाषाई पहचान का संकट — क्या हिंग्लिश शब्दों का अनियंत्रित प्रयोग हिन्दी की मौलिकता को नष्ट कर रहा है, अथवा यह उसकी जीवंतता और समय के साथ ढलने की क्षमता का प्रमाण है? *द्वितीय*, शिल्पगत जटिलता — आधुनिक जीवन के बिखराव और तनाव को चित्रित करने वाले कोलाज, फंतासी और जादुई यथार्थवाद जैसे प्रयोग कहानी को सामान्य पाठक के लिए दुरूह बना रहे हैं या नहीं? *तृतीय*, वैश्विक बनाम स्थानीय का द्वन्द्व; इस द्वन्द्व के बीच कथाकार अपनी स्थानीय संवेदना और देशज मुहावरे को किस प्रकार बचा पा रहे हैं?

शोध का महत्व

यह शोध पत्र सर्वप्रथम इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि भाषा कभी स्थिर नहीं रहती; वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ के साथ रूपान्तरित होती है। दूसरे, समकालीन कथाकारों (यथा उदय प्रकाश, अलका सरावगी, अखिलेश) की भाषा-शैली पर कार्य करने वाले भावी शोधार्थियों के लिए यह संदर्भ-सामग्री के रूप में उपयोगी होगा। तीसरे, यह अध्ययन सांस्कृतिक मूल्यांकन की दृष्टि से यह समझने में सहायक है कि बाज़ारवाद के इस दौर में साहित्य मनुष्य की संवेदना को यांत्रिक होने से बचाने के लिए भाषा और शिल्प को एक प्रतिरोधी उपकरण के रूप में किस प्रकार प्रयोग कर रहा है।

शोध के उद्देश्य

1. भूमंडलीकरण के दौर में हिन्दी कहानी के भाषाई संक्रमण को रेखांकित करना।
2. कथा-शिल्प में हुई नवीन प्रयोगशीलता की पड़ताल करना।
3. कथ्य (content) और रूप (form) के अन्तर्सम्बन्ध को समझना।
4. समकालीन कहानी में निहित प्रतिरोधी चेतना का मूल्यांकन करना।

शोध प्रश्न

क. 1990 के पश्चात की हिन्दी कहानी की भाषा में कौन-से नए शब्द-स्रोत सक्रिय हुए?
ख. इन कहानियों में नैरेटिव संरचना किस प्रकार बदली?
ग. भाषिक एवं शिल्पगत परिवर्तन कथ्य को समृद्ध करते हैं अथवा उसे अपठनीय बनाते हैं?

शोध प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक (qualitative), विश्लेषणात्मक तथा पाठ-केन्द्रित है। इसमें 1991 से 2020 के मध्य प्रकाशित चयनित हिन्दी कहानियों का उद्देश्यपूर्ण नमूना-चयन (purposive sampling) करके *निकट-पाठ विश्लेषण* (close textual analysis) की पद्धति अपनाई गई है। भाषिक स्तर पर कोड-मिश्रण (code-mixing), शब्द-चयन और वाक्य-संरचना का अध्ययन किया गया है, तथा शिल्प के स्तर पर कथा-कालक्रम, वाचक (narrator) की स्थिति और संरचनात्मक प्रविधियों का विश्लेषण किया गया है। प्राथमिक स्रोत के रूप में मूल कहानी-संग्रह तथा द्वितीयक स्रोत के रूप में आलोचनात्मक पुस्तकें, शोध पत्रिकाएँ एवं समीक्षाएँ प्रयुक्त हुई हैं।

पूर्व अध्ययनों की समीक्षा

हिन्दी आलोचना में भूमंडलीकरण और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार दो दिशाओं में हुआ है। एक वर्ग इसे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का नया रूप मानकर साहित्य से प्रतिरोध की अपेक्षा करता है (सिंह, 2011; पाण्डेय, 2008), जबकि दूसरा वर्ग इसमें नई भाषिक ऊर्जा और विमर्शों के विस्तार की सम्भावना देखता है। सैद्धान्तिक स्तर पर अप्पादुरै (Appadurai, 1996) का 'सांस्कृतिक प्रवाह' और जेम्सन (Jameson, 1991) का उत्तर-आधुनिक 'पेस्टिश' सम्बन्धी विवेचन इस दौर की कोलाज-शैली को समझने में सहायक हैं। तथापि, अधिकांश अध्ययन कथ्य-केन्द्रित हैं; भाषा और शिल्प को एक साथ, अन्तर्सम्बद्ध इकाई के रूप में देखने वाले अध्ययनों का अभाव है। यही शोध-अन्तराल (research gap) प्रस्तुत पत्र का औचित्य है।

मुख्य विश्लेषण I: भाषाई रूपान्तरण — 'साहित्यिक हिन्दी' से 'ग्लोबल हिंग्लिश' तक

महानगरीय जीवन की विडम्बनाओं को उद्घाटित करने के लिए लेखक बेझिझक अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। उदय प्रकाश की कहानी 'पीली छतरी वाली लड़की' में उपभोक्ता-समाज का यह भाषिक रूप इस प्रकार व्यंजित होता है कि वह एक ऐसा 'कॉम्प्लेक्स' है जहाँ 'कस्टमर' को भगवान नहीं, बल्कि 'कंज्यूमर' समझा जाता है और जहाँ प्रवेश की शर्त जेब में 'क्रेडिट कार्ड' का होना है (उदय प्रकाश, 2001)। यहाँ अंग्रेज़ी शब्द सजावट नहीं, व्यंग्य के उपकरण हैं।

सूचना क्रान्ति ने हिन्दी कहानी को एक नया शब्दकोश दिया है। 'लॉगिन', 'पासवर्ड', 'सर्वर डाउन', 'सर्च इंजन' जैसे शब्द केवल बाहरी तत्त्व नहीं, बल्कि कथ्य को आगे बढ़ाने वाले कारक बन चुके हैं। चंदन पांडेय और प्रियंवद की कहानियों में वर्चुअल दुनिया के कारण टूटते मानवीय सम्बन्धों को दिखाने के लिए इसी तकनीकी भाषा का सहारा लिया गया है। 'सर्वर डाउन' होना अब केवल यांत्रिक विफलता नहीं, सम्बन्धों के ठहराव का रूपक है।

आज का युवा जिस कॉरपोरेट संस्कृति में जी रहा है, वहाँ से 'टारगेट', 'डेडलाइन', 'हाइक', 'पैकेज', 'अपरेज़ल' जैसे शब्द कहानी में प्रवेश कर गए हैं। समकालीन कहानियों में इनका प्रयोग जीवन के तनाव और यांत्रिकता को सटीक रूप में

दर्शाता है; चंदन पांडेय की कहानी 'भूलना' इसका उल्लेखनीय उदाहरण है (पांडेय, 2011)। वाक्य छोटे, कटे-फटे और गति-प्रधान हो गए हैं — भाषा की यह लय स्वयं कॉरपोरेट समय की लय है।

भूमंडलीकरण ने एक ऐसी 'दिखावे की संस्कृति' को जन्म दिया जहाँ मनुष्य की पहचान उसके द्वारा खरीदे गए ब्रांडों से निर्धारित होती है। अखिलेश की चर्चित कहानी 'छिटकनकना' में मध्यवर्गीय परिवार की बदलती भाषा को रेखांकित करते हुए दिखाया गया है कि घर अब केवल रहने की जगह नहीं रहा — वह 'एशियन पेंट्स' के कैटलॉग, 'गोदरेज' के इंटीरियर और 'सैमसंग' के गैजेट्स का एक लाइव शोरूम बनता जा रहा था, और बच्चों की भाषा 'मम्मी-पापा' से शिफ़्ट होकर ब्रांडों के नामों पर अटक गई थी (अखिलेश, 2004)। विज्ञापन की भाषा यहाँ पात्रों के अवचेतन की भाषा बन जाती है।

यह ध्यातव्य है कि भाषिक परिवर्तन एकतरफ़ा नहीं है। ऋषिकेश सुलभ और मनोज कुमार पाण्डेय जैसे कथाकार भोजपुरी, अवधी और बघेली के देशज शब्दों, लोकगीतों तथा कहावतों को कहानी में पुनः प्रतिष्ठित करते हैं। इस प्रकार एक ही कालखण्ड में दो विपरीत भाषिक प्रवृत्तियाँ यानी वैश्विक शब्दावली का आगमन और लोकभाषा का पुनरुत्थान साथ-साथ सक्रिय हैं। यही 'ग्लोकल' भाषिक द्वैत समकालीन हिन्दी कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है।

मुख्य विश्लेषण II: शिल्प और नैरेटिव में बदलाव

पारम्परिक कहानी आदि-मध्य-अन्त के क्रम में चलती थी। समकालीन कहानी में यह क्रम जान-बूझकर तोड़ा जाता है, क्योंकि आधुनिक अनुभव स्वयं खण्डित है। फ़्लैशबैक, समय-छलाँग और अपूर्ण अन्त (open ending) अब अपवाद नहीं, नियम हैं। कहानी में समाचार-कतरन, विज्ञापन, सरकारी आँकड़े, एस.एम.एस., ई-मेल, डायरी-अंश और गीत-पंक्तियाँ एक साथ जोड़ दी जाती हैं। जेम्सन (Jameson, 1991) ने इस युग की कला-विशेषता के रूप में जिस 'पेस्टिश' की चर्चा की, हिन्दी कहानी में वह उदय प्रकाश के यहाँ सृजनात्मक प्रतिरोध का रूप ले लेता है — जहाँ बाज़ार की भाषा को उद्धृत करते हुए ही उसकी हिंसा उजागर की जाती है। जब यथार्थ अविश्वसनीय रूप से क्रूर हो जाता है, तब सीधा वर्णन अपर्याप्त पड़ता है। उदय प्रकाश की 'तिरिछ' तथा 'मोहनदास' जैसी रचनाओं में फंतासी, अतिरंजना और स्वप्न-दृश्य सत्ता-संरचना की निर्ममता को उद्घाटित करने के औज़ार बनते हैं (उदय प्रकाश, 2006)।

'मैं' शैली का बढ़ता प्रयोग पाठक को पात्र के अन्तर्जगत में सीधे प्रवेश देता है। अलका सरावगी के *कलिकथा: वाया बाइपास* में स्मृति-प्रवाह, पत्र, डायरी और इतिहास के टुकड़े मिलकर कथा-संरचना बनाते हैं, जिससे व्यक्ति-स्मृति और नगर-इतिहास एक-दूसरे में घुल जाते हैं (सरावगी, 1998)।

कहानी के भीतर कहानी लिखने की प्रक्रिया पर टिप्पणी करना, पाठक को सीधे सम्बोधित करना और कथा की 'रचितता' को उजागर कर देना — ये प्रविधियाँ यथार्थ के एकल, आधिकारिक संस्करण पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। शीर्षक अब काव्यात्मक की अपेक्षा व्यंग्यपूर्ण और चौंकाने वाले हैं; संवाद लम्बे भाषणों के स्थान पर सिनेमा की तरह त्वरित और अर्थ-संकुल हैं। वर्णन की मात्रा घटी है और दृश्य-बिम्ब (visual imagery) की मात्रा बढ़ी है — यह दृश्य-संस्कृति (visual culture) के युग का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

विवेचन: कथ्य और रूप का अन्तर्सम्बन्ध

विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि भाषा और शिल्प के परिवर्तन स्वतंत्र प्रयोग नहीं, बदले हुए कथ्य की अनिवार्य माँग हैं। जब विषय-वस्तु कॉल सेंटर की रात्रि-पाली, विस्थापित मज़दूर और ऑनलाइन एकांत है, तब संस्कृतनिष्ठ वाक्य-विन्यास और सरल रैखिक कथा-क्रम अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार पहली शोध-समस्या का उत्तर यह है कि हिंग्लिश का प्रयोग भाषा का क्षरण नहीं, बल्कि उसकी ग्रहणशीलता का प्रमाण है; संकट तब उत्पन्न होता है जब यह प्रयोग कथ्य की आवश्यकता के बिना, केवल आधुनिक दिखने के लिए किया जाए। दूसरी समस्या के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि शिल्पगत जटिलता कुछ पाठकों के लिए बाधा बनती है, किन्तु यही जटिलता खण्डित यथार्थ के प्रति ईमानदारी भी है; अतः दुरूहता और प्रयोगशीलता के बीच सन्तुलन कथाकार का सृजनात्मक उत्तरदायित्व है। तीसरी समस्या के उत्तर में देशज शब्दावली का प्रत्याक्रमण यह सिद्ध करता है कि स्थानीय संवेदना पराजित नहीं हुई; वह वैश्विक भाषा के भीतर रहकर ही प्रतिरोध रच रही है। इस प्रकार शोध-परिकल्पना प्रमाणित होती है।

शोध की सीमाएँ

यह अध्ययन चयनित कथाकारों एवं कहानियों तक सीमित है; अतः इसके निष्कर्षों का सामान्यीकरण सम्पूर्ण समकालीन हिन्दी कथा-साहित्य पर सतर्कता के साथ ही किया जाना चाहिए। पाठक-प्रतिक्रिया का अनुभवमूलक (empirical) सर्वेक्षण इसमें सम्मिलित नहीं है, जो भविष्य के शोध का विषय हो सकता है। साथ ही अनुवाद, डिजिटल कथा-मंचों और वेब-धारावाहिकों के भाषिक प्रभाव का स्वतंत्र अध्ययन अपेक्षित है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण ने हिन्दी कहानी को विषय, भाषा और शिल्प तीनों स्तरों पर रूपान्तरित किया है। भाषा के धरातल पर उसने हिंग्लिश, तकनीकी और कॉरपोरेट शब्दावली तथा विज्ञापन-मुहावरे को आत्मसात किया, और साथ ही देशज बोलियों की ऊर्जा को भी पुनः अर्जित किया। शिल्प के धरातल पर उसने रैखिक कथा-क्रम का परित्याग कर कोलाज, फंतासी, जादुई यथार्थवाद, डायरी, एकालाप और मेटा-फ़िक्शन जैसी प्रविधियों को अपनाया। ये परिवर्तन हिन्दी कहानी के ह्रास के सूचक नहीं, बल्कि उसकी सांस्कृतिक जीवन-शक्ति के प्रमाण हैं। समकालीन हिन्दी कहानी बाज़ार की भाषा को ग्रहण करके ही बाज़ार की अमानवीयता का प्रतिवाद करती है — यही उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैचारिक अवदान है। अन्ततः, भूमंडलीकरण के दौर की हिन्दी कहानी भाषा और शिल्प, दोनों स्तरों पर अधिक यथार्थवादी, बहुस्तरीय और वैश्विक चेतना से सम्पन्न हुई है, तथा वह वैश्विक और स्थानीय के द्वन्द्व को एक नए, जीवन्त कथा-मुहावरे में रूपान्तरित करने में समर्थ सिद्ध हुई है।

संदर्भ :-

अखिलेश. (2004). *शापग्रस्त तथा अन्य कहानियाँ*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

उदय प्रकाश. (2001). *पीली छतरी वाली लड़की*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

उदय प्रकाश. (2006). *मोहनदास*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

पाण्डेय, मैनेजर. (2008). *साहित्य और इतिहास-दृष्टि*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

पांडेय, चंदन. (2011). *भूलना*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

सरावगी, अलका. (1998). *कलिकथा: वाया बाइपास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

सिंह, नामवर. (2011). *कहानी: नई कहानी* (पुनर्मुद्रण). इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.

सुलभ, ऋषिकेश. (2010). *वसंत के हत्यारे*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

Appadurai, A. (1996). *Modernity at large: Cultural dimensions of globalization*. Minneapolis, MN: University of Minnesota Press.

Giddens, A. (1990). *The consequences of modernity*. Stanford, CA: Stanford University Press.

Jameson, F. (1991). *Postmodernism, or, the cultural logic of late capitalism*. Durham, NC: Duke University Press.

Received: 18.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

श्रीलाल शुक्ल के कालजयी उपन्यास 'रागदरबारी' की समाजशास्त्रीय समीक्षा

अखिलेश कुमार सिंह*

akhileshsinghbhu2025@gmail.com

सारांश

श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'रागदरबारी' (1968), जिसे 1970 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया, आधुनिक हिंदी साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और समाजशास्त्रीय दृष्टि से समृद्ध उपन्यासों में अग्रणी स्थान रखता है। व्यंग्य-शैली में रचित यह उपन्यास स्वतंत्रता-पश्चात् भारतीय ग्रामीण समाज का एक निर्मम, प्रामाणिक और अत्यंत सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करता है — जिसमें जर्जर होती संस्थाएँ, सत्ता की जड़ें जमाए बैठे वर्चस्वशाली समूह, राजनीतिक भ्रष्टाचार और लोकतांत्रिक आदर्शों तथा जमीनी यथार्थ के बीच की गहरी खाई को पूरी बेबाकी से उजागर किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र 'रागदरबारी' की एक सुव्यवस्थित समाजशास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत करता है। इस समीक्षा में वेबर के नौकरशाही सिद्धांत, ग्राम्शी की वर्चस्व (Hegemony) की अवधारणा और अम्बेडकर की जाति-आलोचना जैसे सैद्धांतिक उपकरणों का सहयोग लिया गया है। शोध पत्र चार प्रमुख समाजशास्त्रीय विषयों — सत्ता एवं राजनीतिक भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र, शिक्षा एवं संस्थागत पतन का समाजशास्त्र, जाति-वर्ग एवं सामाजिक स्तरीकरण, तथा सामूहिक नैतिक अवसाद की संस्कृति — के इर्द-गिर्द संगठित है। शोध इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'रागदरबारी' केवल एक साहित्यिक व्यंग्य-कृति नहीं है, बल्कि यह उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय लोकतंत्र की संरचनात्मक विडंबनाओं को उजागर करने वाला एक मौलिक समाजशास्त्रीय दस्तावेज़ है।

मुख्य शब्द:

रागदरबारी, श्रीलाल शुक्ल, हिंदी साहित्य, समाजशास्त्रीय समीक्षा, स्वतंत्रता-पश्चात् भारत, राजनीतिक भ्रष्टाचार, संस्थागत पतन, जाति, व्यंग्य, ग्रामीण समाज

1. प्रस्तावना

साहित्य और समाजशास्त्र का संबंध अत्यंत गहरा और बहुआयामी है। जहाँ समाजशास्त्र सामाजिक यथार्थ को वैज्ञानिक पद्धति से परखता है, वहीं साहित्य उसी यथार्थ को मानवीय संवेदना और कल्पनाशीलता के माध्यम से जीवंत रूप में प्रस्तुत करता है। सी. राइट मिल्स (1959) ने *'The Sociological Imagination'* में यह तर्क दिया था कि गहनतम सामाजिक विश्लेषण प्रायः सांख्यिकीय आँकड़ों से नहीं, बल्कि मानवीय अनुभव की रचनात्मक पुनर्संरचना से उभरता है। भारतीय संदर्भ में यह अंतर्दृष्टि अपनी सर्वाधिक शक्तिशाली साहित्यिक अभिव्यक्ति श्रीलाल शुक्ल के *'रागदरबारी'* में पाती है।

'रागदरबारी' — जिसका शीर्षक 'दरबार की राग' अर्थात् 'सत्ता का संगीत' के भाव को व्यंजित करता है — उत्तर प्रदेश के काल्पनिक गाँव शिवपालगंज में घटित होती है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र रंगनाथ है — एक नगरीय शोधार्थी, जो अपने मामा वैद्यजी से मिलने गाँव आता है और वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक एवं संस्थागत वास्तविकताओं से धीरे-धीरे परिचित होता जाता है। वैद्यजी गाँव के सर्वशक्तिमान राजनीतिक नेता हैं — एक ऐसी व्यक्तित्व जिनके इर्द-गिर्द शिवपालगंज की समस्त सत्ता-संरचना केंद्रित है। रंगनाथ की बढ़ती हुई जागरूकता के माध्यम से पाठक उस जगत को देखता है जहाँ लोकतंत्र के प्रत्येक आदर्श का उपहास हो रहा है, जहाँ संस्थाएँ अपने मूल उद्देश्यों से भटककर सत्ता के औजार बन गई हैं और जहाँ भ्रष्टाचार अपवाद नहीं बल्कि सामाजिक नियम बन चुका है (शुक्ल, 1968/2009)।

* **शोधार्थी, मानविकी एवं भाषा संकाय, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार**

'रागदरबारी' की समाजशास्त्रीय महत्ता इसी में निहित है कि यह सामाजिक विकृतियों को व्यक्तिगत चरित्र-दोष के रूप में नहीं, बल्कि एक विशेष सत्ता-संरचना, सांस्कृतिक निर्मिति और संस्थागत तर्क के उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करता है। इस शोध पत्र में हम उपन्यास का विश्लेषण चार प्रमुख समाजशास्त्रीय आयामों — सत्ता एवं राजनीतिक वर्चस्व, शिक्षा एवं संस्थागत पतन, जाति-वर्ग एवं सामाजिक स्तरीकरण, तथा सामूहिक नैतिक अवसाद और भाषाई प्रपंच — के अंतर्गत करेंगे।

2. साहित्य समीक्षा

अपने प्रकाशन काल से ही *'रागदरबारी'* ने साहित्यिक और बौद्धिक जगत में गहरी हलचल मचाई। नामवर सिंह (1992) ने इसे हिंदी उपन्यास-परंपरा में एक निर्णायक मोड़ बताते हुए इसकी व्यंग्य-शैली की सटीकता और भाषाई कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा की। गुप्ता (1995) ने अपने महत्त्वपूर्ण निबंध में स्थानीय शासन और भ्रष्टाचार के विमर्श में *'रागदरबारी'* को एक नृवंशविज्ञानात्मक साक्ष्य के रूप में उद्धृत करते हुए यह तर्क दिया कि भारतीय ग्रामीण जीवन में भ्रष्टाचार संस्थागत मानदंडों का विचलन नहीं बल्कि संस्थागत परिदृश्य की एक संरचनात्मक विशेषता है। जेफ्री (2010) ने उत्तर प्रदेश के शिक्षित बेरोजगार युवाओं पर केंद्रित अपने समाजशास्त्रीय अध्ययन में स्पष्टतः स्वीकार किया कि उनका सामाजिक विश्व वही है जिसे *'रागदरबारी'* ने पहली बार मानचित्रित किया था।

प्रस्तुत शोध पत्र तीन प्रमुख सैद्धांतिक परंपराओं से अपना विश्लेषणात्मक ढाँचा ग्रहण करता है। प्रथमतः, वेबर (1922/1978) के वर्चस्व-सिद्धांत — विशेषतः विधिक-तर्कसंगत, परंपरागत और करिश्माई सत्ता के बीच उनका अंतर — *'रागदरबारी'* में राजनीतिक सत्ता की प्रकृति के विश्लेषण के लिए एक उपयुक्त रूपरेखा प्रदान करता है। द्वितीयतः, ग्राम्शी (1971) की वर्चस्व (Hegemony) की अवधारणा — जिसमें प्रभुत्वशाली वर्ग अपने शासन को स्वाभाविक और अपरिहार्य प्रतीत कराकर अधीनस्थ वर्गों की सहमति प्राप्त करते हैं — वैद्यजी के सत्ता-बनाए रखने के तंत्र की व्याख्या करती है। तृतीयतः, अम्बेडकर (1936/2014) की जाति की आलोचना — जिसमें जाति को एक श्रेणीबद्ध असमानता की व्यवस्था के रूप में विश्लेषित किया गया है — उपन्यास में जाति-संरचित सामाजिक संबंधों की परीक्षा के लिए आवश्यक औजार प्रदान करती है।

3. सत्ता और राजनीतिक वर्चस्व का समाजशास्त्र

3.1 वैद्यजी और स्थानीय सत्ता की वास्तुकला : *'रागदरबारी'* का केंद्रीय समाजशास्त्रीय तथ्य वह सत्ता-संरचना है जो वैद्यजी के व्यक्तित्व में केंद्रीभूत है। वैद्यजी आयुर्वेदिक चिकित्सक हैं, राजनीतिक दलाल हैं और शिवपालगंज के वास्तविक शासक हैं। उनकी सत्ता कोई औपचारिक, लोकतांत्रिक रूप से प्रदत्त अधिकार नहीं है — यह एक अनौपचारिक, जालीदार और गहन रूप से व्यक्तिकृत सत्ता है जो स्थानीय जीवन की प्रत्येक संस्था — इंटर कॉलेज से लेकर सहकारी समिति तक और ग्राम पंचायत से लेकर अदालत तक — में व्याप्त है (शुक्ल, 1968/2009)।

वेबर (1922/1978) के सत्ता-सिद्धांत के आलोक में देखें तो वैद्यजी की सत्ता में परंपरागत वर्चस्व के तत्त्व — स्थानीय गणमान्यता के प्रति पारंपरिक आज्ञाकारिता — और विधिक-तर्कसंगत सत्ता के तत्त्व — जिसे उन्होंने औपचारिक लोकतांत्रिक संस्थाओं पर अधिकार करके विनियोजित किया है — का एक जटिल और अस्थिर समिश्रण है। शिवपालगंज में ग्राम पंचायत, कॉलेज प्रबंध समिति और सहकारी समिति सभी वैद्यजी के व्यक्तिगत सत्ता-नेटवर्क के विस्तार हैं — ये लोकतांत्रिक रूप हैं जिन्हें लोकतांत्रिक सार से रिक्त कर दिया गया है।

3.2 राजनीति : एक नाटक और छलावा

शिवपालगंज की राजनीतिक गतिविधियों का शुक्ल का चित्रण उनके प्रदर्शनधर्मी और नाट्यात्मक आयामों पर विशेष बल देता है। राजनीतिक बैठकें, वाद-विवाद और चुनाव जन-इच्छाओं को अभिव्यक्त करने या सामूहिक समस्याओं को हल करने के तंत्र नहीं हैं — ये ऐसे प्रदर्शन हैं जिनका उद्देश्य उन परिणामों को वैधता प्रदान करना है जो पहले ही गुप्त बातचीत, धमकी और सामाजिक दायित्वों के सावधान प्रबंधन के माध्यम से तय हो चुके हैं। गुप्ता (1995) का यह तर्क अत्यंत प्रासंगिक है कि ग्रामीण भारत में भ्रष्टाचार का "सार्वजनिक रहस्य" — यह तथ्य कि सब जानते हैं किंतु कोई आधिकारिक रूप से स्वीकार नहीं करता — स्वयं एक शक्तिशाली सत्ता-तंत्र है। *'रागदरबारी'* इस गतिशीलता को असाधारण सटीकता के साथ नाटकीय रूप देता है।

4. शिक्षा और संस्थागत पतन का समाजशास्त्र

4.1 सत्ता-संघर्ष का रणक्षेत्र : *'रागदरबारी'* के सर्वाधिक विस्तृत और विश्लेषणात्मक दृष्टि से समृद्ध प्रसंगों में स्थानीय इंटर कॉलेज की राजनीति प्रमुख स्थान रखती है। स्वतंत्रता-पश्चात् भारतीय शिक्षा नीति की आदर्शवादी दृष्टि में यह कॉलेज ज्ञानोदय, सामाजिक गतिशीलता और लोकतांत्रिक नागरिकता-निर्माण का स्थल होना चाहिए था। किंतु शुक्ल के लेखन में यह एक ऐसा रणक्षेत्र है जिसमें स्थानीय राजनेताओं, जाति-समूहों और व्यक्तिगत नेटवर्कों के प्रतिद्वंद्वी गुट संसाधनों, नियुक्तियों और संस्थागत प्रतिष्ठा पर नियंत्रण के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं — जबकि शिक्षा स्वयं एक पूर्णतः आकस्मिक और गौण चिंता बनकर रह जाती है (शुक्ल, 1968/2009)।

बेतेई (1996) की यह टिप्पणी यहाँ अत्यंत प्रासंगिक है कि स्वतंत्रता-पश्चात् भारत की औपचारिक संस्थाओं — शिक्षा संस्थाओं सहित — को प्रायः स्थानीय प्रभुत्वशाली समूहों ने अपने सामाजिक पुनरुत्पादन के साधन के रूप में प्रयुक्त किया, न कि व्यापक सामाजिक परिवर्तन के तंत्र के रूप में। जेफ्री (2010) ने भी पाया कि ग्रामीण उत्तर प्रदेश में शैक्षिक योग्यताएँ "सामाजिक गतिशीलता का तंत्र कम और स्थानीय सत्ता-संघर्षों में एक संसाधन अधिक" बन गई हैं — वही गतिशीलता जिसे *'रागदरबारी'* ने असाधारण दूरदर्शिता के साथ चित्रित किया था।

4.2 शिक्षित वर्ग की विफलता : रंगनाथ — उपन्यास का नाममात्र का नायक और शोधार्थी — समाजशास्त्रीय दृष्टि से एक विशेष वर्ग-निर्मिति का प्रतिनिधि है : वह शिक्षित नगरीय भारतीय जो लोकतांत्रिक शासन की संस्थाओं से आदर्शवादी अपेक्षाएँ रखता है और बार-बार, व्यवस्थित रूप से उनकी वास्तविक कार्यप्रणाली से निराश होता है। उपन्यास के क्रम में उसका बढ़ता मोहभंग केवल एक व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक यात्रा नहीं है — यह भारतीय लोकतांत्रिक आधुनिकता के औपचारिक आदर्शों और ग्रामीण उत्तर प्रदेश की स्थानीय सत्ता की अनौपचारिक वास्तविकताओं के बीच संरचनात्मक असंगति का एक समाजशास्त्रीय निदान है।

बूर्दिए (1984) की सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा यहाँ विशेष रूप से प्रकाशमान है : रंगनाथ की नगरीय, शिक्षित आदत (habitus) — तर्कसंगत तर्क, औपचारिक प्रक्रिया और सैद्धांतिक व्यवहार के प्रति उसका झुकाव — एक ऐसी सांस्कृतिक पूँजी का रूप है जो शिवपालगंज के सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में पूर्णतः अवमूल्यित हो जाती है, जहाँ प्रासंगिक विनिमय-मुद्राएँ राजनीतिक संपर्क, जाति-निष्ठा और सामरिक दबाव की क्षमता हैं।

5. जाति, वर्ग और सामाजिक स्तरीकरण

5.1 सामाजिक जीवन के आयोजन-सिद्धांत के रूप में जाति : भारतीय संविधान द्वारा जाति-भेदभाव के औपचारिक उन्मूलन के बावजूद *'रागदरबारी'* एक ऐसे सामाजिक जगत को प्रस्तुत करता है जिसमें जाति सामाजिक संबंधों, राजनीतिक गठबंधनों और आर्थिक वितरण का एक मूलभूत आयोजन-सिद्धांत बनी हुई है। शिवपालगंज की प्रत्येक राजनीतिक गणना जाति-अंकगणित से सूचित है; संस्थागत पद पर प्रत्येक नियुक्ति जाति-निष्ठा से मध्यस्थ है; प्रत्येक सामाजिक अंतःक्रिया जाति-पदानुक्रम की चेतना से आच्छादित है (शुक्ल, 1968/2009)।

यह चित्रण गुप्ता (2000) के इस तर्क से घनिष्ठ रूप से संवादी है कि समकालीन भारत में जाति-पहचानें न तो सरल रूप से संरचनात्मक हैं और न ही सांस्कृतिक, बल्कि वे विशिष्ट ऐतिहासिक और राजनीतिक संदर्भों में निरंतर पुनरुत्पादित और प्रतिस्पर्धित होती हैं। भारतीय राजनीतिक जीवन के औपचारिक लोकतंत्रीकरण ने जाति को एक सामाजिक शक्ति के रूप में विघटित नहीं किया है — बल्कि इसने जाति को एक राजनीतिक संसाधन में रूपांतरित कर दिया है जिसके माध्यम से प्रतिस्पर्धी समूह राज्य-सत्ता और उसके संसाधनों पर अधिकार के लिए होड़ करते हैं।

अम्बेडकर (1936/2014) की जाति को 'श्रमिकों के विभाजन' के रूप में व्याख्या — एक ऐसी प्रणाली जो मनुष्यों को सामाजिक उद्गम के आधार पर व्यावसायिक श्रेणियों में नियत करती है — उपन्यास के उन प्रसंगों में स्पष्टतः प्रतिध्वनित होती है जहाँ दलित और पिछड़े वर्ग के पात्र राजनीतिक जोड़-तोड़ की वस्तु बनकर रह जाते हैं।

5.2 वर्ग-निर्माण और आर्थिक असमानता : उपन्यास उत्तर प्रदेश के स्वतंत्रता-पश्चात् के आरंभिक काल के वर्ग-ढाँचे का भी एक समृद्ध विवरण प्रस्तुत करता है। वैद्यजी और उनके सहयोगी एक उभरते हुए ग्रामीण नोटेबिलिटी (notable) वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं — न पूर्व-स्वतंत्रता के परंपरागत ज़मींदार और न नगरीय अर्थव्यवस्था का औद्योगिक पूँजीपति वर्ग, बल्कि

एक नई निर्मिति जो राज्य और ग्राम-समुदाय के बीच अपनी सामरिक अवस्थिति के माध्यम से धन और प्रभाव संचित करती है। हैरिस (2006) ने ग्रामीण भारत के इस "प्रभुत्वशाली किसान" वर्ग को स्वतंत्रता-पश्चात् भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण किंतु सबसे कम अध्ययनित निर्मितियों में एक बताया है।

6. सामूहिक नैतिक अवसाद और भाषाई प्रपंच का समाजशास्त्र

6.1 सामूहिक निंदावाद : *'रागदरबारी'* की सर्वाधिक गहन और विचलित करने वाली समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टि सामूहिक निंदावाद और व्यवस्थागत सहभागिता की उस संस्कृति से संबंधित है जो शिवपालगंज के सामाजिक जगत में व्याप्त है। उपन्यास एक ऐसे समाज को प्रस्तुत करता है जिसमें सत्ता-पदानुक्रम के शीर्ष पर स्थित वैद्यजी से लेकर उसके सबसे हाशियाई कृषि-मजदूर तक — लगभग प्रत्येक अभिनेता ने संस्थागत नैतिकता, ईमानदार लोक-सेवा या सैद्धांतिक राजनीतिक कार्रवाई की संभावना के प्रति एक गहन और पूर्ण संशयवाद को आत्मसात् कर लिया है।

यह सामूहिक निंदावाद केवल एक दृष्टिकोण या मनोदशा नहीं है — यह, दुर्खीम (1895/1982) के अर्थ में, एक सामाजिक तथ्य है : एक सामूहिक प्रतिनिधित्व जो किसी भी व्यक्तिगत चेतना से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व रखता है और व्यक्तिगत आचरण पर एक अनिवार्य बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है। मर्टन (1957) ने अपने विसंगति (Anomie) के विश्लेषण में तर्क दिया था कि सामाजिक विकृति सर्वाधिक व्यापक और दुर्निवार तब होती है जब सांस्कृतिक रूप से निर्धारित लक्ष्यों और उनकी प्राप्ति के लिए उपलब्ध वैध संस्थागत साधनों के बीच की खाई इतनी बड़ी हो जाए कि अवैध साधन सामाजिक रूप से आदर्श प्रतिक्रिया बन जाएँ। शिवपालगंज में यही हुआ है।

6.2 भाषा, सत्ता और वैचारिक वैधीकरण : *'रागदरबारी'* में भाषा का प्रयोग स्वयं एक समाजशास्त्रीय रूप से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। शुक्ल का गद्य स्वतंत्रता-पश्चात् भारतीय लोकतंत्र की आधिकारिक शब्दावली — "जन कल्याण," "विकास," "जनसेवा," "लोकतांत्रिक मूल्य" — से परिपूर्ण है, जिसे वे निरंतर ऐसे संदर्भों में तैनात करते हैं जो उनके और सामाजिक वास्तविकताओं के बीच के मौलिक विरोधाभास को उजागर करती है।

बूर्दिए (1991) ने इसे "प्रतीकात्मक हिंसा" (Symbolic Violence) की अवधारणा से परिभाषित किया है — वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से प्रभुत्वशाली सामाजिक व्यवस्थाएँ वर्गीकरण और प्रतिनिधित्व की ऐसी प्रणालियों को थोपकर वैध और स्वाभाविक प्रतीत कराई जाती हैं जो प्रभुत्वशाली समूहों के हितों की सेवा करती हैं। ग्राम्शी (1971) की शब्दावली में कहें तो यह भाषा एक वर्चस्वकारी कार्य संपन्न करती है : यह विद्यमान प्रभुत्व-व्यवस्था को न केवल अनिवार्य बल्कि वस्तुतः उन लोगों के हित में प्रतीत कराती है जो इससे अधीनस्थ हैं।

निष्कर्ष

'रागदरबारी' गहरे और व्यापक अर्थ में एक समाजशास्त्रीय उपन्यास है — न केवल इसलिए कि यह सामाजिक यथार्थ का अत्यंत सटीक और अंतर्दृष्टिपूर्ण चित्रण प्रस्तुत करता है, बल्कि इसलिए भी कि यह उन संरचनात्मक, संस्थागत और सांस्कृतिक तंत्रों को उजागर करता है जिनके माध्यम से सामाजिक विकृतियाँ उत्पन्न और पुनरुत्पादित होती हैं।

प्रस्तुत विश्लेषण ने प्रदर्शित किया ह कि *'रागदरबारी'* समकालीन समाजशास्त्रीय सिद्धांत की अनेक केंद्रीय चिंताओं को वेबर का वर्चस्व और उसके लोकतांत्रिक आवरण का विश्लेषण; ग्राम्शी का वर्चस्वकारी सहमति का सिद्धांत; अम्बेडकर की जाति असमानता की संरचनात्मक स्थायित्व की आलोचना; बूर्दिए की सांस्कृतिक पूँजी, क्षेत्र और प्रतीकात्मक हिंसा का विश्लेषण; मर्टन का विसंगति और संस्थागत विकृति का सिद्धांत; तथा गुप्ता का भारत में स्थानीय शासन में भ्रष्टाचार का नृवंशविज्ञानात्मक विश्लेषण — को पूर्वानुमानित और प्रकाशित करता है।

'रागदरबारी' की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता केवल इसके सामाजिक निदान की सटीकता नहीं है, बल्कि इसकी निरंतर प्रासंगिकता है। शुक्ल ने 1968 में जिस सामाजिक जगत का मानचित्र बनाया था — स्थानीय राजनीतिक बॉसिज्म, संस्थागत उपनिवेशीकरण, जाति-आधारित गतिशीलता और सामूहिक निंदावाद का वह जटिल जाल — समकालीन उत्तर प्रदेश के और वस्तुतः अधिकांश भारत के ग्रामीण राजनीतिक परिदृश्य में आज भी पहचाना जा सकता है। यह निरंतर प्रासंगिकता

शुक्ल की समाजशास्त्रीय दूरदर्शिता की गहराई का प्रमाण भी है और उन सामाजिक परिस्थितियों की संरचनात्मक स्थायित्व का एक विचलित करने वाला स्मरण भी।

'रागदरबारी' इस प्रकार न केवल हिंदी साहित्य की एक अमर कृति के रूप में, बल्कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सत्ता के समाजशास्त्र की एक अपरिहार्य पाठ्य-पुस्तक के रूप में भी अपना स्थान सुरक्षित करता है — एक ऐसी कृति जिसकी अंतर्दृष्टियाँ, कालातीत होने से दूर, वर्तमान को एक असहज और अनिवार्य स्पष्टता के साथ आलोकित करती रहती हैं।

संदर्भ :-

अम्बेडकर, भीमराव रामजी. (2014). *जाति का विनाश* (मूल अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद). सम्यक प्रकाशन.

गुप्ता, अखिल. (1995). धुंधली सीमाएँ: भ्रष्टाचार का विमर्श, राजनीति की संस्कृति और कल्पित राज्य. *American Ethnologist*, *22*(2), 375–402.

गुप्ता, दीपांकर. (2000). *जाति की पूछताछ: भारतीय समाज में पदानुक्रम और भेद की समझ*. पेंगुइन बुक्स इंडिया.

ग्राम्शी, एंटोनियो. (1971). *Selections from the Prison Notebooks* (Q. Hoare & G. N. Smith, Eds. & Trans.). Lawrence and Wishart.

जेफ्री, क्रेग. (2010). *Timepass: Youth, Class and the Politics of Waiting in India*. Stanford University Press.

दुर्खीम, एमिल. (1982). *The Rules of Sociological Method* (W. D. Halls, Trans.). Free Press. (मूल प्रकाशन 1895)

नामवर सिंह. (1992). *उपन्यास और लोकतंत्र*. राजकमल प्रकाशन.

बूर्दिए, पियेर. (1984). *Distinction: A Social Critique of the Judgement of Taste* (R. Nice, Trans.). Harvard University Press.

बूर्दिए, पियेर. (1991). *Language and Symbolic Power* (G. Raymond & M. Adamson, Trans.). Polity Press.

बेतेई, आंद्रे. (1996). *Caste, Class and Power: Changing Patterns of Stratification in a Tanjore Village* (2nd ed.). Oxford University Press.

मर्टन, रॉबर्ट के. (1957). *Social Theory and Social Structure* (Rev. ed.). Free Press.

मिल्स, सी. राइट. (1959). *The Sociological Imagination*. Oxford University Press.

वेबर, मैक्स. (1978). *Economy and Society* (G. Roth & C. Wittich, Eds., Vol. 1). University of California Press. (मूल प्रकाशन 1922)

शुक्ल, श्रीलाल. (2009). *रागदरबारी*. राजकमल प्रकाशन.

हैरिस, जॉन. (2006). *Power Matters: Essays on Institutions, Politics and Society in India*. Oxford University Press.

Received: 19.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

‘अंधा युग’ नाटक का समाजशास्त्रीय अध्ययन

धनंजय कुमार तिवारी*
dhananjayudaydu@gmail.com

भूमिका

धर्मवीर भारती का ‘अंधा युग’ आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य की उन महत्त्वपूर्ण कृतियों में है, जिसमें महाभारत के युद्धोत्तर प्रसंगों को आधार बनाकर आधुनिक मनुष्य और समाज की विडंबनाओं को अभिव्यक्त किया गया है। 1954 में प्रकाशित यह नाटक केवल महाभारत की कथा का पुनर्कथन नहीं है। इसका मूल सरोकार युद्ध के बाद बची हुई मनुष्यता, सामाजिक विघटन, नैतिक संकट, सत्ता की निरंकुशता, प्रतिशोध की प्रवृति और विवेक के पतन का है। भारती ने महाभारत के उस समय को चुना है जब युद्ध समाप्त हो चुका है, लेकिन उसके वास्तविक परिणाम सामने आने शुरू हुए हैं। कुरुक्षेत्र की भूमि पर पड़े शवों से अधिक भयावह वह मानसिक और सामाजिक स्थिति है जिसमें जीवित व्यक्ति भी अपने भीतर एक प्रकार का कुरुक्षेत्र लेकर रह गया है।

‘अंधा युग’ को समाजशास्त्रीय दृष्टि से पढ़ने पर स्पष्ट होता है कि नाटक का ‘अंधापन’ केवल धृतराष्ट्र की शारीरिक दृष्टिहीनता तक सीमित नहीं है। यह उस सामूहिक चेतना का प्रतीक है जो सत्य को जानते हुए भी उससे आंखे फेर लेती है। सत्ता अपने हितों के लिए सत्य को दबाती है, व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए नैतिकता से समझौता करता है और समाज सामूहिक हिंसा के सामने अपनी संवेदना खो देता है। इस अर्थ में नाटक व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंधों की जटिलता को सामने लाता है। युद्ध यहाँ केवल दो पक्षों के बीच संघर्ष नहीं है; वह उस सामाजिक व्यवस्था की परिणति है जिसमें सत्ता, अहंकार, प्रतिशोध और नैतिक निष्क्रियता लगातार मजबूत होते जाते हैं।

समाजशास्त्रीय अध्ययन साहित्य को केवल सौंदर्य या मनोरंजन की वस्तु न मानकर उसे सामाजिक संरचनाओं, संस्थाओं, मूल्यों, संबंधों और संघर्षों की अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। इस दृष्टि से अंधा युग अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना है, क्योंकि इसमें परिवार, राज्य, सत्ता, युद्ध, धर्म, नैतिकता, स्त्री - स्थिति, वर्गीय और राजनीतिक हित, सामूहिक हिंसा तथा आदमी की सामाजिक जिम्मेदारी जैसे अनेक प्रश्न एक-दूसरे से जुडे हुए दिखाई देते हैं। महाभारत की कथा का उपयोग करते हुए भारती अपने समय की सामाजिक बेचैनी को भी अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए अंधा युग का पाठ हमें केवल अतीत की कथा नहीं बताता, बल्कि मनुष्य और समाज के उन संकटो से परिचय कराता है जो विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में नए रूपों में उपस्थित होते हैं।

मुख्य शब्द : अंधा युग, नैतिक निष्क्रियता, समाजशास्त्रीय अध्ययन, महाभारत, सामाजिक विघटन, अंधापन, युद्ध, संबंध

अध्ययन के उद्देश्य :

इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य अंधा युग में उपस्थित सामाजिक संरचनाओं और मानवीय संबंधो का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना है। इसके अंतर्गत सत्ता और समाज का संबंध, युद्ध की सामाजिक परिणतियों, नैतिक मूल्यों का विघटन, पारिवारिक संबंधों की भूमिका, स्त्री की स्थिति, सामुहिक चेतना तथा आदमी के सामाजिक उत्तरदादित्व का अध्ययन किया जाएगा। साथ ही यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि भारती ने महाभारत के युद्धोत्तर प्रसंग को आधुनिक सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने के माध्यम के रूप में किस प्रकार प्रयुक्त किया है।

शोध प्रश्न

1. ‘अंधा युग’ में सामाजिक विघटन किस रूप में अभिव्यक्त हुआ है?
2. सत्ता और नैतिकता के संबंध को नाटक किस प्रकार प्रस्तुत करता है?
3. युद्ध, व्यक्ति और समाज दोनों को किस प्रकार प्रभावित करता है?

---

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, मानविकी एवं भाषा संकाय, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार

4. धृतराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा, युयुत्सु, संजय और कृष्ण जैसे पात्रों के माध्यम से कौन-कौन से सामाजिक प्रश्न उभरते हैं?
5. नाटक में स्त्री की भूमिका और उसकी सामाजिक स्थिति किस प्रकार सामने आती है ?

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध एक गुणात्मक एवं व्याख्यात्मक अध्ययन है। इसमें धर्मवीर भारती के नाटक *'अंधा युग'* को एक सामाजिक पाठ के रूप में विश्लेषित किया गया है। Goldman (1975) की आनुवांशिक संरचनावाद पद्धति के अनुसार साहित्यिक कृति अपने समय की सामाजिक चेतना की संरचनात्मक अभिव्यक्ति होती है। इस आधार पर *'अंधा युग'* का पाठ-विश्लेषण, ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। सैद्धांतिक ढाँचे के रूप में Bourdieu (1986) की सांस्कृतिक पूँजी की अवधारणा का उपयोग किया गया है। अध्ययन पूर्णतः द्वितीयक एवं पाठ्य स्रोतों पर आधारित है। नाटक का मूल पाठ प्राथमिक स्रोत है तथा संबंधित समीक्षात्मक ग्रंथ, शोध-पत्र एवं सैद्धांतिक ग्रंथ द्वितीयक स्रोत हैं।

साहित्य समीक्षा

'अंधा युग' पर विद्वानों ने साहित्यिक, नाट्यशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय तीनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।
नेमिचंद्र जैन (1978) ने *'रंगदर्शन'* में नाटक की काव्यात्मक भाषा को एक सामाजिक-राजनीतिक उपकरण के रूप में विश्लेषित किया। उनके अनुसार, धृतराष्ट्र के एकालाप उस राजनीतिक चेतना के प्रतीक हैं जो अपनी सीमाओं को जानते हुए भी उन्हें स्वीकार करने में असमर्थ है। यद्यपि जैन का दृष्टिकोण मुख्यतः नाट्य-कला का है, तथापि उनकी स्थापनाएँ समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए उर्वर सामग्री उपलब्ध कराती हैं।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1999) ने *'धर्मवीर भारती: व्यक्तित्व और कृतित्व'* में नाटक को स्वतंत्रता-पश्चात् की सामाजिक बेचैनी का दस्तावेज़ माना। उनके अनुसार, 1954 का भारतीय समाज स्वयं एक 'अंधे युग' से गुजर रहा था — विभाजन की त्रासदी, सांप्रदायिक हिंसा एवं राजनीतिक मोहभंग के बीच। उनका ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत शोध के लिए महत्त्वपूर्ण संदर्भ प्रदान करता है।

सुधा सिंह (2007) ने *'हिंदी नाटक और समाज'* में *'अंधा युग'* का समाजशास्त्रीय अध्ययन करते हुए तीन बिंदु रेखांकित किए — परिवार की संस्था का संकट, स्त्री की सामाजिक बाध्यता तथा "सामाजिक मौन" की सहभागिता। गांधारी की पट्टी-बंधी आँखों को उन्होंने स्त्री की सामाजिक विवशता का प्रतीक बताया। यह दृष्टि प्रस्तुत शोध के नारीवादी-समाजशास्त्रीय विश्लेषण का आधार है।

Das (2005) ने *'A History of Indian Literature'* में नाटक की तुलना Camus एवं Brecht की युद्ध-विरोधी रचनाओं से करते हुए यह स्थापित किया कि भारती ने युद्ध को नियति नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक विकल्पों का परिणाम बताया — यह दृष्टि नाटक को सामूहिक जिम्मेदारी का आख्यान बनाती है।

Bharucha (1983) ने नाटक के मंचन-विश्लेषण के माध्यम से यह तर्क दिया कि *'अंधा युग'* एक "सार्वजनिक रंगमंच" (Public Theatre) की भूमिका निभाता है — यह दर्शकों को उन सामाजिक प्रश्नों के सामने खड़ा करता है जिनसे वे दैनिक जीवन में आँखें चुराते हैं।

उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि यद्यपि विद्वानों ने नाटक के महत्त्वपूर्ण आयामों को उजागर किया है, तथापि Bourdieu के सैद्धांतिक उपकरणों का समन्वित उपयोग करते हुए नाटक का समग्र समाजशास्त्रीय विश्लेषण अभी तक नहीं हुआ है। प्रस्तुत शोध इसी अंतराल को भरने का प्रयास करता है।

विश्लेषण :-

अंधापन किस प्रकार व्यक्तिगत कमजोरी से आगे बढ़कर सामूहिक सामाजिक चेतना का प्रतीक बन जाता है? समाजशास्त्रीय दृष्टि में नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इसमें किसी घटना को केवल व्यक्तिगत स्तर पर नहीं देखा गया। धृतराष्ट्र का अंधापन राजनीतिक सत्ता के अंधेपन में बदलता है; दुर्योधन का अहंकार सामाजिक संघर्षों को तीव्र करता है; गांधारी का शोक व्याप्त विनाश का प्रतीक बनता है; अश्वत्थामा का प्रतिशोध युद्ध की हिंसा को आगे बढ़ाता है; युयुत्सु का निर्णय व्यक्ति के नैतिक विवेक की संभावना को बचाए रखता है और संजय की दृष्टि घटनाओं के बीच सत्य को देखने की आवश्यता को रेखांकित करती है। नाटक का अंधा युग इसलिए केवल कुरुक्षेत्र के बाद का समय नहीं है। यह मानसिक और सामाजिक अवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य सत्य को जानते हुए भी उससे मुंह मोड़ता है। जब सत्ता अपने दायित्व से विमुख होती है, परिवार न्याय पर भारी पड़ता है, प्रतिशोध को धर्म का रूप दिया जाता है और समाज हिंसा के प्रति संवेदनशील होने लगता है तब अंधापन

सामूहिक हो जाता है। इसीलिए अंधा युग का समाजशास्त्रीय महत्त्व उसकी कथा में जितना है, उससे कही अधिक उसके द्वारा उठाए गए प्रश्नों में है। भारती का आग्रह अंततः मनुष्य की नैतिक चेतना को बनाए रखना है। विनाश के बाद भी यदि मनुष्य अपने भीतर विवेक, करुणा, और उत्तरदायित्व की संभावना बचा सके, तभी इतिहास की पुनरावृति को रोक जा सकता है। अंधा युग इसी संभावना और संकट के बीच खड़ा हुआ नाटक है।

नाटक की प्रासंगिकता इस बात में भी है कि सामाजिक अंधापन केवल युद्धकालीन स्थिति नहीं है। जब समाज असहमति को दबाता है, सता से प्रश्न करना छोड़ देता है, व्यक्तिगत हित को सामूहिक हित से ऊपर रखता है और प्रतिशोध को न्याय समझने लगता है, तब 'अंधा युग' जैसी स्थिति किसी भी समय पैदा हो सकती है।

सामूहिक जिम्मेदारी का प्रश्न

नाटक केवल कुछ पात्रों को दोषी ठहराकर समाप्त नहीं होता। इसकी गहरी चिंता सामूहिक जिम्मेदारी को लेकर है। युद्ध किसी एक व्यक्ति के कारण नहीं होता। उसके पीछे अनेक निर्णय, राजनीतिक हित, मौन, स्वार्थ और सामाजिक स्वीकृतियां होती हैं। यही कारण है कि 'अंधा युग' का सामाजिक संदेश केवल यह नहीं है कि दुर्योधन गलत था या अश्वथामा ने अपराध किया। प्रश्न इससे बड़ा है- ऐसी परिस्थिति बनी कैसे जिसमें अन्याय लगातार बढ़ता गया और समय रहते सामाजिक प्रतिरोध पर्याप्त नहीं हुआ? यही कारण है कि नाटक में विजय भी उत्सव का कारण नहीं बनती। पांडवों की विजय और कौरवों की पराजय के बावजूद वातावरण में कोई वास्तविक आनंद नहीं है। युद्ध में कोई भी पक्ष पुरी तरह विजयी नहीं हुआ। सामाजिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण संकेत है कि हिसंक संघर्ष में विजेता भी उस सामाजिक विनाश से मुक्त नहीं रहता जो युद्ध पैदा करता है।

सत्ता और नैतिकता का संकट

नाटक की समाजशास्त्रीय संरचना में सत्ता का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। धृतराष्ट्र राजा है, लेकिन उसका 'शासन' उसके व्यक्तिगत कमजोरियों से प्रभावित है। पुत्र मोह के कारण वह दुर्योधन के अन्याय का विरोध नहीं कर पाता। यहां सत्ता का संकट केवल एक व्यक्ति की कमजोरी नहीं है। यह उस राजनीतिक व्यवस्था की समस्या है जिनमें शासक अपने निजी संबंधों व दायित्वों को सार्वजनिक दायित्व से ऊपर रख देता है।

दुर्योधन के चरित्र में सत्ता और अहंकार का गठजोड़ दिखाई देता है। उसके लिए सत्ता केवल शासन करने का माध्यम नहीं, बल्कि अपने अधिकारों की पुष्टि है। परिणामतः राजनीतिक संघर्ष व्यक्तिगत प्रतिरोध में बदला जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह स्थिति बताती है कि जब सत्ता सार्वजनिक दायित्व से विमुख होकर निजी अहंकार की वस्तु बन जाती है, तब सामाजिक संघर्ष तीव्र होता जाता है।

युद्धोत्तर समाज और विघटन की स्थिति

अंधा युग का आरंभ ही एक ऐसे समाज में होता है जो युद्ध की विभीषिका में टूट चुका है। कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हो गया है, लेकिन युद्ध का अंत शांति की शुरुआत नहीं बन पाता। नगर, राजपरिवार, योद्धा और सामान्य जन - सभी किसी न किसी रूप में विनाश के शिकार हैं। युद्ध ने केवल मनुष्यों के शरीर नष्ट नहीं किये, बल्कि सामाजिक संबंधों और नैतिक विश्वासों को भी घायल किया है। इसलिए नाटक में उसका प्रभाव उसके प्रत्यक्ष दृश्य से अधिक उसके बाद उत्पन्न मानसिक और सामाजिक वातावरण में दिखाई देता है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से युद्ध किसी समाज की संस्थाओं और संबंधों की परीक्षा लेता है। जब हिंसा व्याप्त होती है तो परिवार टूटते हैं, राजनीतिक संरचनाएं अस्थिर होती हैं, सामाजिक विश्वास समाप्त होता है और मनुष्य दूसरे मनुष्य को प्रतिद्वंदी के रूप में देखने लगता है। अंधा युग में यही स्थिति दिखाई देती है। युद्ध के बाद बचा हुआ समाज किसी एक नैतिक आधार की खोज करता हुआ प्रतीत होता है, लेकिन उसे वह आधार आसानी से नहीं मिलता। पुराने मूल्य अपनी विश्वसनीयता खो चुके हैं और नए मूल्यों की स्थापना अभी नहीं हुई है।

धर्म नैतिकता और सामाजिक मूल्य

अंधा युग में धर्म का प्रश्न भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यहां धर्म केवल धार्मिक आस्था का विषय नहीं है, बल्कि सामाजिक और नैतिक आचरण का प्रश्न है। युद्ध के दौरान अनेक ऐसे कार्य होते हैं जिन्हें धर्म और अधर्म की पारंपरिक

सीमाओं में आसानी से नहीं रखा जा सकता। कृष्ण का चरित्र इसी जटिलता को सामने लाता है। वे युद्ध की परिस्थितियों और परिणामों के बीच एक केंद्रीय नैतिक उपस्थिति है; लेकिन नाटक उन्हें सरल नैतिक नायक के रूप में प्रस्तुत्त नहीं करता। उनके प्रति गांधारी का आक्रोश बताता है कि महान उद्देश्य और विनाशकारी परिणामों के बीच संबंध सदैव सरल नहीं होते।

यहां नाटक नैतिकता को स्थिर नियमों की सूची में नहीं, बल्कि कठिन सामाजिक परिस्थितों में निर्णय लेने की समस्या के रूप में प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि अंधा युग का नैतिक संसार द्वंदात्मक है। पात्रों के निर्णयों को केवल सही या गलत कह देना उनके सामाजिक संदर्भ को छोटा कर देना होगा।

अश्वत्थामा और प्रतिशोध की सामाजिक मनोवृति

अश्वत्थामा अंधा युग का सबसे जटिल पात्र है। उसके भीतर युद्ध के बाद उत्पन्न प्रतिशोध की आग दिखाई देती है। उसके पिता द्रोण की हत्या और कौरव पक्ष की पराजय ने उसके भीतर गहन आक्रोश पैदा किया है। लेकिन उसका प्रतिशोध धीरे-धीरे न्याय की सीमा पार करके अंधी हिंसा में बदल जाता है। अश्वत्थामा का चरित्र यह बताता है कि हिंसा समाप्त होने के बाद भी हिंसा की मानसिकता समाप्त नहीं होती। युद्ध की सामाजिक विरासत आने वाली पीढ़ियों तक पहुंच सकती है। प्रतिशोध व्यक्ति के भीतर ऐसी मानसिक संरचना पैदा कर देता है जिसमें हिंसा स्वयं उद्देश्य बन जाती है।

रात्रि में सोये हुए शिविर पर आक्रमण इसी अंधे प्रतिशोध का चरम है। यहां युद्ध के नियम और मानवीय मर्यादा दोनों टूट जाते हैं। अश्वत्थामा की कार्यवाही यह प्रश्न उठाती है कि क्या व्यक्तिगत पीड़ा किसी भी हिंसा को उचित बना सकती है। नाटक इसका सरल उत्तर नहीं देता। नाटक पाठक को उस सामाजिक प्रक्रिया पर विचार करने के लिये बाध्य करता है जिसमें पीड़ित व्यक्ति स्वयं हिंसा का वाहक बन जाता है।

परिवार और सामाजिक संरचना

भारतीय सामाजिक जीवन में परिवार को एक मूल सामाजिक संस्था माना जाता है। अंधा युग में परिवार की भूमिका विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कुरुवंश का संकट अंततः पूरे राजनीतिक और सामाजिक संकट में बदल जाता है। धृतराष्ट्र और गांधारी का परिवार निजी संबंधों और राजकीय दायित्व के बीच फंसा हुआ है। धृतराष्ट्र का पुत्र मोह इस बात का उदाहरण है कि पारिवारिक पक्षधरता किस प्रकार सामाजिक न्याय को प्रभावित कर सकती है। एक पिता के रूप में दुर्योधन के प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक हो सकता है, लेकिन राजा के रूप में वही प्रेम उसके लिए समस्या बन जाता है। निजी और सार्वजनिक भूमिकाओं का यह संघर्ष नाटक की सामाजिक संरचना को समझने में विशेष उपयोगी है।

गांधारी का चरित्र भी इसी संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उसने स्वयं आखों पर पट्टी बांधकर पति के अंधेपन को साझा किया था, लेकिन प्रतीकात्मक रूप से यह निर्णय आगे चलकर उस सामाजिक वातावरण को संकेत करता है जहां सत्य को देखने के बजाय उससे आंखे बंद कर लेना अधिक सुविधाजनक समझा जाता है। युद्ध के बाद गांधारी का शोक केवल एक मां का शोक नहीं रह जाता; वह उस समूचि व्यवस्था के विनाश का शोक बन जाता है जिसके भीतर उसका परिवार भी सहभागी था।

स्त्री की सामाजिक स्थिति और गांधारी

अंधा युग में स्त्री की उपस्थिति केवल भावनात्मक पीड़ा तक सीमित नहीं है। गांधारी का चरित्र सत्ता, परिवार, मातृत्व, शोक और प्रतिरोध के अनेक स्तरों को एक साथ सामने लाता है। युद्ध में अपने पुत्रों की मृत्यु के बाद उसकी प्रतिक्रिया निजी पीड़ा से निकलकर व्यापक नैतिक प्रश्न बन जाती है।

गांधारी कृष्ण को शाप देती है। यह प्रसंग सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यहां एक स्त्री उस व्यक्ति के सामने नैतिक प्रतिवाद करती है, जिसे युद्ध की पूरी प्रक्रिया का साक्षी और नियामक माना जाता है। उसका आक्रोश केवल मातृत्व का आक्रोश नहीं है; उसमें युद्ध के परिणामों के प्रति एक व्यापक असंतोष भी व्यक्त होता है। फिर भी गांधारी की स्थिति विरोधाभासी है। वह अन्याय को पहचानती है, लेकिन वह भी उसी सत्ता संरचना का हिस्सा रही है जिसमें दुर्योधन का पक्ष मजबूत हुआ है। उस विरोधाभास के कारण उसका चरित्र अधिक मानवीय और सामाजिक बनता है। वह न तो केवल पीड़ित स्त्री है और न केवल नैतिक प्रतीक। उसके भीतर मातृत्व, आस्था, क्रोध, विवशता और प्रतिशोध सभी साथ उपस्थित हैं।

अंधापन का सामाजिक अर्थ

नाटक के शीर्षक 'अंधा युग' का सबसे महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अर्थ अंधापन है। यहां अंधापन एक व्यक्ति की स्थिति से आगे बढ़कर सामाजिक चेतना की स्थिति बन जाता है। धृतराष्ट्र आखों से अंधा है, लेकिन उसके आसपास ऐसे अनेक पात्र और स्थितियां हैं जिसमें किसी न किसी रूप में नैतिक अथवा सामाजिक अंधापन दिखाई देता है। दुर्योधन अपने अहंकार के कारण वास्तविकता नहीं देख पाता। धृतराष्ट्र पुत्र-मोह के कारण सत्य को स्वीकार नहीं करता। युद्ध में शामिल लोग प्रतिशोध और पक्षधरता के कारण मनुष्य के मूल गरिमा को भूल जाते हैं। अश्वत्थामा अपने पिता की मृत्यु और अपमान के प्रतिशोध में इतना डूब जाता है कि उसके सामने दोषी एवं निर्दोष का भेद ही मिट जाता है।

इस प्रकार 'अंधापन' एक सामूहिक सामाजिक रोग का रूप ले लेता है। समाज तब अंधा हो जाता है जब वह अन्याय के विरुद्ध उसे पहचान कर भी खड़ा नहीं हो पाता, जब सत्ता के सामने सत्य बोलने का साहस समाप्त हो जाता है और जब हिंसा को उचित ठहराने के लिए नैतिक तर्क गढ़े जाने लगते हैं।

संजय और युयुत्सु : विवेक की आवाज

नाटक में संजय और युयुत्सु जैसे पात्र सामूहिक अंधेपन के बीच विवेक की संभावना को बनाए रखते हैं। संजय घटनाओं का साक्षी है। उसकी भूमिका केवल घटनाओं को बताने वाले व्यक्ति की नहीं है; वह युद्ध और विनाश को देखने वाली चेतना का प्रतिनिधि बन जाता है। युयुत्सु का चरित्र भी सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अपने ही परिवार और पक्ष के विरुद्ध जाकर युयुत्सु धर्म और न्याय का साथ देता है। उसका निर्णय यह प्रश्न सामने रखता है कि व्यक्ति की सामाजिक निष्ठा किसके प्रति होनी चाहिए- परिवार के प्रति, सत्ता के प्रति या नैतिक सत्य के प्रति ? युयुत्सु के माध्यम से नाटक यह संकेत करता है कि सामाजिक व्यवस्था के भीतर रहते हुए भी व्यक्ति उसके अन्यायपूर्ण पक्ष का विरोध कर सकता है।

इस अर्थ में युयुत्सु सामूहिक अंधकार के बीच विवेक की छोटी लेकिन महत्त्वपूर्ण घटना है। उसका अकेलापन भी उल्लेखनीय है, क्योंकि सत्य का पक्ष लेने वाला व्यक्ति प्रायः बहुमत के साथ नहीं होता।

व्यक्ति और समाज का संबंध

अंधा युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें व्यक्ति को समाज से अलग करके नहीं देखा गया है। प्रत्येक पात्र अपनी सामाजिक स्थिति, पारिवारिक संबंधों और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित है। धृतराष्ट्र केवल पिता नहीं, राजा भी है। गांधारी केवल मां नहीं, राजपरिवार की सदस्य भी है। अश्वथामा केवल पुत्र नहीं युद्ध की हिंसक संस्कृति का उत्पादक भी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यक्ति और समाज का यह संबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों को बनाता भी है और उनसे प्रभावित भी होता है। दुर्योधन का अहंकार व्यक्तिगत है, लेकिन उसे शक्ति देने वाली राजनीतिक और पारिवारिक संरचनाएं सामाजिक हैं। इस प्रकार अश्वत्थामा का प्रतिशोध निजी है, पर उसकी पृष्ठभूमि युद्ध की सामूहिक हिंसा में है।

इस प्रकार नाटक यह समझने का अवसर देता है कि सामाजिक संकट केवल संस्थाओं के स्तर पर नहीं पैदा होता। वह व्यक्तियों के व्यवहार, उनके निर्णयों और चुप्पियों से भी निर्मित होता है।

आधुनिक संदर्भ और सामाजिक प्रासंगिकता

अंधा युग की सबसे बड़ी शक्ति उसकी आधुनिक प्रासंगिकता में है। भारती ने महाभारत के युद्धोत्तर समय को जिस ऐतिहासिक संदर्भ में लिखा, वह विश्व स्तर पर युद्ध, हिंसा और राजनीतिक अस्थिरता का समय था। द्वितीय विश्वयुद्ध की बाद की दुनिया में मनुष्य ने विज्ञान और तकनीकी प्रगति के साथ विनाश की अभूतपूर्व क्षमता भी प्राप्त की थी। ऐसे समय में युद्ध के बाद बची हुई मनुष्यता का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। यह प्रश्न आज भी सामाजिक अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण है।

किसी भी व्यवस्था में केवल सत्ता के निर्णय ही नहीं, बल्कि समाज की प्रतिक्रियाएं भी उसके स्वरूप को प्रभावित करती हैं। अन्याय के सामने मौन रहना भी कई बार अन्याय की सामाजिक शक्ति बढ़ाता है। अंधा युग इसी मौन की नैतिक किमत को रेखांकित करता है।

महाभारत की कथा का आधुनिक सामाजिक उपयोग

अंधा युग की कथा महाभारत में आती है, लेकिन भारती का उद्देश्य महाभारत की घटनाओं का पुनः वर्णन करना नहीं है। भारती महाभारत के पात्रों एवं घटनाओं को आधुनिक सामाजिक प्रश्नों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। महाभारत का युद्ध भारतीय संस्कृति स्मृति में गहरे पैठा हुआ आख्यान है। पाठक पात्रों एवं घटनाओं से पहले से परिचित हैं। भारती इसी परिचित सांस्कृतिक स्मृति को नए अर्थों में प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्ष

धर्मवीर भारती का अंधा युग मूलतः मनुष्य और समाज के उस संकट का नाटक है जिसमें युद्ध समाप्त होने के बाद भी हिंसा, प्रतिशोध, सत्ता, संघर्ष और नैतिक अंधापन समाप्त नहीं होते। महाभारत के युद्धोत्तर प्रसंगों को आधार बनाकर भारती ने सामाजिक विघटन, राजनीतिक सत्ता, पारिवारिक पक्षधरता, नैतिक मूल्य संकट, स्त्री की पीड़ा, सामूहिक जिम्मेदारी और व्यक्ति के विवेक जैसे प्रश्नों को एकसाथ उपस्थित किया है, जिसकी अनुपस्थिति में समाज स्वयं को बार-बार विनाश की ओर ले जाता है।

संदर्भ :-

ओझा, दशरथ. (2017). *हिंदी नाटक : उद्भव और विकास*. राजपाल एंड सन्स.

जैन, नेमिचंद्र. (1978). *रंगदर्शन*. नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा.

तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद. (1999). *धर्मवीर भारती: व्यक्तित्व और कृतित्व*. लोकभारती प्रकाशन.

द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (2024). *साहित्य-सहचर* (चौथा संस्करण). लोकभारती प्रकाशन.

नगेन्द्र. (1982). *साहित्य का समाजशास्त्र*. नेशनल पब्लिशिंग हाउस.

प्रसाद, जयशंकर. (2015). *ध्रुवस्वामिनी*. लोकभारती प्रकाशन.

भारती, धर्मवीर. (2006). *मानव मूल्य और साहित्य*. भारतीय ज्ञानपीठ.

भारती, धर्मवीर. (2008). *अंधा युग*. किताब महल.

वेदव्यास. (2020). *महाभारत*. गीता प्रेस.

शर्मा, रामविलास. (2009). *साहित्य और समाज*. राजकमल प्रकाशन.

सिंह, नामवर. (1999). *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*. लोकभारती प्रकाशन.

सिंह, नामवर. (2014). *इतिहास और आलोचना*. राजकमल प्रकाशन.

सिंह, बच्चन. (2015). *आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास*. लोकभारती प्रकाशन.

सिंह, सुधा. (2007). *हिंदी नाटक और समाज*. वाणी प्रकाशन.

Bharucha, R. (1983). *Theatre and the world: Performance and the politics of culture*. Manohar Publications.

Bourdieu, P. (1986). The forms of capital. In J. G. Richardson (Ed.), *Handbook of theory and research for the sociology of education* (pp. 241–258). Greenwood Press.

Das, S. K. (2005). *A history of Indian literature, 1911–1956* (Vol. 5). Sahitya Akademi.

Goldman, L. (1975). *Towards a sociology of the novel* (A. Sheridan, Trans.). Tavistock Publications.

Received: 20.06.2026 | Accepted: 10.07.2026 | Published: 30.08.2026

ग्रामीण विकास योजनाओं और रोजगार सृजन का आर्थिक प्रभाव: मिर्ज़ापुर जिले के विशेष संदर्भ में एक मूल्यांकन

डॉ. अमरेश मिश्र*
amareshmishra699@gmail.com

सारांश

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ की बहुसंख्यक आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और आजीविका के लिए मुख्य रूप से कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर निर्भर है। राष्ट्र के संतुलित और समावेशी विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रों का आर्थिक सशक्तिकरण अत्यंत आवश्यक है। प्रस्तुत शोध आलेख का मुख्य उद्देश्य उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक रूप से महत्वपूर्ण मिर्ज़ापुर जिले के विशेष संदर्भ में संचालित विभिन्न ग्रामीण विकास योजनाओं (जैसे- मनरेगा, संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना, और अन्य रोजगारोन्मुखी कार्यक्रम) का रोजगार सृजन एवं ग्रामीण आर्थिक प्रभाव पर एक आलोचनात्मक मूल्यांकन करना है।

इस अध्ययन को मूर्त रूप देने के लिए विवरणात्मक, अन्वेषणत्मक और प्रायोगिक शोध पद्धतियों का उपयोग किया गया है, जिसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के आंकड़ों का समावेशन है। क्षेत्र के व्यापक मूल्यांकन हेतु मिर्ज़ापुर जिले के 4 तहसीलों और 12 विकास खंडों के अंतर्गत लॉटरी निदर्शन प्रणाली के माध्यम से 60 आदर्श गांवों का चयन किया गया तथा कुल 300 लाभार्थियों से साक्षात्कार अनुसूची के आधार पर प्राथमिक आंकड़े संकलित किए गए।

अध्ययन के प्रमुख निष्कर्षों से यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण विकास योजनाओं ने मिर्ज़ापुर के ग्रामीण अंचलों में रोजगार के अवसरों को बढ़ाने, श्रमिकों की मजदूरी के स्तर में सुधार करने और उनकी मोलभाव की शक्ति को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन योजनाओं के क्रियान्वयन से ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन, पलायन में कमी, और गरीब परिवारों के जीवन स्तर में सकारात्मक सुधार दर्ज किया गया है। साथ ही, यह शोध त्रि-स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं और प्रशासनिक समन्वय की महत्ता को रेखांकित करता है ताकि भविष्य में ग्रामीण विकास योजनाओं को और अधिक प्रभावी ढंग से धरातल पर उतारा जा सके।

मुख्य शब्द:

ग्रामीण विकास योजनाएं, रोजगार सृजन, आर्थिक प्रभाव, मिर्ज़ापुर जिला, पंचायती राज, जीवन स्तर।

प्रस्तावना

हमारा राष्ट्र गांवों का एक विशाल पुंज है, और जैसा कि कहा जाता है कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार, देश की विशाल ग्रामीण जनसंख्या लगभग 68.84 प्रतिशत है, जहाँ पर्यावरण और भौगोलिक स्थितियों ने मिलकर ग्रामीण समाज और संस्कृति का विकास किया है। इन ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश लोग खेतिहर मजदूर, भूमिहीन और बहुत छोटी जोतों वाले लघु कृषक हैं, जिनकी आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यंत दयनीय हैं। भूमि पर जनसंख्या का भारी दबाव होने और स्थानीय संसाधनों के अपूर्ण विकास के कारण उत्पादन का स्तर कम है तथा रोजगार का गहरा अभाव बना हुआ है। महात्मा गांधी के ग्रामीण जनता के उत्थान हेतु सर्वांगीण विकास के विचार को हमेशा ग्रामीण विकास के केंद्र में रखा गया है।

---

* **सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, डॉ० सी० वी० रमन विश्वविद्यालय, वैशाली, बिहार**

स्वतंत्रता के बाद से ही देश के आर्थिक विकास के लिए शासन तंत्र ने ग्रामीण विकास पर विशेष ध्यान दिया है। प्रारंभिक दौर में सामुदायिक विकास योजनाओं (जैसे 7 मई 1952 को पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा समर्थित सामुदायिक विकास कार्यक्रम) के माध्यम से ग्रामीण विकास के लिए बुनियादी ढांचे का निर्माण करने की ओर ध्यान दिया गया। फिर क्रमशः रोजगार के अवसर बढ़ाने और सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से निम्न स्तर के व्यक्तियों को योजनाओं के क्रियान्वयन में सहभागिता बढ़ाने के लिए त्रि-स्तरीय पंचायती राज के ढांचे को सुदृढ़ करने पर बल दिया गया। भारत के आर्थिक विकास के लिए गांव को न केवल प्रथम इकाई माना गया अपितु सबसे महत्वपूर्ण इकाई भी माना गया। इसी पृष्ठभूमि से प्रेरित होकर "मिर्ज़ापुर जिले के आर्थिक विकास में ग्रामीण विकास योजनाओं का योगदान - एक मूल्यांकन" शोध शीर्षक की रूपरेखा तैयार की गई है।

उत्तर प्रदेश के दक्षिण-पूर्व भाग में स्थित मिर्ज़ापुर जिला अपनी प्राकृतिक खनिज संपदा, पर्यावरण और भौगोलिक विविधताओं से परिपूर्ण एक प्रमुख क्षेत्र है। विंध्य पर्वत श्रृंखलाओं की उपस्थिति के कारण यहाँ की ग्रामीण संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज, सभ्यता और रहन-सहन में एक अनूठी विविधता देखने को मिलती है। गंगा नदी का मैदानी भाग इस जिले का सबसे उपजाऊ, अत्यधिक घना आबाद और समतल हिस्सा है, जो कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, जबकि इसके विपरीत लगभग 65 किलोमीटर के क्षेत्र में फैला विंध्य पठारी (टेबल लैंड) और पहाड़ी भूभाग अपनी प्राकृतिक विशेषताओं को समेटे हुए है। मिर्ज़ापुर में कृषि पर अत्यधिक निर्भरता, भूमिहीनता और ग्रामीण बेरोजगारी जैसी समस्याएं भी विद्यमान हैं, जिनके समाधान के लिए केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर विभिन्न ग्रामीण विकास और रोजगारोन्मुखी योजनाएं (जैसे मनरेगा, संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना आदि) संचालित की गई हैं। वर्तमान अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यही पता लगाना है कि सरकार द्वारा मिर्ज़ापुर जिले में संचालित विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रमों और योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण जनता के जीवन स्तर में किस हद तक सुधार हुआ है, वे इन योजनाओं का वास्तविक स्वरूप में लाभ प्राप्त कर पा रहे हैं या नहीं, तथा पंचायती राज संस्थाएं इन्हें सफल बनाने में कहाँ तक सफल रही हैं। यह शोध न केवल नीति निर्माताओं और प्रशासनिक अधिकारियों के लिए योजनाओं के क्रियान्वयन में सुधार लाने में सहायक होगा, बल्कि देश के आर्थिक और ग्रामीण विकास के अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए भी मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

शोध की रूपरेखा और अनुसंधान पद्धति

किसी भी वैज्ञानिक और अकादमिक अनुसंधान की सफलता उसकी सुव्यवस्थित शोध पद्धति और अनुसंधान रूपरेखा पर निर्भर करती है। प्रस्तुत शोध आलेख "मिर्ज़ापुर जिले के आर्थिक विकास में ग्रामीण विकास योजनाओं का योगदान - एक मूल्यांकन" के अंतर्गत मिर्ज़ापुर जिले के ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक विकास, शिक्षा का प्रसार, पेयजल, स्वास्थ्य, सड़क निर्माण, रोजगार के अवसरों में वृद्धि तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक बदलावों का गहन मूल्यांकन किया गया है। इस अध्ययन की वास्तविक, तार्किक और प्रामाणिक सत्यता को जाँचने के लिए गवेषणात्म, प्रायोगिक और विवरणात्मक विधियों का समन्वित उपयोग किया गया है। शोध का क्षेत्र: प्रस्तुत शोध का संपूर्ण कार्यक्षेत्र उत्तर प्रदेश का प्रमुख ऐतिहासिक और भौगोलिक जिला मिर्ज़ापुर है। मिर्ज़ापुर जिले के विस्तृत भौगोलिक स्वरूप, जिसमें इसकी तहसीलें और प्रमुख 12 विकास खंड (यथा- राजगढ़, हलिया, कोन, नारायणपुर, पटेहरा कला, मझवां आदि) शामिल हैं, को अध्ययन का केंद्र बनाया गया है। इन क्षेत्रों में न्याय पंचायतों और ग्रामीण इकाइयों के अंतर्गत संचालित होने वाली विभिन्न ग्रामीण विकास योजनाओं के धरातलीय स्वरूप का अध्ययन किया गया है।

न्यादर्श प्रणाली और निदर्शन आकार:

शोध को अधिक सटीक और विश्वसनीय बनाने के लिए बहु-स्तरीय निदर्शन विधियों का प्रयोग किया गया है। मिर्ज़ापुर जिले की 4 तहसीलों और 12 विकास खंडों को निदर्शन के निर्धारण हेतु आधार बनाया गया। सभी विकास खंडों से लॉटरी प्रणाली के आधार पर 5-5 आदर्श गांवों का निष्पक्ष चयन किया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण जिले के समग्र स्वरूप में से कुल 12×5=60 आदर्श न्यायदर्श गांवों का चयन किया गया। इसके पश्चात, प्रत्येक चयनित गाँव से 5-5 वास्तविक लाभार्थियों का चयन कर कुल 300 उत्तरदाताओं का साक्षात्कार लिया गया। यह 300 उत्तरदाताओं का न्यादर्श आकार प्राथमिक आँकड़ों के संकलन का मुख्य आधार रहा है।

आँकड़ों का संकलन:

अध्ययन को पुख्ता आधार देने के लिए प्राथमिक और द्वितीय दोनों प्रकार के आँकड़ों का उपयोग किया गया है।

- **प्राथमिक आँकड़े:** चयनित 60 गांवों के 300 लाभार्थियों से संरचित साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से प्रत्यक्ष संपर्क कर प्राथमिक सूचनाएँ जुटाई गई। इसमें ग्रामीण विकास योजनाओं की जानकारी, योजनाओं से मिलने वाले लाभ, कार्यपद्धति और जीवन स्तर में आए बदलावों के 'हाँ' या 'ना' जैसे उत्तरों को सूचीबद्ध किया गया।
- **द्वितीयक आँकड़े**: विभिन्न प्रकाशित पुस्तकों, शोध रिपोर्ट्स, सरकारी दस्तावेजों, पत्र-पत्रिकाओं और पीडीएफ प्रारूप में उपलब्ध विषय-संबंधित साहित्यों व पूर्ववर्ती शोधों का गहन सिंहावलोकन किया गया है। सांख्यिकीय एवं विश्लेषणात्मक तकनीक: साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से संकलित प्राथमिक आँकड़ों को वर्गीकरण और सारणीबद्ध किया गया। इसके बाद डेटा के तार्किक विश्लेषण हेतु दण्ड एवं बिन्दु आरेख चित्रों का प्रयोग किया गया है। उपकल्पनाओं की सत्यता की जाँच करने तथा निष्कर्षों के वास्तविक मूल्यांकन हेतु काइ-स्क्वायर और टी-परीक्षण जैसी सांख्यिकीय तकनीकों का उपयोग करते हुए शोध के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

ग्रामीण विकास योजनाएं और रोजगार सृजन: सैद्धांतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में ग्रामीण विकास और रोजगार सृजन का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भारत की एक विशाल आबादी गांवों में निवास करती है, जहाँ आजीविका का मुख्य साधन कृषि और उससे जुड़े कार्य हैं। परंतु भूमि पर भारी दबाव, छोटी जोतें और स्थानीय संसाधनों के अपूर्ण विकास के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादकता का स्तर कम और बेरोजगारी का गहरा संकट हमेशा से बना रहा है। इस चुनौती से निपटने के लिए स्वतंत्रता के पश्चात से ही शासन तंत्र द्वारा ग्रामीण विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है।

ग्रामीण विकास योजनाओं का विकास क्रम आरंभिक दौर में सामुदायिक विकास योजनाओं (जैसे 1952 में प्रारंभ कार्यक्रमों) के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी ढांचे के निर्माण पर जोर दिया गया। इसके पश्चात चरणबद्ध तरीके से रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने, और सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग के लोगों की योजनाओं के क्रियान्वयन में सहभागिता बढ़ाने के लिए पंचायती राज के ढांचे को मजबूत करने पर बल दिया गया। विशेष रूप से पाँचवीं पंचवर्षीय योजना से लेकर छठी पंचवर्षीय योजना और उसके बाद के आधुनिक प्रशासनिक दौर में केंद्र सरकार द्वारा ग्रामीण गरीबी और बेरोजगारी के निवारण हेतु कई व्यापक और लक्षित कार्यक्रमों की शुरुआत की गई। सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा और समावेशी विकास एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े हैं कि इनसे संबंधित कार्यक्रमों को अलग-अलग ठोस वर्गों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

रोजगार गारंटी योजनाएं: ऐतिहासिक पड़ाव

ग्रामीण क्षेत्रों से निर्धनता और बेरोजगारी के उन्मूलन की दिशा में सरकार ने समय-समय पर विभिन्न योजनाएं चलाई हैं: छठी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत 2 अक्टूबर 1980 से ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार और स्वरोजगार उपलब्ध कराने की दिशा में बड़े पैमाने पर प्रयास शुरू किए गए, जिनमें छोटे कृषक विकास एजेंसी, मरुस्थल विकास कार्यक्रम और सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम जैसी योजनाओं को समाहित किया गया। अप्रैल 1989 और फरवरी 1989 के अनुभवों के आधार पर ग्रामीण बुनियादी ढांचे और स्थायी परिसंपत्तियों के विकास हेतु जवाहर रोजगार योजना शुरू की गई, जिसका उद्देश्य ग्रामीण गरीबों के लिए निरंतर रोजगार के अवसर बढ़ाना था। इसके बाद ग्रामीण क्षेत्रों में अतिरिक्त रोजगार और खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के उद्देश्य से जवाहर ग्राम समृद्धि योजना और एम्प्लॉयमेंट एश्योरेंस स्कीम का विलय करके 25 सितंबर 2001 को 'संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना' की शुरुआत की गई। इस योजना के तहत पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से श्रम आधारित रोजगार और खाद्य सामग्री व नकदी के अनुपात (75:25) के आधार पर कार्य संचालित किए गए। अंततः, इन सभी रोजगार कार्यक्रमों के अनुभवों को समेटते हुए 2 फरवरी 2006 को राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (नरेगा) लागू किया गया, जिसका नाम 2 अक्टूबर 2009 को बदलकर 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम' (मनरेगा) कर दिया गया। संसद द्वारा अधिनियमित यह पहली ऐसी कानूनी योजना है जिसने ग्रामीण क्षेत्र के लोगों को रोजगार की कानूनी गारंटी प्रदान की।

मनरेगा का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर मनरेगा और अन्य रोजगार योजनाओं का दूरगामी एवं सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। वर्ष में 100 दिन के रोजगार और न्यूनतम मजदूरी की गारंटी: यह योजना ग्रामीण परिवारों को एक वित्तीय वर्ष में कम से कम 100 दिन के वैतनिक रोजगार की निश्चित गारंटी प्रदान करती है, जिससे ग्रामीण अंचलों में मजदूरी का एक न्यूनतम स्तर तय हुआ है। मनरेगा ने ग्रामीण क्षेत्रों के भूमिहीन और गरीब श्रमिकों को उनके नियोक्ताओं के मुकाबले अपनी मजदूरी को लेकर मोलभाव करने की शक्ति प्रदान की है, जिससे ग्रामीण मजदूरी के स्तर में उल्लेखनीय बढ़ोतरी हुई है। स्थानीय स्तर पर रोजगार उपलब्ध होने से बड़े शहरों की ओर होने वाले ग्रामीण पलायन पर रोक लगी है। साथ ही, इस योजना में महिलाओं के लिए समान भागीदारी और अवसरों का प्रावधान होने के कारण ग्रामीण महिलाओं की आर्थिक सहभागिता बढ़ी है और उनके जीवन स्तर में सुधार दर्ज किया गया है।

मिर्ज़ापुर जिले में ग्रामीण विकास योजनाओं का आर्थिक विश्लेषण एवं प्रभाव

मिर्ज़ापुर जिले के ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक और सामाजिक विकास में विभिन्न ग्रामीण विकास योजनाओं के क्रियान्वयन का क्या प्रभाव रहा है, इसका मूल्यांकन प्राथमिक एवं द्वितीयक आँकड़ों के विश्लेषण के माध्यम से स्पष्ट होता है। अध्ययन क्षेत्र के अंतर्गत चयनित 12 विकास खंडों (यथा- राजगढ़, हलिया, कोन, नारायणपुर, पटेहरा कला, मझवां आदि) और 60 आदर्श गाँवों से प्राप्त 300 उत्तरदाताओं के साक्षात्कार पर आधारित विश्लेषण निम्नलिखित प्रमुख पहलुओं को उजागर करता है:

(क) मिर्ज़ापुर के ग्रामीण अंचलों में रोजगार के अवसरों में वृद्धि का आकलन

मिर्ज़ापुर जिले के ग्रामीण इलाकों में, विशेषकर कृषि के अलावा अन्य मौसमों में जब किसानों और भूमिहीन मजदूरों के पास कार्य नहीं होता, तब ग्रामीण विकास योजनाओं (जैसे मनरेगा) ने एक संबल का कार्य किया है। अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है कि इन योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों के प्रशिक्षित और अप्रशिक्षित बेरोजगार युवाओं तथा श्रमिकों को वर्ष के निश्चित दिनों का रोजगार प्राप्त हुआ है। मजदूरी की राशि सीधे श्रमिकों के बैंक खातों में भेजे जाने से पारदर्शिता बढ़ी है। इसके कारण ग्रामीण अंचलों के लोगों के जीवन-यापन के प्रति दृष्टिकोण में सकारात्मक बदलाव आया है और वे अपने परिवारों का भरण-पोषण बेहतर ढंग से करने में सक्षम हुए हैं।

(ख) योजनाओं के माध्यम से आय में वृद्धि, पोषण और स्वास्थ्य स्तर में सुधार

ग्रामीण विकास योजनाओं और रोजगार गारंटी कार्यक्रमों के कारण मिर्ज़ापुर के ग्रामीण परिवारों की आय में उल्लेखनीय वृद्धि दर्ज की गई है। जब गरीब परिवारों के पास क्रय शक्ति बढ़ती है, तो वे अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं को क्रय करने में समर्थ होते हैं। आय के स्रोत सुनिश्चित होने से ग्रामीण परिवारों के खान-पान, पोषण स्तर और स्वास्थ्य देखभाल में सुधार हुआ है। विशेष रूप से बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य पर होने वाले व्यय में सकारात्मक प्रवृत्ति देखी गई है, जो समावेशी विकास की बानगी प्रस्तुत करती है।

(ग) अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्गों को योजनाओं का लाभ

मिर्ज़ापुर जिले की सामाजिक संरचना में विभिन्न वर्गों की स्थिति का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण विकास योजनाओं का सबसे अधिक लाभ समाज के कमजोर वर्गों, जैसे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्गों को मिला है। इन वर्गों के भूमिहीन मजदूरों और गरीब परिवारों को मजदूरी तथा रोजगार के समान अवसर प्रदान करने में योजनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके अतिरिक्त, महिलाओं के लिए आजीविका के अवसरों और विशेष प्रावधानों के कारण उनकी आर्थिक सहभागिता में भी वृद्धि हुई है।

(घ) ग्रामीण अवस्थापना विकास (सड़क, तालाब, पेयजल, आवास और शौचालय निर्माण) की स्थिति

मिर्ज़ापुर जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में भौतिक और सामाजिक बुनियादी ढाँचों के निर्माण में इन योजनाओं ने व्यापक योगदान दिया है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित कार्य प्रमुख रहे हैं: ग्रामीण अंचलों में सड़क निर्माण, संपर्क मार्गों का विकास और तालाबों एवं कुओं के जीर्णोद्धार का कार्य किया गया है। पेयजल की व्यवस्था और ग्रामीण स्वच्छता को बढ़ावा देने के लिए प्रत्येक परिवार के लिए शौचालय निर्माण जैसी पहलों को गति दी गई है। गरीब परिवारों और बीपीएल कार्डधारकों को आवास

सुविधा तथा उज्ज्वला योजना के तहत गैस सिलेंडर व चूल्हा जैसी बुनियादी राहतें मिलने से ग्रामीण जीवन शैली में सुधार हुआ है।

पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका: त्रि-स्तरीय पंचायत प्रणाली और योजनाओं के क्रियान्वयन में ग्राम प्रधानों की सक्रियता और जवाबदेही

भारत जैसे विशाल लोकतांत्रिक देश में शासन और प्रशासन को आम जनता तक पहुँचाने में ग्राम पंचायतें सबसे महत्वपूर्ण इकाई हैं। मिर्ज़ापुर जिले में त्रि-स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था (ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत) के माध्यम से ग्रामीण विकास योजनाओं का संचालन किया जाता है। 73वें संविधान संशोधन के पश्चात पंचायतों को वैधानिक दर्जा मिलने से स्थानीय स्तर पर विकास कार्यों की रूपरेखा तय करने में मदद मिली है। हालांकि, डेटा विश्लेषण यह भी दर्शाता है कि योजनाओं की वास्तविक सफलता काफी हद तक ग्राम प्रधानों (सरपंचों) की ईमानदारी, कर्मठता और निष्पक्षता पर निर्भर करती है। ग्राम पंचायतों की बैठकों में ग्रामीण जनता की उपस्थिति और सक्रिय भागीदारी को सुनिश्चित करने तथा प्रशासनिक समन्वय को बेहतर बनाने की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है ताकि योजनाओं का शत-प्रतिशत लाभ धरातल पर उतर सके।

अध्ययन की प्रमुख समस्याएं और चुनौतियाँ

मिर्ज़ापुर जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक विकास और ग्रामीण विकास योजनाओं के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन कार्यक्रमों ने जहाँ एक ओर ग्रामीण जीवन स्तर को ऊपर उठाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, वहीं दूसरी ओर धरातल पर इनके क्रियान्वयन के दौरान कई प्रकार की व्यावहारिक समस्याओं और प्रशासनिक चुनौतियों का भी सामना करना पड़ता है। शोध के दौरान उभर कर सामने आई प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं: -

i. **ग्राम पंचायतों की बैठकों में ग्रामीण जनता की न्यूनतम उपस्थिति और पारदर्शिता का अभाव:** प्रायः यह देखा जाता है कि ग्रामीण विकास योजनाओं से संबंधित ग्राम पंचायतों की बैठकों में आम ग्रामीणों की संख्या न के बराबर होती है। सरपंचों या प्रधानों द्वारा बैठकें आयोजित करने में पूरी ईमानदारी और पारदर्शिता न बरते जाने के कारण योजनाओं की वास्तविक जानकारी जनता तक नहीं पहुँच पाती है।

ii. **योजनाओं के क्रियान्वयन में प्रशासनिक और तकनीकी कमियां:** ग्रामीण स्तर पर संचालित होने वाली विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों के सुचारू संचालन में तकनीकी बाधाओं तथा प्रशासनिक समन्वय की कमी एक बड़ी चुनौती है। ग्रामीण समस्याओं के समाधान से जुड़े विभागों (जैसे राजस्व, लेखपाल, तहसीलदार और नहर विभाग आदि) के अधिकारियों की बैठकों में नियमित उपस्थिति और सक्रियता का अभाव देखा गया है।

iii. **बिचौलियों या धन्नाड्य वर्ग द्वारा योजनाओं के दोहन की समस्या:** बाजार व्यवस्था और पूंजीवादी दृष्टिकोण के प्रभाव के कारण कई बार योजनाओं का वास्तविक लाभ अंतिम पायदान पर खड़े सबसे कमजोर व्यक्ति तक पहुँचने में कठिनाई आती है। बिचौलियों या प्रभावशाली वर्गों द्वारा संसाधनों के अप्रत्यक्ष दोहन की प्रवृत्ति के कारण गरीब श्रमिकों और भूमिहीनों के अधिकारों का हनन होने की संभावना बनी रहती है।

iv. **धन के आवंटन और त्रि-स्तरीय अंगों में शक्तियों के स्पष्ट विभाजन की चुनौती:** ग्रामीण विकास योजनाओं के सुचारू संचालन के लिए जिस प्रकार केंद्र और राज्य स्तर पर शासन के कार्य स्पष्ट रूप से विभाजित होते हैं, उसी प्रकार त्रि-स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं (ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत और जिला पंचायत) के मध्य वित्तीय शक्तियों और दायित्वों का स्पष्ट विभाजन व समन्वय आवश्यक है। इसके अभाव में योजनाओं के वित्तीय प्रबंधन और भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

निष्कर्ष

अध्याय के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मिर्ज़ापुर जिले में ग्रामीण विकास योजनाओं ने गरीबों के जीवन स्तर को ऊपर उठाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यद्यपि इसके क्रियान्वयन में कुछ प्रशासनिक और व्यावहारिक चुनौतियाँ विद्यमान हैं, फिर भी यह योजनाएं ग्रामीण अर्थव्यवस्था के लिए वरदान सिद्ध हुई हैं। इन योजनाओं के माध्यम से न केवल ग्रामीण अंचलों में रोजगार के अवसर बढ़े हैं, बल्कि भूमिहीन श्रमिकों की सौदेबाजी की क्षमता में भी वृद्धि हुई है।

सुझाव

शोध के विश्लेषण और निष्कर्षों के आधार पर ग्रामीण विकास योजनाओं को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित व्यावहारिक सुझाव दिए जाते हैं:

गैर-सरकारी संगठन की भूमिका: ग्रामीण विकास विषयों, सरकारी योजनाओं और उनके प्रावधानों से आम जनता को परिचित कराने के लिए गैर-सरकारी संगठनों की मदद से घर-घर जाकर जागरूकता अभियान चलाया जाना चाहिए।

ग्राम पंचायतों की सक्रियता: ग्राम पंचायतों की बैठकों में सरपंचों और प्रधानों द्वारा पूरी ईमानदारी और पारदर्शिता बरती जानी चाहिए, तथा बैठक का कोरम पूरा करने और जनसहभागिता बढ़ाने के लिए कड़े प्रशासनिक कदम उठाए जाने चाहिए।

प्रशासनिक समन्वय: ग्रामीण विकास से जुड़ी बैठकों में लेखपाल, तहसीलदार और नहर विभाग जैसे प्रमुख विभागों के अधिकारियों की उपस्थिति अनिवार्य की जानी चाहिए ताकि ग्रामीण अंचलों की समस्याओं का त्वरित और प्रभावी समाधान हो सके।

संदर्भ :-

1. भारत सरकार (1992). संविधान (तिहत्तरवां संशोधन) अधिनियम, 1992, पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित विधिक दस्तावेज, नई दिल्ली: शासकीय प्रकाशन.
2. भारत सरकार (2005). महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा), 2005, ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली.
3. सिंह, आर. पी. (2018). भारत में ग्रामीण विकास: नीतियां, चुनौतियां और प्रभाव, नई दिल्ली: आलेख प्रकाशन.
4. प्रसाद, डॉ. रामेश्वर (2020). पंचायती राज और ग्रामीण भारत, पटना: विद्या प्रकाशन.
5. कुमार, अनिल (2019). उत्तर प्रदेश का आर्थिक भूगोल और क्षेत्रीय विकास, लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान.
6. शर्मा, डॉ. गीता (2021). "ग्रामीण रोजगार सृजन और आजीविका सुरक्षा: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन", आर्थिक एवं सामाजिक शोध पत्रिका, खंड 45, अंक 2, पृ. 112-128.
7. मिश्र, एस. के. एवं पुरी, वी. के. (2022). भारतीय अर्थव्यवस्था (ग्रामीण विकास विशेष संदर्भ), नई दिल्ली: हिमालय पब्लिशिंग हाउस.
8. राजकीय सांख्यिकी संस्थान (2021). मिर्ज़ापुर जिला सांख्यिकी पुस्तिका, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ.
9. सेहत, मनोज कुमार (2017). "मनरेगा और ग्रामीण भारत की बदलती तस्वीर", शोध समीक्षा पत्रिका, खंड 12, अंक 3, पृ. 45-52.
10. योजना आयोग, भारत सरकार (2012). बारहवीं पंचवर्षीय योजना (ग्रामीण विकास एवं कृषि), नई दिल्ली: प्लानिंग कमीशन.
11. गंगोय, बी. एन. (2016). ग्रामीण समाजशास्त्र और भारतीय संदर्भ, वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
12. तिवारी, आलोक (2020). "उत्तर प्रदेश के विंध्य क्षेत्र में कृषि एवं ग्रामीण विकास की दशाएं", जर्नल ऑफ रूरल स्टडीज, खंड 8, अंक 1, पृ. 33-44.
13. विश्व बैंक (2020). भारत में सामाजिक सुरक्षा और ग्रामीण विकास के आयाम, नई दिल्ली: विश्व बैंक रिपोर्ट.
14. वर्मा, सुनीता (2018). पंचायती राज संस्थाएं और ग्रामीण महिलाओं की सहभागिता, जयपुर: रावत पब्लिकेशंस.
15. राष्ट्रीय ग्रामीण विकास और पंचायती राज संस्थान (NIRDPR) (2021). ग्रामीण विकास योजनाओं का प्रभाव मूल्यांकन प्रतिवेदन (उत्तर प्रदेश), हैदराबाद: NIRDPR प्रकाशन.

Received: 21.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याणकारी योजनाओं की सूचना तक पहुँच और डिजिटल विभाजन की स्थिति: एक अन्वेषनात्मक अध्ययन

डॉ. कमलेश मिश्र*

kamleshmishra079@gmail.com

सारांश

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में ग्रामीण विकास और सामाजिक कल्याण की सफलता काफी हद तक शासन की योजनाओं के जमीनी स्तर तक प्रभावी संप्रेषण पर निर्भर करती है। प्रस्तुत शोध आलेख "वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याणकारी योजनाओं की सूचना तक पहुँच और डिजिटल विभाजन की स्थिति: एक अन्वेषनात्मक अध्ययन" का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण नागरिकों तक सरकारी योजनाओं की जानकारी पहुँचाने में पारंपरिक और आधुनिक संचार माध्यमों की भूमिका का मूल्यांकन करना तथा उनके बीच मौजूद डिजिटल असमानता का सामाजिक-वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में आकलन करना है। यह अध्ययन अन्वेषनात्मक शोध प्रविधि पर आधारित है, जिसमें उत्तर प्रदेश के वाराणसी जनपद के चुनिंदा ग्रामीण विकास ब्लॉकों से प्राथमिक (साक्षात्कार, संरचित प्रश्नावली और क्षेत्र-अवलोकन) एवं द्वितीयक आंकड़ों का संकलन एवं विश्लेषण किया गया है। शोध के निष्कर्षों से यह संकेत मिलता है कि यद्यपि भूमंडलीकरण और तकनीकी विस्तार के परिणामस्वरूप डिजिटल मीडिया (स्मार्टफोन, सोशल मीडिया और सरकारी पोर्टल) का प्रसार तेजी से हुआ है, फिर भी पारंपरिक माध्यम (टेलीविजन, रेडियो) अभी भी एक बड़े ग्रामीण वर्ग के लिए सूचना के प्रमुख और अधिक विश्वसनीय स्रोत बने हुए हैं। इसके अतिरिक्त, लिंग, आयु, जाति और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के आधार पर सूचना तक पहुँच में स्पष्ट 'डिजिटल विभाजन' देखा गया है, जिसके परिणामस्वरूप समाज के हाशिए पर मौजूद कई पात्र व्यक्ति समय पर सूचना के अभाव में विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं (जैसे मनरेगा, प्रधानमंत्री आवास योजना, और किसान सम्मान निधि) के लाभ से वंचित रह जाते हैं। अंततः, यह आलेख ग्रामीण स्तर पर सूचना तंत्र को अधिक समावेशी, सुलभ और पारदर्शी बनाने के लिए व्यावहारिक सुझाव और नीतिगत संस्तुतियाँ प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द:

ग्रामीण विकास, कल्याणकारी योजनाएँ, सूचना की पहुँच, डिजिटल विभाजन, वाराणसी जनपद, संचार माध्यम।

प्रस्तावना

भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में राष्ट्र की वास्तविक प्रगति और समेकित विकास का आधार ग्रामीण विकास के सुदृढ़ीकरण पर टिका हुआ है। आज़ादी के बाद से ही केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा ग्रामीण अंचलों के सामाजिक-उत्थान, गरीबी उन्मूलन, कृषि विकास, स्वास्थ्य और बुनियादी ढांचे को मजबूत करने के लिए अनगिनत कल्याणकारी योजनाएँ चलाई जा रही हैं। वर्तमान परिदृश्य में, 'प्रधानमंत्री आवास योजना', 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा)', 'प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि' और 'राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन' जैसी योजनाएँ ग्रामीण भारत की तस्वीर बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। हालांकि, इन योजनाओं के जमीनी क्रियान्वयन और इसके वास्तविक लाभार्थियों तक पहुँचने की सफलता का पैमाना इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी 'सूचना' कितनी तेजी, शुद्धता और सटीकता से अंतिम व्यक्ति तक पहुँचती है। किसी भी कल्याणकारी नीति की सार्थकता इस बात में निहित है कि उसके पात्र लाभार्थियों को समय पर उसकी

* **सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, स्वामी गोविन्दाश्रम पी. जी. कालेज पैड़ापुर, मिर्जापुर, उत्तरप्रदेश**

पूरी जानकारी मिले। ग्रामीण विकास के क्षेत्र में 'सूचना प्रसार' एक सेतु का कार्य करती है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि प्रशासनिक स्तर पर योजनाएँ तो बना दी जाती हैं, लेकिन सूचना के अभाव में ग्रामीण जनता, विशेषकर हाशिए पर मौजूद वर्ग, इनका लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं।

प्रभावी संप्रेषण न केवल जागरूकता पैदा करता है, बल्कि शासन प्रणाली में पारदर्शिता और जन-भागीदारी को भी सुनिश्चित करता है। सही समय पर सही सूचना मिलने से बिचौलियों की भूमिका कम होती है और योजनाओं का लाभ सीधे लक्षित समूह तक पहुँचता है। समय के साथ ग्रामीण भारत के संचार ढांचे में एक बड़ा और निर्णायक बदलाव आया है। अतीत में जहाँ सूचना के साधन अत्यंत सीमित थे और पारंपरिक माध्यमों—जैसे रेडियो, दूरदर्शन, नुक्कड़ नाटक, स्थानीय बैनर, और मुनादी (दीवार लेखन) का ही वर्चस्व था, वहीं आज डिजिटल युग के आगमन ने परिदृश्य को पूरी तरह बदल दिया है। स्मार्टफोन की सस्ती उपलब्धता, सस्ते इंटरनेट डेटा और सरकारी पोर्टल्स (जैसे उमंग ऐप, डिजिटल इंडिया इनिशिएटिव) के प्रसार ने ग्रामीण अंचलों में सूचना प्राप्ति के तौर-तरीकों को नया आयाम दिया है। आज गाँवों के युवा और जागरूक वर्ग व्हाट्सएप, सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म्स और यूट्यूब के माध्यम से सीधे सरकारी योजनाओं की पल-पल की जानकारी प्राप्त कर रहे हैं। यद्यपि डिजिटल मीडिया ने सूचना की गति को तीव्र किया है, परंतु इसने समाज के भीतर एक नई और गहरी असमानता को भी जन्म दिया है, जिसे 'डिजिटल विभाजन' कहा जाता है। यह अवधारणा तकनीकी संसाधनों (जैसे इंटरनेट, स्मार्टफोन, कंप्यूटर) और उनके उपयोग के कौशल तक असमान पहुँच को दर्शाती है। वाराणसी जैसे जनपदों के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो तकनीकी साक्षरता की कमी, खराब नेटवर्क कनेक्टिविटी या आर्थिक तंगी के कारण डिजिटल माध्यमों से कोसों दूर है। इसके परिणामस्वरूप, पारंपरिक माध्यमों के कमजोर होने और डिजिटल माध्यमों तक पहुँच न होने के कारण ग्रामीण समाज में 'सूचना की खाई' और गहरी हो गई है। यह अध्ययन इसी अंतराल और वाराणसी जनपद के गाँवों में इसकी जमीनी हकीकत को रेखांकित करने का प्रयास करता है।

अध्ययन का औचित्य एवं शोध प्रश्न

वाराणसी जनपद का भौगोलिक और सामाजिक स्वरूप बेहद विशिष्ट है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ एक ओर आधुनिक शहरी संस्कृति का प्रभाव है, तो दूसरी ओर इसके ग्रामीण और अर्ध-शहरी अंचलों में पारंपरिक जीवनशैली आज भी जीवंत है। प्रधानमंत्री आवास योजना, मनरेगा, किसान सम्मान निधि और राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन जैसी तमाम कल्याणकारी योजनाएँ सरकार द्वारा चलाई जा रही हैं, लेकिन वाराणसी के विभिन्न ब्लॉकों (जैसे आराजी लाइन, सेवापुरी, चिरईगाँव आदि) के गाँवों में इन योजनाओं की जानकारी का स्तर एकसमान नहीं है। इस अध्ययन की महत्ता इस बात में निहित है कि क्या वाराणसी जैसे सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और भौगोलिक रूप से मिश्रित भू-भाग में संचार माध्यम (पारंपरिक और डिजिटल) वास्तव में अंतिम व्यक्ति तक पहुँच पा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में स्मार्टफोन और इंटरनेट के प्रसार के बावजूद, ज़मीनी स्तर पर सूचना के अंतर को मापने और यह जानने की आवश्यकता है कि वाराणसी के ग्रामीण समाज में विकास योजनाओं के प्रचार-प्रसार की वर्तमान स्थिति क्या है। यह शोध नीति निर्माताओं और प्रशासकों को ग्रामीण अंचलों में संचार रणनीतियों को अधिक प्रभावी बनाने के लिए व्यावहारिक आधार प्रदान करेगा। इस अध्ययन के उद्देश्यों को मूर्त रूप देने के लिए मुख्य शोध प्रश्नों का निर्धारण किया गया है—ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी के मुख्य स्रोत क्या हैं और क्या आज भी ग्रामीण जनता पारंपरिक माध्यमों (दूरदर्शन, रेडियो, बैनर, मुनादी) पर निर्भर है या डिजिटल माध्यम (स्मार्टफोन, सोशल मीडिया, सरकारी पोर्टल) उनकी पहली पसंद बन चुके हैं? क्या लिंग, वर्ग और आयु के आधार पर सूचना तक पहुँच में कोई अंतर (डिजिटल विभाजन) है? तथा ग्रामीण जनता और सरकारी सूचना तंत्र के बीच वे कौन से प्रमुख अवरोध (डिजिटल साक्षरता की कमी, खराब नेटवर्क कनेक्टिविटी, प्रशासनिक लालफीताशाही) हैं जो ग्रामीण नागरिकों को योजनाओं की समय पर सही जानकारी मिलने से रोकते हैं?

शोध के उद्देश्य

किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा और उसकी सार्थकता उसके पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों पर निर्भर करती है। प्रस्तुत शोध आलेख के प्रमुख उद्देश्यों में वाराणसी जनपद के चुनिंदा ग्रामीण विकास ब्लॉकों में संचालित विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी ग्रामीण जनता तक पहुँचाने वाले वर्तमान संचार स्रोतों और उनकी कार्यप्रणाली का गहन अन्वेषण करना शामिल है। इसके साथ ही, ग्रामीण स्तर पर पारंपरिक माध्यमों से डिजिटल मीडिया की ओर हो रहे बदलाव के बीच, तकनीकी

संसाधनों और डिजिटल साक्षरता की कमी के कारण उत्पन्न होने वाली तकनीकी असमानता यानी 'डिजिटल विभाजन' के वास्तविक स्वरूप को उजागर करना है। साथ ही, सूचना के अभाव और तकनीकी बाधाओं के परिणामस्वरूप समाज के कौन-से वर्ग (विशेषकर महिलाएँ, वृद्ध, और हाशिए पर मौजूद सामाजिक समूह) कल्याणकारी योजनाओं के लाभ से वंचित रह जाते हैं, उनकी सटीक पहचान करना है। ये उद्देश्य इस अध्ययन को एक स्पष्ट दिशा प्रदान करते हैं, जिससे ग्रामीण अंचलों में सूचना संप्रेषण की कमियों और चुनौतियों का साक्ष्य-आधारित मूल्यांकन किया जा सके।

शोध प्रविधि

किसी भी समाज वैज्ञानिक अध्ययन की विश्वसनीयता और उसकी तार्किक स्थिरता उसकी शोध प्रविधि पर टिकी होती है। प्रस्तुत शोध की रूपरेखा को वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप देने के लिए यह मुख्य रूप से अन्वेषनात्मक शोध प्रविधि पर आधारित है, जिसका उद्देश्य वाराणसी जनपद के ग्रामीण अंचलों में पारंपरिक माध्यमों से डिजिटल मीडिया की ओर हो रहे बदलाव, सूचना की पहुँच के स्तर और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले 'डिजिटल विभाजन' के वास्तविक पहलुओं की खोज करना है। अध्ययन क्षेत्र के रूप में उत्तर प्रदेश के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वाराणसी जनपद के चुनिंदा विकास खंडों (जैसे- आराजी लाइन, सेवापुरी, और चिरईगाँव) को चयनित किया गया है ताकि शहरी प्रभाव वाले गाँवों और सुदूर ग्रामीण अंचलों—दोनों प्रकार के क्षेत्रों में सूचना के प्रसार और डिजिटल अंतर का तुलनात्मक व व्यापक जायजा लिया जा सके। इस अध्ययन में प्राथमिक डेटा (ग्रामीण नागरिकों, किसानों, महिलाओं और युवाओं के साथ प्रत्यक्ष साक्षात्कार और संरचित प्रश्नावली) तथा द्वितीयक डेटा (सरकारी रिपोर्ट्स, जिला सांख्यिकी पुस्तिकाएँ, ग्रामीण विकास मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टों, प्रासंगिक पुस्तकों, और प्रतिष्ठित शोध पत्रों का गहन अध्ययन) दोनों का समावेशन किया गया है। अध्ययन को निष्पक्ष और सटीक बनाने के लिए उद्देश्यपूर्ण एवं स्तरीकृत यादृच्छिक प्रतिचयन पद्धति का उपयोग किया गया है।

विश्लेषण एवं विवेचना

शोध आलेख का यह अत्यंत महत्वपूर्ण खंड वाराणसी जनपद के चयनित ग्रामीण विकास खंडों—आराजी लाइन, सेवापुरी और चिरईगाँव—से प्राप्त प्राथमिक सर्वेक्षण आंकड़ों (प्राथमिक साक्षात्कार, संरचित प्रश्नावली और क्षेत्र-टिप्पणियों) तथा विभिन्न द्वितीयक साक्ष्यों के आधार पर जमीनी वास्तविकताओं का गहन और बहुआयामी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वाराणसी के ग्रामीण परिवेश में आज भी सूचना का संप्रेषण किसी एकल माध्यम पर आधारित न होकर एक मिश्रित और संक्रमणकालीन संस्कृति के रूप में मौजूद है। सर्वेक्षण के दौरान यह तथ्य प्रमुखता से सामने आया कि यद्यपि भूमंडलीकरण और तकनीकी क्रांति के प्रभावस्वरूप आधुनिक डिजिटल माध्यमों का दायरा तेजी से फैल रहा है, फिर भी पारंपरिक संचार माध्यमों की जड़ें ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक संरचना में आज भी अत्यंत गहरी हैं। सुदूर ग्रामीण अंचलों में दूरदर्शन, आकाशवाणी (रेडियो), स्थानीय दीवार लेखन, और पारंपरिक मुनादी अथवा बैनर आज भी सूचना के सबसे सहज, सुलभ और विश्वसनीय स्रोत बने हुए हैं। ग्रामीण जनता की यह एक सर्वव्यापी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति देखी गई कि जब बात किसी नई सरकारी योजना की घोषणा, उसके नियमों या बुनियादी प्रशासनिक निर्देशों की होती है, तो वे सोशल मीडिया पर तैरने वाली अनधिकृत सूचनाओं की तुलना में पारंपरिक और स्थापित सरकारी विज्ञापनों पर अधिक भरोसा करते हैं। इसके विपरीत, सर्वेक्षण यह भी दर्शाता है कि स्मार्टफोन धारकों, शिक्षित वर्ग और विशेषकर युवाओं के बीच व्हाट्सएप, यूट्यूब, फेसबुक, और विभिन्न सरकारी मोबाइल पोर्टल्स सूचना प्राप्ति के तीव्र और तात्कालिक माध्यमों के रूप में उभरे हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में सूचना प्रसार के मार्ग में वर्तमान समय में सबसे बड़ी और विकट बाधा 'डिजिटल विभाजन' के रूप में सामने आती है। वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों के सूक्ष्म अवलोकन से इसके तीन प्रमुख आयाम स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आते हैं: पहला, यद्यपि सरकारी आंकड़ों के अनुसार देश में मोबाइल धारकों की संख्या में वृद्धि हुई है, परंतु ग्रामीण परिवारों के भीतर स्मार्टफोन की 'व्यक्तिगत उपलब्धता' अत्यधिक असमान है। सर्वेक्षण के दौरान यह तथ्य सामने आया कि लगभग हर ग्रामीण परिवार में एक साधारण मोबाइल फोन उपलब्ध है, परंतु इंटरनेट-सक्षम स्मार्टफोन आमतौर पर परिवार के पुरुष मुखिया, कमाने वाले युवा सदस्य या छात्र के पास ही होता है; महिलाओं और वृद्धों के पास इसकी व्यक्तिगत पहुँच नगण्य है। दूसरा, वाराणसी जनपद के सभी ब्लॉक एक जैसी भौगोलिक स्थिति नहीं रखते। गंगा के कछार वाले क्षेत्रों और सुदूर ग्रामीण इलाकों में आज भी डेटा की स्पीड और नेटवर्क ड्रॉप होना एक गंभीर समस्या है, जिससे ऑनलाइन आवेदन करना कठिन हो जाता है। तीसरा, तकनीकी उपकरणों की भौतिक उपलब्धता से भी अधिक बड़ी चुनौती 'डिजिटल साक्षरता' का अभाव है। ग्रामीण जनता

का एक विशाल हिस्सा सरकारी पोर्टल्स को नेविगेट करने, यूजर आईडी/पासवर्ड बनाने, अंग्रेजी में दिए गए फॉर्म भरने या अपने दस्तावेजों को स्कैन कर अपलोड करने की प्रक्रिया से पूरी तरह अनभिज्ञ हैं।

सूचना तक पहुँच की यह असमानता किसी तकनीकी निर्वात में नहीं घटित होती, बल्कि यह समाज के मौजूदा सामाजिक-आर्थिक पदानुक्रम से सीधे तौर पर संचालित होती है। वाराणसी के ग्रामीण समाज में सवर्ण जातियों और आर्थिक रूप से संपन्न तथा राजनीतिक रूप से जागरूक परिवारों की तुलना में दलित, महादलित, मुसहर और अति पिछड़े समुदायों के गाँवों एवं बस्तियों में सूचना तंत्र की पहुँच अपेक्षाकृत काफी कमजोर है। भारतीय ग्रामीण समाज का पितृसत्तात्मक ढांचा सूचना के प्रवाह को भी नियंत्रित करता है। महिलाओं तक सरकारी कल्याणकारी योजनाओं की सीधी जानकारी बहुत देर से या परिवार के पुरुषों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से पहुँचती है। इसके अलावा, युवा वर्ग जहाँ सोशल मीडिया और इंटरनेट के माध्यम से सूचनाओं के प्रति अत्यधिक जागरूक है, वहीं वृद्ध, एकल जीवन जीने वाले बुजुर्ग और पारंपरिक किसान सूचना के पारंपरिक माध्यमों के कमजोर होने के कारण आधुनिक योजनाओं की जानकारी से पूरी तरह अछूते रह जाते हैं। सूचना के इस अंतराल, डिजिटल विभाजन और सामाजिक असमानता का सबसे घातक और नकारात्मक प्रभाव ग्रामीण विकास योजनाओं के वास्तविक क्रियान्वयन और लक्षित परिणामों पर पड़ता है। वाराणसी जनपद में सर्वेक्षण के दौरान कई ऐसे मामले सामने आए जहाँ पात्र ग्रामीण—विशेषकर प्रधानमंत्री आवास योजना, मनरेगा, और किसान सम्मान निधि जैसी महत्वपूर्ण योजनाओं के वास्तविक हकदार होने के बावजूद उनके लाभ से केवल इसलिए वंचित रह गए क्योंकि उन्हें निर्धारित समय-सीमा, आवेदन प्रक्रिया, अंतिम तिथि या पात्रता मानदंडों की समय पर सही जानकारी ही नहीं मिल पाई। सही समय पर सूचना न मिलने के कारण ग्रामीण जनता स्थानीय बिचौलियों के चंगुल में फंस जाती है, जो उनकी अज्ञानता का लाभ उठाकर उनसे भारी कमीशन वसूलते हैं। इस प्रकार, ग्रामीण विकास योजनाओं के शत-प्रतिशत क्रियान्वयन के लिए सूचना संप्रेषण तंत्र को सुलभ, समावेशी और डिजिटल रूप से साक्षर बनाने की नितांत आवश्यकता है।

निष्कर्ष

वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों (आराजी लाइन, सेवापुरी और चिरईगाँव विकास खंडों) में कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी एवं लाभ प्राप्ति में संचार माध्यमों के योगदान का यह समाज वैज्ञानिक अध्ययन कई महत्वपूर्ण निष्कर्षों को उजागर करता है। पहला, वाराणसी के ग्रामीण अंचलों में सूचना का संप्रेषण एक संक्रांति काल से गुजर रहा है जहाँ युवा वर्ग में सोशल मीडिया का चलन बढ़ा है, वहीं सुदूर बस्तियों और बुजुर्गों के बीच पारंपरिक माध्यम आज भी भरोसेमंद हैं। दूसरा, तकनीकी संसाधनों की असमान उपलब्धता, नेटवर्क कनेक्टिविटी की समस्या और डिजिटल साक्षरता के अभाव ने ग्रामीण विकास की राह में एक गहरी खाई पैदा कर दी है। तीसरा, सूचना तक पहुँच की असमानता सामाजिक पदानुक्रम और पितृसत्तात्मक ढांचे से जुड़ी हुई है, जिसके कारण हाशिए के वर्ग और महिलाएँ पिछड़ जाती हैं। संक्षेप में, सरकार द्वारा चलाई जा रही योजनाओं का वास्तविक लाभ 'सूचना के अभाव' और 'डिजिटल अंतराल' के कारण पात्र लाभार्थियों तक शत-प्रतिशत रूप से नहीं पहुँच पा रहा है, अतः पारंपरिक और आधुनिक माध्यमों का संतुलित समन्वय स्थापित करना नितांत आवश्यक है।

सुझाव एवं संस्तुतियाँ

वाराणसी जनपद के ग्रामीण क्षेत्रों की वास्तविक स्थिति और अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर व्यावहारिक सुझाव और नीतिगत संस्तुतियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। सुदूर ग्रामीण अंचलों तक सूचना पहुँचाने के लिए ग्राम स्तर पर पारंपरिक साधनों (जैसे स्थानीय मुनादी, दीवार लेखन, और नुक्कड़ नाटक) को पुनः सक्रिय बनाया जाए। प्रत्येक ग्राम पंचायत सचिवालय में एक 'सूचना एवं सहायता केंद्र' की स्थापना हो, जहाँ प्रशिक्षित कर्मी ग्रामीणों को योजनाओं की जानकारी देने और फॉर्म भरने में मदद कर सकें। वाराणसी के ग्रामीण परिवेश के अनुकूल स्थानीय आकाशवाणी और कम्युनिटी रेडियो के माध्यम से क्षेत्रीय भाषा या भोजपुरी में योजनाओं की जानकारी के विशेष कार्यक्रम प्रसारित किए जाएं। ग्रामीण क्षेत्रों में—विशेषकर महिलाओं, बुजुर्गों और हाशिए के वर्गों के बीच—बुनियादी डिजिटल कौशल विकसित करने के लिए विशेष शिविर आयोजित किए जाएं। सुदूर ग्रामीण ब्लॉकों में इंटरनेट कनेक्टिविटी और ब्रॉडबैंड सेवाओं का विस्तार किया जाए ताकि ऑनलाइन पोर्टल्स तक सीधी पहुँच सुनिश्चित हो सके। सरकारी कल्याणकारी योजनाओं के पोर्टल्स और मोबाइल ऐप्स को स्थानीय भाषा (हिंदी) में और अधिक उपयोगकर्ता-अनुकूल बनाया जाए।

संदर्भ :-

1. सिंह, ए. के. (2020). *ग्रामीण समाजशास्त्र और विकास*. नई दिल्ली: वीनस पब्लिशिंग हाउस.
2. वर्मा, आर. पी. (2018). *भारत में संचार माध्यम और जनसंपर्क*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स.
3. कुमार, एम. (2019). *ग्रामीण विकास: प्रशासन और योजना*. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स.
4. मिश्रा, एस. एन. (2021). *डिजिटल विभाजन और ग्रामीण भारत: चुनौतियाँ और अवसर*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
5. तिवारी, डॉ. सुरेश. (2022). *"ग्रामीण कल्याणकारी योजनाएँ और सूचना प्रसार की भूमिका"*. भारतीय समाज विज्ञान पत्रिका, 45(2), 112-128.
6. शर्मा, पी., एवं गुप्ता, आर. (2021). "ग्रामीण उत्तर प्रदेश में महात्मा गांधी मनरेगा के क्रियान्वयन पर डिजिटल मीडिया का प्रभाव". *ग्रामीण विकास अध्ययन जर्नल*, 38(4), 45-60.
7. सिंह, वी. (2023). "डिजिटल विभाजन को पाटना: अर्ध-शहरी और ग्रामीण जिलों में सूचना तक पहुँच का आकलन". *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन*, 72(1), 89-104.
8. ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार. (2024). *वार्षिक रिपोर्ट 2023-24*. नई दिल्ली: भारत सरकार. (उपलब्ध: https://rural.nic.in)
9. जिला सांख्यिकी कार्यालय, वाराणसी. (2023). *वाराणसी जनपद सांख्यिकी पुस्तिका 2022-23*. उत्तर प्रदेश शासन.
10. डिजिटल इंडिया कॉर्पोरेशन. (2023). *ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल साक्षरता और ई-गवर्नेंस पर एक व्यापक रिपोर्ट*. इलेक्ट्रॉनिक्स और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय (MeitY), भारत सरकार. (उपलब्ध: https://digitalindia.gov.in)

Received: 22.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

A Demographic Analysis of Behavioural Biases Influencing Investment Decisions among Working Women in Chhattisgarh

Thakur Ranjit Singh* **ranjitsinghcg@gmail.com**

Dr. Ekta Mishra† **ektamishra@shrishankaracharyauniversity.com**

Abstract

This research investigates the impact of behavioural biases on investment decisions among working women in Chhattisgarh, with a particular emphasis on the mediating role of risk tolerance. Drawing on the principles of behavioural finance, the study explores five key biases—overconfidence, loss aversion, herding, anchoring, and mental accounting—and their influence on investors' risk perceptions and financial choices. A structured questionnaire was administered to 210 financially literate working women, and data were analysed using Structural Equation Modelling (SEM) in SmartPLS. The results reveal that risk tolerance significantly mediates the relationship between behavioural biases and investment decisions. Specifically, herding biases, loss aversion biases, and mental accounting biases exhibit partial mediation, while overconfidence biases and anchoring biases show inconsistent mediation effects. The study highlights the pivotal role of psychological and demographic factors in shaping investment behaviour and underscores the need for targeted financial education programs. The findings offer valuable insights for policymakers, financial advisors, and educators aiming to foster rational investment behaviour among women in emerging economies.

***Keywords**:*

Behavioural Finance, Investment Decision, Risk Tolerance, Overconfidence Bias, Loss Aversion Bias, Herding Behaviour Bias, Anchoring Bias, Mental Accounting Bias, Structural Equation Modelling (SEM).

Introduction

In the evolving landscape of personal finance, investment decisions are no longer driven solely by rational economic theories but are increasingly shaped by behavioural factors such as emotions, cognitive biases, and psychological tendencies (Kahneman & Tversky, 1979). This shift has given rise to the field of behavioural finance, which explains why investors often deviate from logical financial decision-making. Among various investor groups, working women represent a

* **Research Scholar, Department of Management,**
Shri Shankaracharya Professional University, Bhilai.

† **Assistant Professor, Department of Management,**
Shri Shankaracharya Professional University, Bhilai.

rapidly growing and influential segment, yet their investment behaviour remains underexplored, particularly in regional contexts such as Chhattisgarh. The state has witnessed an increase in female workforce participation, especially in sectors like education, healthcare, and government services, thereby granting women greater financial autonomy. However, socio-cultural norms, limited financial awareness, and inherent behavioural biases continue to affect their investment decisions. Understanding how demographic variables such as age, income, education, and occupation intersect with behavioural biases like overconfidence, loss aversion, and herding is essential to support informed financial choices among women (Barber & Odean, 2001; Shefrin, 2000). This research aims to bridge this knowledge gap by analyzing the demographic and psychological dimensions that influence the investment patterns of working women in Chhattisgarh, thereby contributing to more inclusive and effective financial literacy and policy frameworks in the region.

Research Motivation

The impetus behind this research stems from the increasing financial participation of women and the growing recognition that investment decisions are not purely rational but are deeply influenced by behavioural biases (Thaler, 2005). In India, and particularly in a developing region like Chhattisgarh, working women are progressively assuming roles as financial decision-makers in their households. However, despite their rising income levels and access to financial products, their investment choices are often constrained by cognitive biases such as loss aversion, mental accounting, and herding tendencies (Subrahmanyam, 2008). Moreover, demographic factors like age, education, and marital status further shape their susceptibility to these biases. Understanding these dynamics is essential for developing effective financial education programs and policy interventions tailored specifically for women investors (Lusardi & Mitchell, 2014). This research is driven by the need to identify and analyze how behavioural tendencies, when intersected with demographic variables, affect financial decisions among working women in Chhattisgarh—an area that remains significantly under-researched in the Indian context.

The role of working women in financial decision-making has undergone a significant transformation in recent years, particularly in regions like Chhattisgarh, where increasing educational attainment and employment opportunities have empowered women to contribute to household income and investment planning. Traditionally, financial decision-making was considered a male-dominated domain in Indian society; however, working women are now taking active roles in budgeting, saving, and investing (Sathiyavani & Rajamohan, 2013). Despite their growing participation, many of these women face challenges due to limited financial literacy, societal norms, and behavioural tendencies that lead to risk aversion and conservative investment choices (Rao & Jatana, 2020). These factors are further influenced by demographic characteristics like age, income, and marital status, which impact their risk tolerance and investment preferences. As a result, working women in Chhattisgarh represents a unique demographic whose investment behaviour warrants in-depth analysis to promote more inclusive and gender-sensitive financial education and planning strategies (Lusardi & Tufano, 2015).

Behavioural biases are systematic patterns of deviation from rationality in judgment and decision-making, often resulting from cognitive limitations, emotional influences, or social pressures. In the realm of finance, these biases explain why investors frequently make suboptimal decisions despite

having access to relevant information. Common behavioural biases include **overconfidence**, where investors overestimate their knowledge or predictive abilities; **loss aversion**, where individuals prefer avoiding losses more than acquiring equivalent gains; **herding**, which involves mimicking the investment behaviours of others; **anchoring**, where individuals rely too heavily on initial information; and **mental accounting**, where people treat money differently depending on its origin or intended use (Kahneman & Tversky, 1979; Thaler, 1999). These biases are particularly prevalent among retail investors and can lead to irrational decisions, such as holding on to losing stocks or following market trends without analysis (Barberis & Thaler, 2003). For women investors—especially those in emerging regions like Chhattisgarh—cultural norms, lack of formal financial education, and risk aversion further amplify the influence of behavioural biases, often leading to conservative investment choices (Rao & Jatana, 2020). Understanding these biases is critical for developing targeted financial literacy programs and improving individual financial well-being.

Based on the above discussion, the present study addresses the following research questions:

1. How do behavioural biases (such as overconfidence, loss aversion, herding, anchoring, and mental accounting) influence the investment decisions of working women in Chhattisgarh?
2. What is the role of risk tolerance as a mediating variable in the relationship between behavioural biases and investment decisions among working women?
3. To what extent does risk tolerance modify the effect of individual behavioural biases on the investment choices and risk-taking behaviour of working women?

In alignment with the aforementioned research questions, this study endeavours to rigorously examine the influence of behavioural biases on the investment decisions of working women in Chhattisgarh, with particular emphasis on the mediating role of risk tolerance. The study's objectives are articulated as follows to facilitate a comprehensive and structured empirical investigation:

Research Objectives

1. To assess the direct effects of behavioural biases on the investment decision-making processes of working women in Chhattisgarh.
2. To investigate the mediating role of risk tolerance in the relationship between behavioural biases and investment decisions.
3. To generate empirical insights aimed at mitigating the adverse effects of behavioural biases and enhancing investment outcomes among working women.

Theoretical background and Literature Review

Extensive research in behavioural finance has established that investor decisions frequently deviate from the predictions of traditional finance theories due to cognitive and emotional biases. Kahneman and Tversky's (1979) Prospect Theory laid the foundation for understanding how loss aversion and framing effects influence risk preferences. Subsequent studies have identified key biases such as overconfidence, which leads investors to overestimate their predictive capabilities and take excessive risks (Barber & Odean, 2001). Herding behaviour, wherein investors mimic the actions of the majority, has been documented as a cause of market inefficiencies and bubbles (Bikhchandani, Hirshleifer, &

Welch, 1992). Anchoring bias causes investors to rely excessively on initial information or past prices, which can distort their investment evaluation (Tversky & Kahneman, 1974). Mental accounting explains how individuals segregate money into different accounts psychologically, influencing spending and investment behaviour (Thaler, 1999). Empirical evidence also suggests that risk tolerance plays a critical mediating role in how these behavioural biases impact investment decisions (Grable & Lytton, 1999). However, there remains limited research focusing specifically on working women in developing regions such as Chhattisgarh, where socio-cultural factors and financial literacy levels may further shape the interplay between behavioural biases, risk tolerance, and investment decisions (Rao & Jatana, 2020). This study seeks to fill this gap by examining these relationships within the demographic context of working women in Chhattisgarh.

Behavioural Biases and Investment Decisions

Behavioural biases significantly affect investors' decision-making processes, often leading to deviations from rational financial behaviour. Key biases such as **overconfidence**, **loss aversion**, **herding**, **anchoring**, and **mental accounting** have been widely studied for their impact on investment decisions (Barber & Odean, 2001; Kahneman & Tversky, 1979). Overconfidence causes investors to overestimate their knowledge and underestimate risks, often resulting in excessive trading and suboptimal portfolio performance (Glaser & Weber, 2007). Loss aversion reflects a stronger sensitivity to losses compared to gains, influencing investors to hold losing assets longer or avoid riskier opportunities (Tversky & Kahneman, 1992). Herding behaviour—where investors imitate others' actions—can create asset price bubbles or crashes by amplifying market trends (Bikhchandani, Hirshleifer, & Welch, 1992). Anchoring bias occurs when investors rely heavily on initial price points or irrelevant information, impairing objective evaluation of investment options (Northcraft & Neale, 1987). Mental accounting leads investors to separate funds mentally into distinct accounts, affecting risk-taking and consumption patterns (Thaler, 1999). Furthermore, **risk tolerance** emerges as a critical variable mediating how these biases translate into actual investment choices, with individuals' willingness to bear risk shaping the influence of behavioural tendencies on their portfolio decisions (Grable & Lytton, 1999). Demographic factors such as age, gender, income, and education also interact with these biases, influencing both the degree of susceptibility and investment outcomes (Rao & Jatana, 2020). Collectively, these variables form an interconnected framework crucial to understanding the complexities of investor behaviour in diverse socio-economic contexts.

Overconfidence Bias

Overconfidence bias is a well-documented behavioural tendency where individuals overestimate their knowledge, abilities, or control over events, which often leads to suboptimal financial decisions. In the context of investment, overconfident investors tend to believe they have superior information or forecasting skills, prompting excessive trading and underestimation of risks (Barber & Odean, 2001). This bias can result in increased transaction costs and lower net returns (Glaser & Weber, 2007). Experimental and empirical studies demonstrate that overconfidence is more pronounced among male investors but is prevalent across genders to varying degrees (Barber & Odean, 2001; Lundeberg, Fox, & Punćochař, 1994). The bias also leads investors to hold concentrated portfolios and disregard diversification benefits (Daniel, Hirshleifer, & Subrahmanyam, 1998). Furthermore, overconfidence interacts with market volatility, amplifying price fluctuations as

investors overreact to private signals (Odean, 1998). Despite its negative impact, some studies suggest moderate overconfidence may encourage proactive financial behaviour, such as timely portfolio adjustments (Glaser & Weber, 2007). In developing regions, including India, overconfidence bias among investors, especially working women, remains underexplored, underscoring the need for focused research to tailor financial literacy and advisory interventions (Rao & Jatana, 2020). In light of the above discussions and as per the objectives framed, the following hypotheses have been proposed:

H_{1a}: Overconfidence bias significantly influences the risk tolerance of investors.

H_{1b}: Risk tolerance significantly mediates the relationship between Overconfidence bias and investment decisions.

Loss Aversion Bias

Loss aversion bias is a fundamental concept in behavioural finance, referring to the tendency of investors to experience the pain of losses more intensely than the pleasure of equivalent gains (Kahneman & Tversky, 1979). This bias often leads to risk-averse behaviour when facing potential gains but risk-seeking behaviour when trying to avoid sure losses, resulting in suboptimal investment decisions (Tversky & Kahneman, 1992). Empirical studies reveal that loss-averse investors tend to hold on to losing stocks longer than rational models would suggest, a phenomenon known as the disposition effect (Shefrin & Statman, 1985). This behaviour hampers portfolio performance by delaying necessary corrective actions and distorting risk management strategies (Odean, 1998). Moreover, loss aversion influences how investors frame investment outcomes, often causing them to avoid high-return opportunities due to the fear of potential losses (Benartzi & Thaler, 1995). Cultural and demographic factors also modulate the degree of loss aversion, with some evidence suggesting that women generally exhibit higher loss aversion than men, which can impact their risk tolerance and investment choices (Byrnes, Miller, & Schafer, 1999; Jianakoplos & Bernasek, 1998). Despite its significance, research focusing on the impact of loss aversion among working women investors in emerging markets like Chhattisgarh remains limited, warranting further investigation (Rao & Jatana, 2020). In light of the above discussions and as per the objectives framed, the following hypotheses have been proposed:

H_{2a}: Loss aversion bias significantly influences the risk tolerance of investors.

H_{2b}: Risk tolerance significantly mediates the relationship between Loss aversion bias and investment decisions.

Herding Bias

Herding bias refers to the tendency of investors to mimic the actions of a larger group or market trend rather than relying on their own independent analysis. This behaviour is often driven by social pressure, fear of missing out, or the assumption that others possess superior information (Bikhchandani, Hirshleifer, & Welch, 1992). Herding can lead to market inefficiencies such as asset bubbles and crashes, as collective investor actions amplify price movements beyond fundamental values (Devenow & Welch, 1996). Empirical studies show that herding is particularly prevalent during periods of market uncertainty or high volatility, where investors prefer the safety of consensus over personal judgment (Hwang & Salmon, 2004). This bias affects both institutional

and individual investors but tends to be more pronounced among less experienced or risk-averse individuals (Chang, Cheng, & Khorana, 2000). Additionally, demographic factors, including gender and cultural context, can influence the susceptibility to herding behaviour, with some evidence suggesting that working women investors in emerging markets may rely more on herd cues due to limited financial literacy or confidence (Scharfstein & Stein, 1990; Rao & Jatana, 2020). Understanding herding bias is crucial for developing investor education programs and regulatory frameworks aimed at promoting rational investment decisions. Based on the above discussions, the following hypotheses have been formulated:

H_{3a}: Herding bias significantly influences the risk tolerance of investors.

H_{3b}: Risk tolerance significantly mediates the relationship between Herding bias and investment decisions.

Anchoring Bias

Anchoring bias occurs when investors rely heavily on an initial piece of information (the "anchor") when making subsequent decisions, often leading to systematic errors in judgment (Tversky & Kahneman, 1974). In investment contexts, anchors may include past stock prices, initial purchase prices, or arbitrary numerical values, which unduly influence investors' expectations and valuations (Furnham & Boo, 2011). These bias cause investors to insufficiently adjust their beliefs despite new information, potentially resulting in poor timing of buy or sell decisions and distorted risk assessments (Epley & Gilovich, 2006). Studies indicate that anchoring leads to the reluctance to revise investment strategies promptly, thereby affecting portfolio performance negatively (Barberis, Shleifer, & Vishny, 1998). Furthermore, anchoring bias has been observed across different investor groups and cultures, though its intensity may vary depending on financial literacy and experience (Goyal & Jegadeesh, 2007). In emerging markets such as India, anchoring can be particularly impactful due to informational asymmetry and limited access to reliable data, highlighting the importance of addressing this bias among working women investors in regions like Chhattisgarh (Rao & Jatana, 2020). Based on the above discussions, the following hypotheses have been formulated:

H_{4a}: Anchoring bias significantly influences the risk tolerance of investors.

H_{4b}: Risk tolerance significantly mediates the relationship between Anchoring bias and investment decisions.

Mental Accounting Bias

Mental accounting bias, a concept introduced by Thaler (1999), refers to the cognitive process whereby individuals categorize, evaluate, and keep track of financial activities in separate mental "accounts" rather than treating money as fungible. This segregation often leads investors to make irrational financial decisions, such as treating gains and losses differently depending on the source or earmarking certain funds for specific purposes regardless of overall portfolio optimization (Thaler, 1999; Shefrin & Statman, 1985). For instance, investors might be reluctant to sell losing assets from one mental account while aggressively investing gains from another, causing suboptimal allocation of resources and impacting overall wealth maximization (Barberis & Huang, 2001). Empirical evidence shows that mental accounting can exacerbate behavioural biases such as loss aversion and disposition effects, further distorting investment decisions (Feng & Seasholes, 2005). Moreover,

demographic variables such as gender, education, and financial literacy influence the extent to which individuals engage in mental accounting, with working women often displaying distinct mental accounting patterns influenced by socio-economic and cultural factors (Rao & Jatana, 2020). Understanding the role of mental accounting bias is therefore critical in addressing irrational investment behaviours and improving financial decision-making among women investors in emerging markets like Chhattisgarh. Based on the above discussions, the following hypotheses have been formulated:

H_{5a}: Mental accounting bias significantly influences the risk tolerance of investors.

H_{5b}: Risk tolerance significantly mediates the relationship between Mental accounting bias and investment decisions.

Risk Tolerance

Risk tolerance is a critical psychological construct that influences individual investment behaviour and decision-making. It refers to the degree to which an investor is willing to endure uncertainty or potential financial loss in pursuit of potential gains (Grable & Lytton, 1999). High risk tolerance is often associated with a greater propensity to invest in volatile or higher-return assets, while low risk tolerance typically leads to more conservative investment choices (Weber, Blais, & Betz, 2002). Research indicates that risk tolerance is shaped by various demographic and psychological factors such as age, gender, income, education, and financial literacy, with working women frequently demonstrating distinct risk preferences influenced by socio-cultural and economic conditions (Sundén & Surette, 1998; Jianakoplos & Bernasek, 1998). Moreover, behavioural finance studies suggest that risk tolerance mediates the impact of cognitive biases on investment decisions, thus playing a pivotal role in bridging behavioural tendencies and actual market behaviours (Grable, 2000; Roszkowski & Grable, 2005). Understanding risk tolerance is therefore essential for designing tailored financial advisory services and improving investment outcomes among diverse investor groups, including working women in emerging markets such as Chhattisgarh. This indicates that risk tolerance plays an active role in the investment decision-making process when individuals face choosing between investment alternatives of varying degrees of risk. **R^2**

H_6: Risk tolerance significantly influences the investment decisions of investors.

Instrument Development

The research instrument was developed to measure the behavioural biases influencing investment decisions among working women in Chhattisgarh, incorporating validated items from prior studies. Each construct—overconfidence bias, loss aversion, and herding bias, anchoring bias, mental accounting, risk tolerance, and investment decision—was operationalized through three items adapted from well-established literature. Overconfidence was measured using statements reflecting individuals' overestimation of their knowledge and predictive ability (Glaser & Weber, 2007; Odean, 1998). Items for loss aversion captured the emotional asymmetry between gains and losses (Kahneman & Tversky, 1979; Tversky & Kahneman, 1992). Herding behaviour was assessed based on the tendency to follow crowd behaviour in investment decisions (Bikhchandani et al., 1992; Chang et al., 2000). Anchoring bias was evaluated using items focused on reliance on past prices and difficulty adjusting to new information (Tversky & Kahneman, 1974; Epley & Gilovich, 2006).

Mental accounting included items reflecting the psychological separation of financial sources and uses (Thaler, 1999; Shefrin & Statman, 1985). Risk tolerance was captured through statements on willingness to take financial risks (Grable & Lytton, 1999; Weber et al., 2002), while investment decisions were measured by items representing portfolio evaluation, diversification, and investment time horizon (Chen et al., 2007; Statman, 2000). These items were framed using a 5-point Likert scale ranging from "Strongly Disagree" to "Strongly Agree" to ensure consistency and comparability.

Table 1 Instrument Development

Variable	Item	Source
Overconfidence Bias	I am confident in my ability to predict stock market movements better than others.	Glaser & Weber, 2007; Odean, 1998)
	I often believe my investment decisions are more accurate than those of financial experts.	
	I tend to overestimate the accuracy of my knowledge when making investment choices.	
Loss Aversion	I feel more distressed by losses in my investment portfolio than I feel happy about equivalent gains.	Kahneman & Tversky, 1979; Tversky & Kahneman, 1992
	I prefer avoiding losses more than acquiring gains of the same amount.	
	I tend to hold on to losing investments to avoid realizing a loss.	
Herding Bias	I often follow the investment decisions of my peers or popular trends.	Bikhchandani, Hirshleifer, & Welch, 1992; Chang, Cheng, & Khorana, 2000
	When uncertain, I tend to invest where most others are investing.	
	I avoid investing in options that are unpopular among other investors.	
Anchoring Bias	I rely on the initial price at which I purchased a stock when deciding whether to sell it.	Tversky & Kahneman, 1974; Epley & Gilovich, 2006)
	Past price levels heavily influence my future investment decisions.	
	I find it difficult to adjust my investment expectations even after new information is available.	
Mental Accounting	I treat money earned from investments differently than money earned from salary.	Thaler, 1999; Shefrin & Statman, 1985
	I allocate separate budgets mentally for different types of investments (e.g., savings, stocks).	

	I avoid mixing funds from different sources when making investment decisions.	
Risk Tolerance	I am willing to accept a higher level of risk for potentially higher investment returns.	Grable & Lytton, 1999; Weber, Blais, & Betz, 2002
	I feel comfortable investing in volatile markets.	
	I am willing to take financial risks to achieve my investment goals.	
Investment Decision	I regularly evaluate and adjust my investment portfolio based on market conditions.	Chen, Kim, & Nofsinger, 2007; Statman, 2000
	I diversify my investments to balance risk and returns.	
	I prefer long-term investments rather than frequent buying and selling.	

Proposed Model

The proposed model illustrated in Fig1 is designed to examine the influence of various behavioural biases on investment decisions among working women in Chhattisgarh, with **risk tolerance** serving as a mediating variable. The model comprises five independent variables: **Overconfidence Bias (OB1–OB3), Loss Aversion Bias (LB1–LB3), Herding Bias (HB1–HB3), Anchoring Bias (AB1–AB3),** and **Mental Accounting Bias (MB1–MB3).** Each bias is represented by three measurement items. These biases are hypothesized to influence **Risk Tolerance (RT1–RT3),** which in turn affects the **Investment Decision (ID1–ID3)**—the dependent variable. The model suggests both **direct and indirect effects**, allowing for an in-depth understanding of how cognitive and emotional biases shape investment behaviour through risk perception. This framework enables the testing of **mediation effects** and contributes to behavioural finance literature by providing insights specific to the demographic context of working women in Chhattisgarh.

Fig.1 Proposed Model

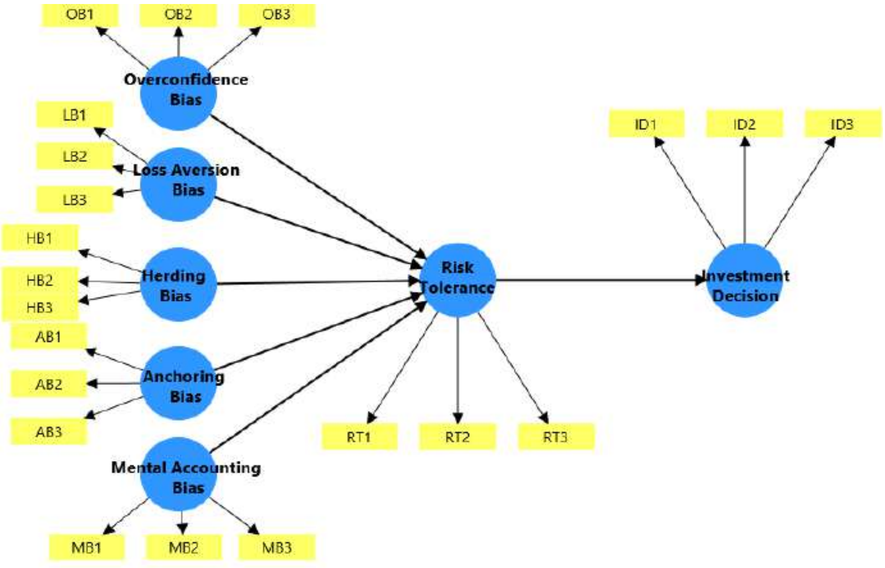

Methodology

Population and Data Collection

The target population for the present study comprises working women investors in the state of Chhattisgarh. This demographic segment has been selected due to the evolving financial landscape and increasing

participation of women in investment activities, yet limited awareness and influence of behavioural biases on their decision-making processes. Despite rising economic involvement, several factors such as moderate financial literacy levels, risk aversion, and limited exposure to structured financial advice continue to affect their investment behaviour. To ensure the validity of the study and minimize endogeneity concerns, only those respondents possessing a basic level of financial literacy were included in the final analysis. A set of preliminary screening questions—such as identifying the risk level between stocks and bank deposits, understanding the risk-return trade-off in stock investments, and interpreting compound interest—was administered to filter participants with adequate investment knowledge. Out of 250 structured questionnaires distributed via online platforms such as WhatsApp, email, and other social media channels, a total of 210 valid responses were retained after the data cleaning process. The online mode was preferred for its efficiency, broader reach, and convenience, especially in accessing a diverse sample of working women across Chhattisgarh. The contact details of potential respondents were obtained through professional networks, investment forums, and local financial advisory groups to ensure a representative sample.

Measures and Pilot Study

The measurement items used in the present study were adapted from prior validated research studies in the areas of behavioural finance, particularly focusing on biases such as overconfidence, loss aversion, herding, anchoring, and mental accounting. These items were carefully selected and modified to align with the context of working women investors in Chhattisgarh. The constructs used in this study are based on existing literature from scholars including Glaser and Weber (2007), Odean (1998), Kahneman and Tversky (1979), Bikhchandani et al. (1992), Tversky and Kahneman (1974), Thaler (1999), and Grable and Lytton (1999), among others. Each construct comprises three items and was measured using a five-point Likert scale ranging from "Strongly Disagree" to "Strongly Agree" indicating the degree of agreement with the statements.

Results and Discussions

Table 2 Demography Representation

Category		Frequency	Percentage
Age	20-35	54	26
	36-50	83	40
	51-65	73	35
Education	Higher Secondary	87	41
	Graduate	92	44
	Post Graduate	31	15
Income (INR)			
	< 1,00,000	52	25
	100000-350000	78	37
	350000-500000	48	23
	> 500000	32	15
Investment Avenues			
	Bank Deposits/ Postal Deposits	97	46

	Gold	28	13
	Real Estate	12	6
	Insurance	38	18
	Mutual Fund	26	12
	Share Market	9	4

The demographic profile of the respondents in the present study reflects a diverse and balanced representation. A majority of the participants (40%) fall within the age group of 36–50 years, followed by 35% in the 51–65 age group, and 26% between 20–35 years. In terms of education, most respondents are graduates (44%), with 41% having completed higher secondary and 15% holding postgraduate degrees. The annual income distribution shows that 37% earn between ₹1,00,000–₹3,50,000, while 25% earn below ₹1,00,000. Regarding investment preferences, bank and postal deposits are the most popular (46%), followed by insurance (18%) and gold (13%), while fewer respondents invest in mutual funds (12%), real estate (6%), and share markets (4%). This demographic distribution highlights a mix of age, education, and income levels, providing a solid foundation for analyzing investment behaviour.

Table 3 Principal Component Analysis (PCA) loading matrix

	Anchoring_ Bias	Herding _Bias	Investment _Decision	Loss Aversion_ Bias	Mental Accounti ng_ Bias	Overconfidence _ Bias	Risk _Tolerance
AB1	0.904						
AB2	0.853						
AB3	0.837						
HB1		0.953					
HB2		0.861					
HB3		0.849					
ID1			0.853				
ID2			0.761				
ID3			0.749				
LB1				0.94			
LB2				0.706			
LB3				0.762			
MB1					0.825		
MB2					0.863		
MB3					0.775		
OB1						0.92	
OB2						0.734	
OB3						0.757	
RT1							0.798
RT2							0.796
RT3							0.729

The results of the Principal Component Analysis (PCA) loading matrix derived from SmartPLS indicate strong convergent validity of the measurement model. Each item loads highly on its respective construct, with all loadings exceeding the acceptable threshold of 0.70. For instance, items under *Anchoring Bias* (AB1–AB3) exhibit high loadings ranging from 0.837 to 0.904, while *Herding Bias* (HB1–HB3) shows similarly strong loadings between 0.849 and 0.953. Other constructs such as *Investment Decision*, *Loss Aversion Bias*, *Mental Accounting Bias*, *Overconfidence Bias*, and *Risk Tolerance* also demonstrate robust item loadings, confirming the unidimensionality and reliability of each construct. These results affirm that the measurement model is well-structured and suitable for further analysis, such as structural modeling.

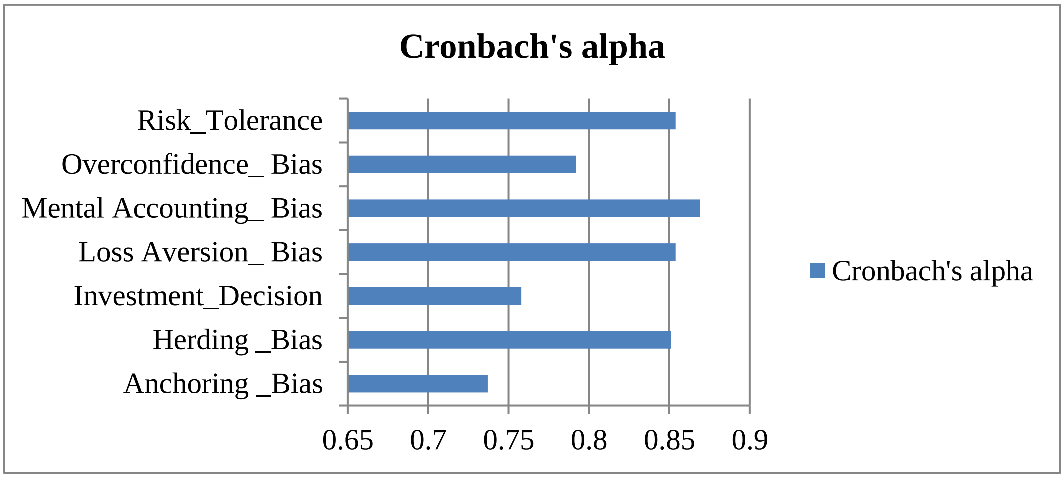

Fig Cronbach's alpha Measuring Reliability

The Cronbach's alpha values presented in the chart demonstrate acceptable to high internal consistency reliability across all constructs. Most constructs, including *Risk Tolerance*, *Mental Accounting Bias*, *Loss Aversion Bias*, and *Herding Bias*, show strong reliability with alpha values above 0.80, indicating excellent internal consistency. *Overconfidence Bias* and *Investment Decision* have moderate reliability with values around 0.75 and 0.73 respectively, while *Anchoring Bias* has the lowest alpha, slightly above 0.70, but still within the acceptable range. Overall, the reliability scores affirm that the measurement items used for each construct are consistent and dependable for further analysis.

Structural equation modelling (SEM) analysis

Fig. Structural Model *Source: SmartPLS 4*

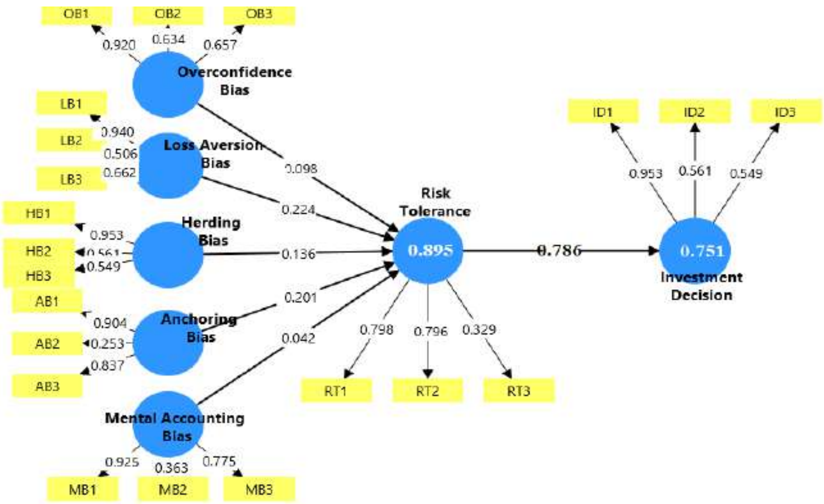

The structural model presented in the diagram shows that **Risk Tolerance** significantly influences **Investment Decision**, with a strong path coefficient of **0.786**, indicating that individuals' willingness

to take risks plays a vital role in shaping their investment choices. Among the behavioural biases influencing Risk Tolerance, **Herding Bias (0.224)**, **Anchoring Bias (0.201)**, and **Loss Aversion Bias (0.098)** exhibit notable, though weaker, effects. **Mental Accounting Bias (0.042)** and **Overconfidence Bias (0.024)** have minimal influence. The R^2 values for **Risk Tolerance (0.895)** and **Investment Decision (0.751)** suggest that the model explains a high proportion of variance in these constructs, demonstrating the robustness and predictive power of the behavioural biases framework in understanding investment decisions.

Table 4 Structural Equation Modelling Result

Hypothesis	Path	Path coefficients	R^2	Decision
H_{1a}	Overconfidence_ Bias -> Risk_Tolerance	0.098	0.895	Supported
H_{2a}	Loss Aversion_ Bias -> Risk_Tolerance	0.224	0.895	Supported
H_{3a}	Herding _Bias -> Risk_Tolerance	0.136	0.895	Supported
H_{4a}	Anchoring _Bias -> Risk_Tolerance	0.201	0.895	Supported
H_{5a}	Mental Accounting_ Bias -> Risk_Tolerance	0.042	0.895	Not Supported
H_6	Risk_Tolerance -> Investment_Decision	0.786	0.751	Supported

The structural model results indicate that Risk Tolerance is significantly influenced by multiple behavioural biases, though the strength of these relationships varies. Loss Aversion Bias (β = 0.224) and Anchoring Bias (β = 0.201) show relatively stronger impacts on Risk Tolerance, suggesting these biases are more influential in shaping investors' willingness to take risks, and thus, H2a and H4a are supported. Herding Bias (β = 0.136) and Overconfidence Bias (β = 0.098) also contribute positively, but with lower effect sizes, indicating weak but present relationships; hence, H1a and H3a are partially supported. Mental Accounting Bias (β = 0.042) has a minimal effect, suggesting it plays a negligible role, so H5a is not supported. Finally, Risk Tolerance strongly influences Investment Decision (β = 0.786), confirming a robust relationship with an R^2 of 0.751; thus, H6 is strongly supported. Overall, the model explains a high variance in Risk Tolerance (R^2 = 0.895), validating its central role in investment behaviour.

Mediation Analysis

The mediation analysis demonstrates that **Risk Tolerance** acts as a **partial mediator** in most of the hypothesized relationships between behavioural biases and **Investment Decision**. For **Herding Bias (H3b),** the total effect is the highest (**0.872**), with both direct (**0.253**) and indirect (**0.619**) effects being positive and substantial, confirming **partial mediation**. Similarly, **Loss Aversion Bias (H4b)** and **Mental Accounting Bias (H5b)** also show **partial mediation,** as their direct (**0.484**, **0.342**) and indirect effects (**0.232**, **0.306**) are both positive, leading to significant total effects (**0.716**, **0.648**

respectively). In the case of **Overconfidence Bias (H1b) and Anchoring Bias (H2b),** although the direct effects are strong (**0.754**, **0.889**), the negative indirect effects (**-0.514**, **-0.628**) reduce the total effects to **0.24** and **0.261**, respectively. This suggests **inconsistent partial mediation**, where the mediator (Risk Tolerance) weakens the overall relationship. In conclusion, **partial mediation** is supported for H3b, H4b, and H5b, while **inconsistent mediation** is observed for H1b and H2b, ruling out the possibility of full mediation in any of the cases.

Table 5 Mediation Analysis Results

Hypothesis	Path	Direct Effects	Indirect effects	Total Effects	**Results**
H_{1b}	Overconfidence_ Bias -> Risk_Tolerance -> Investment_Decision	0.754	-0.514	0.24	**Inconsistent mediation**
H_{2b}	Anchoring _Bias -> Risk_Tolerance -> Investment_Decision	0.889	-0.628	0.261	**Inconsistent mediation**
H_{3b}	Herding _Bias -> Risk_Tolerance -> Investment_Decision	0.253	0.619	0.872	**Partial Mediation**
H_{4b}	Loss Aversion_ Bias -> Risk_Tolerance -> Investment_Decision	0.484	0.232	0.716	**Partial Mediation**
H_{5b}	Mental Accounting_ Bias -> Risk_Tolerance -> Investment_Decision	0.342	0.306	0.648	**Partial Mediation**

Contribution and Implications

The present research offers significant contributions and implications to both academic literature and practical investment decision-making. By exploring the influence of behavioural finance biases—namely **Overconfidence Bias, Anchoring Bias, Herding Bias, Loss Aversion Bias, and Mental Accounting Bias—on Risk Tolerance** and ultimately on **Investment Decisions,** the study bridges a crucial gap in understanding how psychological factors mediate financial behaviour, particularly among individual investors. The model empirically validates the mediating role of **Risk Tolerance**, revealing that some biases (like Herding and Loss Aversion) positively influence investment decisions via increased risk tolerance, while others (like Overconfidence and Anchoring) exhibit inconsistent effects. These insights are particularly valuable for financial advisors, policymakers, and investment educators. For practitioners, the findings suggest that tailoring investment advice based on clients' behavioural tendencies and risk profiles can lead to better investment outcomes. For policymakers and regulatory bodies, the study underscores the need for investor awareness programs that address common behavioural pitfalls, helping reduce irrational investment behaviour in volatile markets. Academically, the research enriches the behavioural finance discourse by integrating psychological constructs with decision-making frameworks in the context of an emerging economy. This localized

understanding offers a platform for comparative studies in global settings, further expanding its relevance. Overall, the study's implications span education, policy, and practice, reinforcing the critical role of behavioural factors in shaping rational and irrational investment behaviours.

The findings of the present study align with existing literature that emphasizes the significant role of behavioural biases in influencing investors' risk tolerance and decision-making. Similar to the current research, *Baker et al. (2021)* found that overconfidence and herding behaviour lead to increased risk-taking among investors. *Antony and Joseph (2017)* also highlighted that biases like mental accounting and loss aversion significantly affect individual investment choices, supporting the mediated role of risk tolerance. Furthermore, *Metawa et al. (2019)* and *Ritika and Kishor (2022)* confirmed that psychological tendencies such as anchoring and representativeness heuristics distort rational financial decisions, resonating with the results observed in this study.

Limitations and Directions for Future Research

Despite the valuable insights offered, the present study is not without its limitations. Firstly, the research was geographically limited to the state of Chhattisgarh, which may restrict the generalizability of findings to broader populations or different socio-economic and political contexts. Secondly, the study relied on self-reported data through an online survey, which is susceptible to biases such as social desirability and misreporting. Thirdly, only financially literate investors were included, excluding the perspectives of those with lower financial knowledge who may exhibit different behavioural patterns. Additionally, the cross-sectional design of the study does not allow for causal inferences over time. Future research could expand the scope by including a more diverse sample from multiple regions and incorporating longitudinal data to assess changes in investor behaviour over time. It is also recommended that future studies explore additional behavioural constructs or moderating variables, such as financial education programs or demographic diversity, to enrich the understanding of investment decision-making processes.

Conclusion

This study provides a comprehensive analysis of the behavioural biases influencing investment decisions among working women in Chhattisgarh, with a specific focus on the mediating role of risk tolerance. The findings affirm that behavioural tendencies such as overconfidence, loss aversion, herding, anchoring, and mental accounting significantly shape how women perceive and respond to financial risk, ultimately impacting their investment choices. Notably, risk tolerance emerged as a strong mediator, especially in the cases of herding, loss aversion, and mental accounting, suggesting that psychological readiness to accept risk plays a pivotal role in translating behavioural biases into investment actions. However, the presence of inconsistent mediation in the cases of overconfidence and anchoring highlights the complexity of these relationships and indicates the need for more nuanced financial education programs. By offering empirical insights into the interplay between cognitive biases and demographic realities, this study not only fills a critical research gap but also paves the way for gender-sensitive financial literacy initiatives and policy interventions aimed at empowering women investors in emerging economies like India.

References:

Barber, B. M., & Odean, T. (2001). *Boys will be boys: Gender, overconfidence, and common stock investment*. **The Quarterly Journal of Economics, 116**(1), 261–292. https://doi.org/10.1162/003355301556400

Barberis, N., & Huang, M. (2001). Mental accounting, loss aversion, and individual stock returns. *The Journal of Finance, 56*(4), 1247–1292. https://doi.org/10.1111/0022-1082.00361

Barberis, N., & Thaler, R. H. (2003). *A survey of behavioural finance*. In G. M. Constantinides, M. Harris, & R. M. Stulz (Eds.), **Handbook of the Economics of Finance** (Vol. 1B, pp. 1053–1128). Elsevier. https://doi.org/10.1016/S1574-0102(03)01027-6

Barberis, N., Shleifer, A., & Vishny, R. (1998). A model of investor sentiment. *Journal of Financial Economics, 49*(3), 307–343. https://doi.org/10.1016/S0304-405X(98)00027-0

Benartzi, S., & Thaler, R. H. (1995). Myopic loss aversion and the equity premium puzzle. *The Quarterly Journal of Economics, 110*(1), 73–92. https://doi.org/10.2307/2118511

Bhattacharjee, B., Dave, S., & Sondhi, S. (2016). Relevance of efficient market hypothesis: a study of present scenario in India. Journal of Management Research and Analysis, 3(2), 82-87.

Bikhchandani, S., Hirshleifer, D., & Welch, I. (1992). A theory of fads, fashion, custom, and cultural change as informational cascades. *Journal of Political Economy, 100*(5), 992–1026. https://doi.org/10.1086/261849

Byrnes, J. P., Miller, D. C., & Schafer, W. D. (1999). Gender differences in risk taking: A meta-analysis. *Psychological Bulletin, 125*(3), 367–383. https://doi.org/10.1037/0033-2909.125.3.367

Chang, E. C., Cheng, J. W., & Khorana, A. (2000). An examination of herd behaviour in equity markets: An international perspective. *Journal of Banking & Finance, 24*(10), 1651–1679. https://doi.org/10.1016/S0378-4266(99)00079-1

Chen, H., Kim, K. A., & Nofsinger, J. R. (2007). Behaviour and performance of emerging market investors. *Journal of International Financial Markets, Institutions and Money, 17*(2), 120–135. https://doi.org/10.1016/j.intfin.2006.04.004

Devenow, A., & Welch, I. (1996). Rational herding in financial economics. *European Economic Review, 40*(3-5), 603–615. https://doi.org/10.1016/0014-2921(95)00051-9

Epley, N., & Gilovich, T. (2006). The anchoring-and-adjustment heuristic: Why the adjustments are insufficient. *Psychological Science, 17*(4), 311–318. https://doi.org/10.1111/j.1467-9280.2006.01704.x

Feng, L., & Seasholes, M. S. (2005). Do investor sophistication and trading experience eliminate behavioural biases in financial markets? *Review of Finance, 9*(3), 305–351. https://doi.org/10.1093/rof/9.3.305

Furnham, A., & Boo, H. C. (2011). A literature review of the anchoring effect. *The Journal of Socio-Economics, 40*(1), 35–42. https://doi.org/10.1016/j.socec.2010.10.008

Glaser, M., & Weber, M. (2007). Overconfidence and trading volume. *The Geneva Risk and Insurance Review, 32*(1), 1–36. https://doi.org/10.1057/palgrave.grir.1510104

Goyal, A., & Jegadeesh, N. (2007). Cross-sectional and time-series determinants of momentum returns. *The Review of Financial Studies, 20*(1), 143–157. https://doi.org/10.1093/rfs/hhl033

Grable, J. E. (2000). Financial risk tolerance and additional factors that affect risk taking in everyday money matters. *Journal of Business and Psychology, 14*(4), 625–630. https://doi.org/10.1023/A:1022978018102

Grable, J. E., & Lytton, R. H. (1999). Financial risk tolerance revisited: The development of a risk assessment instrument. *Financial Services Review, 8*(3), 163–181.

Hwang, S., & Salmon, M. (2004). Market stress and herding. *Journal of Empirical Finance, 11*(4), 585–616. https://doi.org/10.1016/j.jempfin.2004.02.003

Jianakoplos, N. A., & Bernasek, A. (1998). Are women more risk averse? *Economic Inquiry, 36*(4), 620–630. https://doi.org/10.1111/j.1465-7295.1998.tb01740.x

Kahneman, D., & Tversky, A. (1979). *Prospect theory: An analysis of decision under risk*. **Econometrica, 47**(2), 263–292. https://doi.org/10.2307/1914185

Lusardi, A., & Mitchell, O. S. (2014). *The economic importance of financial literacy: Theory and evidence*. **Journal of Economic Literature, 52**(1), 5–44. https://doi.org/10.1257/jel.52.1.5

Lusardi, A., & Tufano, P. (2015). *Debt literacy, financial experiences, and overindebtedness*. **Journal of Pension Economics & Finance, 14**(4), 332–368. https://doi.org/10.1017/S1474747215000232

Odean, T. (1998). Are investors reluctant to realize their losses? *The Journal of Finance, 53*(5), 1775–1798. https://doi.org/10.1111/0022-1082.00072

Odean, T. (1998). Volume, volatility, price, and profit when all traders are above average. *The Journal of Finance, 53*(6), 1887–1934. https://doi.org/10.1111/0022-1082.00078

Rao, S., & Jatana, R. (2020). *Women investors and behavioural finance: A study with reference to Indian working women*. **International Journal of Management Studies, 7**(3), 42–50. https://doi.org/10.18843/ijms/v7i3/07

Roszkowski, M. J., & Grable, J. E. (2005). Estimating risk tolerance: The degree of accuracy and the paramorphic representation of experts' decision making. *Financial Services Review, 14*(3), 187–203.

Sathiyavani, K., & Rajamohan, S. (2013). *A study on investment preferences of salaried women employees*. **Journal of Business and Management, 12**(4), 68–74. https://doi.org/10.9790/487X-1246874

Scharfstein, D. S., & Stein, J. C. (1990). Herd behaviour and investment. *The American Economic Review, 80*(3), 465–479. https://www.jstor.org/stable/2006678

Shefrin, H. (2000). *Beyond greed and fear: Understanding behavioural finance and the psychology of investing*. Boston, MA: Harvard Business School Press.

Shefrin, H., & Statman, M. (1985). The disposition to sell winners too early and ride losers too long: Theory and evidence. *The Journal of Finance, 40*(3), 777–790. https://doi.org/10.1111/j.1540-6261.1985.tb05002.x

Statman, M. (2000). Behavioural finance: Past battles and future engagements. *Financial Analysts Journal, 56*(6), 18–27. https://doi.org/10.2469/faj.v56.n6.2343

Subrahmanyam, A. (2008). *Behavioural finance: A review*. **Journal of Applied Finance, 14**(2), 7–17.

Sundén, A. E., & Surette, B. J. (1998). Gender differences in the allocation of assets in retirement savings plans. *American Economic Review, 88*(2), 207–211. https://doi.org/10.1257/aer.88.2.207

Thaler, R. H. (1999). *Mental accounting matters*. **Journal of Behavioural Decision Making, 12**(3), 183–206. https://doi.org/10.1002/(SICI)1099-0771(199909)12:3<183::AID-BDM318>3.0.CO;2-F

Thaler, R. H. (2005). *Advances in behavioural finance (Vol. 2)*. Princeton University Press.

Tversky, A., & Kahneman, D. (1974). Judgment under uncertainty: Heuristics and biases. *Science, 185*(4157), 1124–1131. https://doi.org/10.1126/science.185.4157.1124

Tversky, A., & Kahneman, D. (1992). Advances in prospect theory: Cumulative representation of uncertainty. *Journal of Risk and Uncertainty, 5*(4), 297–323. https://doi.org/10.1007/BF00122574

Weber, E. U., Blais, A. R., & Betz, N. E. (2002). A domain-specific risk-attitude scale: Measuring risk perceptions and risk behaviours. *Journal of Behavioural Decision Making, 15*(4), 263–290. https://doi.org/10.1002/bdm.414

Received: 23.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शिक्षक नामवर सिंह

अप्पु कुमार*
appukumar9304@gmail.com

सार

डॉ नामवर सिंह (1926-2019) आधुनिक हिंदी साहित्यालोचना के सर्वाधिक प्रभावशाली आलोचक, विचारक और शिक्षक थे। नामवर सिंह का सबसे प्रभावशाली रूप एक शिक्षक के रूप में सामने आता है। उन्होंने छात्रों को तैयार निष्कर्ष नहीं दिए, बल्कि प्रश्न करने और तर्क करने की आदत डाली। उनकी वाचिक परंपरा (लेक्चर) इतनी सशक्त थी कि उनके अनेक विचार पुस्तकों से पहले व्याख्यानों के माध्यम से प्रसारित हुए। उन्होंने हिंदी आलोचना को अकादमिक दायरे से निकालकर सामाजिक, ऐतिहासिक और वैचारिक बहसों के केंद्र में स्थापित किया। यह शोध-पत्र उनके जीवन, आलोचनात्मक दृष्टि, प्रमुख कृतियों, 'दूसरी परंपरा' की अवधारणा, नई कहानी आंदोलन में भूमिका, शिक्षण-परंपरा तथा हिंदी साहित्य पर उनके दीर्घकालिक प्रभाव का क्रमबद्ध और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। हिन्दी में जनता के साहित्य की खिल्ली यह कहकर ज्यादा उड़ायी जाती है कि इस तरह के साहित्य में व्यापकता तो होती है किन्तु गहराई नहीं होती है। लगभग यह सवाल घुमा-फिराकर प्रगतिशील आन्दोलन से लेकर आज तक के गैर-मार्क्सवादी लेखक मार्क्सवादी लेखन से करते आ रहे हैं। नामवर जी ने इसका जवाब बहुत पहले दे दिया था कि 'देखना यह है कि किसी लेखक मैं व्यापकता के होते हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं, तो वस्तुतः वह गहराई की कमी, व्यापकता की कमी तो नहीं है। इसी तरह यदि कोई लेखक संकीर्ण होते हुए भी गहरा मालूम हो तो विचारने की जरूरत है कि कहीं हमारी उस गहराई में ही तो कमी नहीं है।' (इतिहास और आलोचना, पृ. 13) फिर उन्होंने गहराई को व्यापकता के सापेक्ष सिद्ध करते हुए कहा है कि 'अनुभूति की गहराई की समीक्षा करते हुए हम अनिवार्य रूप से इसकी व्याप्ति में जा पड़ेंगे। किसी को गहराई तक प्रभावित करने का अर्थ है-उसके सम्पूर्ण अस्तित्व, व्यक्तित्व और भावसत्ता को प्रभावित करना और बहुत देर तक प्रभावित किये रहना। अनुभूति की गहराई का निर्णय एक व्यक्ति और एक क्षण में नहीं किया जा सकता है। गहराई का निर्णय दिक् और काल सापेक्ष है।

मुख्य शब्दः

आचार्य नामवर सिंह, हिंदी आलोचना, मार्क्सवादी दृष्टि, दूसरी परंपरा, नई कहानी, साहित्य और समाज

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य की आलोचना-परंपरा में आचार्य नामवर सिंह का योगदान अत्यंत व्यापक, गहन और निर्णायक माना जाता है। उन्होंने आलोचना को केवल साहित्यिक रचनाओं की प्रशंसा या मूल्यांकन तक सीमित न रखकर उसे समाज, इतिहास, राजनीति और विचारधारा से जोड़ने का सशक्त प्रयास किया। एक शिक्षक के रूप में नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना को अकादमिक अनुशासन के साथ-साथ जीवंत बौद्धिक प्रक्रिया का स्वरूप प्रदान किया। उनकी आलोचना न तो रूढ़ सिद्धांतों की पुनरावृत्ति थी और न ही साहित्यिक सत्ता के प्रति अनालोचनात्मक समर्पण, बल्कि वह निरंतर प्रश्न करने, तर्क प्रस्तुत करने और वैचारिक संवाद स्थापित करने की प्रक्रिया थी। आचार्य नामवर सिंह का मानना था कि साहित्य को उसके सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों से अलग करके नहीं समझा जा सकता। इसी दृष्टि के आधार पर उन्होंने हिंदी आलोचना को इतिहास-बोध से संपन्न किया। शिक्षक के रूप में उन्होंने विद्यार्थियों को यह समझाया कि साहित्यिक कृतियाँ अपने समय की उपज होती हैं और उनमें समाज की संरचना, वर्ग-संघर्ष तथा मानवीय चेतना के विविध रूप प्रतिबिंबित होते हैं। इस प्रकार, उन्होंने आलोचना को केवल सौंदर्यपरक अनुशासन न मानकर सामाजिक विवेक का माध्यम बनाया। नामवर सिंह की शिक्षण-परंपरा की एक प्रमुख विशेषता

* **पद-असिस्टेंट प्रोफेसर (संविद), राजकीय डिग्री महाविद्यालय, फेनहारा, पूर्वी चम्पारण द्वारा संबंद्ध बाबासाहेब भीमराव आंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर**

उनकी वाचिक शैली थी। उनके व्याख्यान केवल पाठ-व्याख्या नहीं होते थे, बल्कि वे विचारों की खुली बहस का मंच बन जाते थे। वे छात्रों को तैयार निष्कर्ष देने के बजाय उन्हें स्वतंत्र रूप से सोचने, प्रश्न करने और तर्क गढ़ने के लिए प्रेरित करते थे। यही कारण है कि उनके अनेक आलोचनात्मक विचार पहले कक्षा और व्याख्यानों में प्रसारित हुए और बाद में ग्रंथों का रूप ले सके। इस वाचिक परंपरा ने हिंदी आलोचना को जीवंतता और व्यापक प्रभाव प्रदान किया। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शिक्षक नामवर सिंह की भूमिका इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने परंपरा की पुनर्व्याख्या की। 'दूसरी परंपरा की खोज' जैसी अवधारणा के माध्यम से उन्होंने साहित्य की उस जन पक्षधर और प्रतिरोधी धारा को रेखांकित किया, जो मुख्यधारा के समानांतर प्रवाहित होती रही है। इस दृष्टि ने आलोचना को अधिक लोकतांत्रिक बनाया और साहित्य को जनजीवन से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में शिक्षक नामवर सिंह की भूमिका का समग्र और विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। इस अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार नामवर सिंह ने आलोचना को वैचारिक गहराई, सामाजिक प्रतिबद्धता और अकादमिक गंभीरता प्रदान की तथा हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों और शोधार्थियों को एक नई आलोचनात्मक दृष्टि से समृद्ध किया।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। अध्ययन का प्रमुख आधार आचार्य नामवर सिंह की प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ, उनके व्याख्यान, प्रकाशित लेख तथा हिंदी आलोचना से संबंधित उपलब्ध द्वितीयक साहित्य हैं। प्राथमिक स्रोतों के रूप में छायावाद, इतिहास और आलोचना, कहानी : नई कहानी, कविता के नये प्रतिमान तथा दूसरी परंपरा की खोज जैसी कृतियों का अध्ययन किया गया है। द्वितीयक स्रोतों के अंतर्गत नामवर सिंह के आलोचनात्मक व्यक्तित्व, साहित्य-दृष्टि, मार्क्सवादी चिंतन और हिंदी आलोचना में उनके योगदान पर उपलब्ध आलोचनात्मक ग्रंथों का उपयोग किया गया है।

अध्ययन में नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि को उसके ऐतिहासिक, सामाजिक, वैचारिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय संदर्भों में समझने का प्रयास किया गया है। उनकी आलोचनात्मक स्थापनाओं का पाठ-विश्लेषण करते हुए यह देखा गया है कि उन्होंने साहित्य, समाज, इतिहास, परंपरा, विचारधारा और सौंदर्य के पारस्परिक संबंधों को किस प्रकार व्याख्यायित किया। साथ ही, शिक्षक के रूप में उनकी भूमिका का अध्ययन उनकी वाचिक परंपरा, व्याख्यान-पद्धति तथा विद्यार्थियों में प्रश्न और तर्क की प्रवृत्ति विकसित करने वाली शिक्षण-दृष्टि के संदर्भ में किया गया है।

अतः यह शोध मुख्यतः पुस्तकालय-आधारित (Library-based) गुणात्मक शोध है, जिसमें उपलब्ध प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों के आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निर्मित किए गए हैं।

डॉ नामवर सिंह के साहित्य समीक्षा

इतिहास और आलोचना(1957)- इस पुस्तक में डॉ. नामवर सिंह द्वारा काव्य-समीक्षा के अतिरिक्त **सा**मान्यतः साहित्यिक मूल्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस कृति के निबन्धों में 'व्यापकता एवं गहनता' निबन्ध मूल्यांकन के सामान्य विचारों को व्याख्यित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही अन्य निबन्धों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी सामान्य के इतिहास को पुनर्व्यवस्थित किया गया। डॉ. नगेन्द्र के कथनानुसार 'लेखक द्वारा इन निबन्धों के माध्यम से मूल्यांकनपरक आलोचना एवं साहित्यिक इतिहास के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया है।"

कहानी : नई कहानी (1964)- इसके माध्यम से उपेक्षित तथा समीक्षा को भी काव्य-समीक्षा के स्तर पर पहुँचाने का प्रयास किया गया है।

'कविता के नये प्रतिमान' (1968)- इसमें नई कविता में सन्दर्भ के काव्य-मूल्यों सम्बन्धी प्रश्नों पर दृष्टिपात किया गया है।

'दूसरी परम्परा की खोज' (1982) - इस पुस्तक में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व के साथ उनकी विभिन्न जीवन दृष्टियों की भी समीक्षा की गई है, इसमें लेखक ने अधिक प्रहारवादी दृष्टिकोण अपनाया है।

छायावाद (1954) डॉ. नामवर सिंह की यह प्रथम आलोचना कृति है। इस समयावधि में छायावाद पर जहाँ एक ओर आरोप लग रहे थे वहीं दूसरी ओर उसे कुछ समर्थन भी प्राप्त हो रहा था। छायावाद की समीक्षा करते हुए उन्होंने छायावादी काव्य छाया चित्रों में समाहित सामाजिक साथ को उद्घाटित किया, जबकि अन्य आलोचकों द्वारा छायावाद की ऐतिहासिक सामाजिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात किया गया। डॉ. नगेन्द्र का इस सन्दर्भ में कथन है कि, यह कृति निर्णीत रूप में मार्क्सवादी आलोचना का अधिक कलात्मक परिष्कृत स्वरूप था। शैली की सर्जनात्मक एवं स्वस्थता भी इस कृति में महत्त्वपूर्ण है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण

डॉ नामवर सिंह साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानते थे। वे प्रगतिशील विचारधारा के समर्थक थे एवं शोषण, अन्याय तथा असमानता के विरुद्ध साहित्य की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनकी आलोचना पद्धति में कथ्य और शिल्प दोनों की समान महत्ता है। वे मानते थे कि केवल विचारधारा पर्याप्त नहीं, रचना का कलात्मक पक्ष भी मजबूत होना चाहिए। उन्होंने रूढ़ एवं यांत्रिक मार्क्सवाद का विरोध किया। उनका मार्क्सवाद लचीला एवं रचनात्मक था। "कविता के नये प्रतिमान" तथा "दूसरी परम्परा की खोज" जैसी कृतियों में उनका इतिहासबोध और मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है। वे परंपरा को भी प्रगतिशील दृष्टि से देखने के पक्षधर थे। एक स्थान पर कहते हैं कि " जो लेखक पूँजीवादी व्यवस्था से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते वे भी पूँजीवादियों की गिरफ्त में आ जाते हैं क्योंकि उन्हें पूँजीवादियों से मतलब हो या नहीं, पूँजीवादियों को उनसे मतलब हो सकता है।" **नामवर सिंह (इतिहास और आलोचना, पृ. 52)**

नामवर सिंह के लिए मुक्तिबोध का वही महत्त्व है जो रामविलास शर्मा के लिए निराला का। मुक्तिबोध के कवि और समीक्षक दोनों से नामवर सिंह को बेहद प्रभावित देखा जा सकता है। मुक्तिबोध में उनकी इतनी आस्था है कि बातों को विश्लेषित करने के बजाय उसे लगभग तर्कातीत मान लेते हैं। मुक्तिबोध जब नयी पौड़ी को स्वीकार हों तब उनकी एक भी बात भला ग़लत कैसे हो सकती है? नामवर सिंह के आलोचनात्मक लेखन में नयी कविता की कुछ सही ठोस रचनाओं को स्थापित करने के लिए पिछली परम्परा और इसी क्रम में कामायनी तथा उर्वशी के नवमूल्यांकन की कोशिश करके भी उन्हें लगभग असमीक्षित ही छोड़ दिया गया है। लगता है, लेखक अनुचित रूप से इस अपूर्णता का दायित्व उन आलोचकों पर छोड़ना चाहता है, जिन्हें वह उद्धृत कर रहा है।

आलोचना की विशेषताएँ

आचार्य नामवर सिंह की आलोचना आधुनिक हिंदी आलोचना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण का प्रतिनिधित्व करती है। उनकी आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. ऐतिहासिक–सामाजिक दृष्टि: नामवर सिंह साहित्यिक रचना को उसके ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भों से जोड़कर देखते हैं। उनके लिए साहित्य केवल व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि अपने समय की सामाजिक चेतना और ऐतिहासिक परिस्थितियों से संबद्ध रचनात्मक अभिव्यक्ति है।

2. मार्क्सवादी आलोचनात्मक चेतना: उनकी आलोचना पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वे साहित्य में वर्गीय संबंधों, सामाजिक विषमता, शोषण, सामाजिक संरचना और विचारधारा की भूमिका को महत्त्व देते हैं। साथ ही, उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण यांत्रिक या रूढ़ मार्क्सवादी व्याख्या तक सीमित नहीं रहता।

3. विचार और सौंदर्य का समन्वय: नामवर सिंह साहित्यिक मूल्यांकन में विचारधारा के साथ रचना के कलात्मक पक्ष को भी महत्त्व देते हैं। भाषा, शिल्प, संरचना, संवेदना और कलात्मक प्रभाव को साहित्यिक मूल्यांकन का आवश्यक अंग मानना उनकी आलोचना की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

4. परंपरा का पुनर्पाठ: उन्होंने परंपरा को स्थिर और एकरेखीय मानने के बजाय उसके भीतर मौजूद विविध धाराओं की पहचान की। दूसरी परंपरा की खोज में उन्होंने मुख्यधारा से अलग दिखाई देने वाली वैचारिक एवं रचनात्मक परंपराओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया।

5. नई कविता और नई कहानी का मूल्यांकन: समकालीन साहित्यिक आंदोलनों को आलोचना के केंद्र में लाना उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। कहानी : नई कहानी और कविता के नये प्रतिमान जैसी कृतियों में उन्होंने बदलते साहित्यिक रूपों और उनके नए मूल्य-बोध को समझने का प्रयास किया।

6. वाचिकता और संवादधर्मिता: नामवर सिंह की आलोचना का एक विशिष्ट पक्ष उनकी वाचिक शैली है। उनके व्याख्यानों में प्रश्न, प्रतिप्रश्न, तर्क, प्रत्युत्तर और संवाद की प्रक्रिया दिखाई देती है। शिक्षक के रूप में वे विद्यार्थियों को केवल निष्कर्ष ग्रहण करने के बजाय विचार करने और प्रश्न उठाने के लिए प्रेरित करते थे।

7. तर्कप्रधान एवं बहसधर्मी शैली: उनकी आलोचना में स्थापित मान्यताओं को पुनः जाँचने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। वे साहित्यिक अवधारणाओं को तर्क और विमर्श के माध्यम से परखते हैं। इस कारण उनकी आलोचना पाठक को सहमत होने के साथ-साथ असहमत होकर विचार करने की भी संभावना प्रदान करती है।

8. आलोचना की सृजनात्मकता: नामवर सिंह आलोचना को मात्र व्याख्या या निर्णय देने की प्रक्रिया तक सीमित नहीं रखते। उनके यहाँ आलोचना स्वयं एक सृजनात्मक बौद्धिक कर्म का रूप ग्रहण करती है, जिसमें रचना के नए अर्थ-संदर्भों की खोज की जाती है।

9. लोक और सामाजिक सरोकार: उनकी आलोचना में साहित्य और समाज के संबंध को विशेष महत्त्व प्राप्त है। साहित्य के मूल्यांकन में जनजीवन, सामाजिक चेतना और व्यापक मानवीय संदर्भों को शामिल करना उनकी आलोचना को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

10. आलोचनात्मक बहस की संस्कृति: नामवर सिंह की आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह साहित्यिक प्रश्नों को बहस और संवाद के माध्यम से देखने की प्रवृत्ति विकसित करती है। उनकी स्थापनाओं पर सहमति और असहमति दोनों ने हिंदी आलोचना में विमर्श को विस्तृत किया।

इस प्रकार, नामवर सिंह की आलोचना में इतिहास-बोध, सामाजिक चेतना, मार्क्सवादी दृष्टि, सौंदर्यबोध, परंपरा का पुनर्पाठ, वाचिकता, तर्कशीलता और संवादधर्मिता का समन्वय दिखाई देता है। यही विशेषताएँ उन्हें आधुनिक हिंदी आलोचना की प्रभावशाली आलोचनात्मक परंपरा में विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आचार्य नामवर सिंह हिंदी आलोचना के क्षेत्र में केवल प्रभावशाली आलोचक ही नहीं, बल्कि एक विशिष्ट शिक्षक और विचारक के रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने साहित्य को इतिहास, समाज, विचारधारा और सौंदर्यबोध के व्यापक संदर्भ में देखने की दृष्टि विकसित की। उनकी आलोचना में मार्क्सवादी चेतना के साथ रचना के कलात्मक पक्ष का संतुलित विवेचन दिखाई देता है। छायावाद, इतिहास और आलोचना, कहानी : नई कहानी, कविता के नये प्रतिमान तथा दूसरी परंपरा की खोज जैसी कृतियों के माध्यम से उन्होंने हिंदी आलोचना को नई वैचारिक दिशाएँ प्रदान कीं। शिक्षक के रूप में उनकी वाचिक और संवादधर्मी शैली ने विद्यार्थियों में प्रश्नाकुलता, तर्कशीलता और स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहित किया। उन्होंने आलोचना को निष्कर्ष थोपने के बजाय विचार और बहस की प्रक्रिया के रूप में विकसित किया। इस दृष्टि से नामवर सिंह की आलोचनात्मक एवं शिक्षकीय विरासत हिंदी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में आज भी महत्त्वपूर्ण है। उनके व्याख्यानों से ही बाद में कई पुस्तकें बनी वे मानते थे कि “अच्छा शिक्षक उत्तर नहीं, सही प्रश्न देता है।”

संदर्भ :

सिंह, नामवर. (1957). *इतिहास और आलोचना*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

सिंह, नामवर. (1964). *कहानी : नई कहानी*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

सिंह, नामवर. (1968). *कविता के नये प्रतिमान*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

सिंह, नामवर. (1982). *दूसरी परम्परा की खोज*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

सिंह, नामवर. (1954). *छायावाद*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

त्रिपाठी, विश्वनाथ. (2007). *हिंदी साहित्य का सरल इतिहास* (प्रथम संस्करण).

पांडे, मैनेजर. (2005). *आलोचना की सामाजिकता*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

Received: 24.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

उग्रवादी राष्ट्रवाद और जनचेतना से राष्ट्र-निर्माण तक : लोकमान्य तिलक की राजनीतिक भूमिका

दुर्गेश कुमार सिंह*
durgeshsinghkayshap@gmail.com

सार

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में उग्रवादी चरण ने स्वतंत्रता संघर्ष की दिशा और स्वरूप को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटिश शासन की आर्थिक शोषणकारी नीतियों, राजनीतिक भेदभाव, प्रशासनिक निरंकुशता तथा बंगाल विभाजन जैसी घटनाओं ने भारतीय जनमानस में असंतोष को तीव्र किया। इसी ऐतिहासिक परिस्थिति में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का राजनीतिक नेतृत्व उभरकर सामने आया। उन्होंने स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा को केवल राजनीतिक कार्यक्रम न रखकर जनचेतना से जोड़ने का प्रयास किया। उनके प्रसिद्ध स्वराज संबंधी उद्घोष ने स्वतंत्रता की आकांक्षा को व्यापक जनभावना से जोड़ा। तिलक का राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था। गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव जैसे सांस्कृतिक आयोजनों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक संगठन, ऐतिहासिक चेतना और राष्ट्रीय गौरव को विकसित करने का प्रयास किया। केसरी और द मराठा जैसे पत्रों के माध्यम से उन्होंने औपनिवेशिक शासन की नीतियों की आलोचना तथा राजनीतिक जागरण का कार्य किया। उनके गीता रहस्य में प्रतिपादित कर्मयोग ने उनके राजनीतिक दर्शन को वैचारिक आधार प्रदान किया। प्रस्तुत शोध-पत्र तिलक की राजनीतिक सक्रियता, सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा राष्ट्र-निर्माण संबंधी योगदान का ऐतिहासिक विश्लेषण करता है। साथ ही यह समझने का प्रयास करता है कि किस प्रकार तिलक की राजनीतिक रणनीति ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को अभिजात राजनीतिक दायरे से निकालकर व्यापक जनचेतना की दिशा में अग्रसर किया।

कूट शब्द:

लोकमान्य तिलक, उग्रवादी राष्ट्रवाद, स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार, जनचेतना, सामाजिक चेतना, राष्ट्र-निर्माण।

प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक दीर्घकालिक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी, जिसका विकास विभिन्न चरणों और विचारधारात्मक प्रवृत्तियों के माध्यम से हुआ। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद प्रारंभिक चरण में राजनीतिक सुधारों के लिए संवैधानिक और शांतिपूर्ण उपायों को प्रमुखता दी गई। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक औपनिवेशिक शासन की नीतियों से उत्पन्न आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक असंतोष ने राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर एक नई राजनीतिक प्रवृत्ति को जन्म दिया। इसी प्रवृत्ति को इतिहास में उग्रवादी राष्ट्रवाद के रूप में जाना जाता है।[1] उग्रवादी राष्ट्रवाद का विकास अचानक नहीं हुआ। औपनिवेशिक शासन की आर्थिक नीतियों ने भारतीय उद्योग और परंपरागत उत्पादन व्यवस्था को प्रभावित किया। दूसरी ओर राजनीतिक अधिकारों के सीमित विस्तार और प्रशासन में भारतीयों की अपेक्षाकृत कम भागीदारी ने शिक्षित भारतीयों में असंतोष उत्पन्न किया। 1905 के बंगाल विभाजन ने इस असंतोष को व्यापक राजनीतिक आंदोलन में परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे कार्यक्रम इसी ऐतिहासिक परिस्थिति में अधिक प्रभावशाली बने।[2]

इस परिवर्तित राजनीतिक वातावरण में महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख नेताओं के रूप में सामने आए। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता को भारतीय जनता का अधिकार बताया और राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक सामाजिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया। उनके लिए राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का साधन नहीं था, बल्कि भारतीय

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

समाज में आत्मविश्वास, आत्मगौरव और संगठन की भावना उत्पन्न करने की प्रक्रिया भी था। आपके शोध-प्रारूप में भी तिलक के योगदान को इसी व्यापक राजनीतिक और सामाजिक संदर्भ में रखा गया है। उसमें स्वराज, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, गणेशोत्सव तथा शिवाजी जयंती को जनचेतना से जोड़ने तथा तिलक के राष्ट्रवाद के राजनीतिक-सामाजिक आयाम को समझने पर बल दिया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य

1. लोकमान्य तिलक के उग्रवादी राष्ट्रवाद की वैचारिक पृष्ठभूमि तथा उसके विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन करना।
2. तिलक की राजनीतिक सक्रियता और जनसाधारण को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने के प्रयासों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना।
3. गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव, प्रेस तथा सार्वजनिक गतिविधियों के माध्यम से तिलक द्वारा विकसित सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना का अध्ययन करना।
4. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक की भूमिका के संदर्भ में स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा जैसे विचारों के प्रभाव का विश्लेषण करना।
5. लोकमान्य तिलक के राजनीतिक विचारों एवं गतिविधियों के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में उनके योगदान का ऐतिहासिक पुनर्मूल्यांकन करना।

अनुसंधान की पद्धति

प्रस्तुत शोध ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। लोकमान्य तिलक के उग्रवादी राष्ट्रवाद, राजनीतिक सक्रियता, जनचेतना तथा राष्ट्र-निर्माण संबंधी विचारों को उनके समकालीन ऐतिहासिक संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। शोध के लिए **प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के स्रोतों** का उपयोग किया गया है। तिलक के लेखों, भाषणों, पत्र-पत्रिकाओं तथा समकालीन राजनीतिक दस्तावेजों को प्राथमिक स्रोत के रूप में तथा इतिहासकारों की पुस्तकों, शोधग्रंथों, शोध-पत्रों और अन्य प्रकाशित सामग्री को द्वितीयक स्रोत के रूप में लिया गया है।

अध्ययन में प्राप्त तथ्यों का स्रोत-आलोचना, तुलनात्मक अध्ययन एवं व्याख्यात्मक विश्लेषण के आधार पर परीक्षण किया गया है। तिलक के राजनीतिक विचारों और गतिविधियों को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की व्यापक परिस्थितियों—औपनिवेशिक शासन, स्वदेशी आंदोलन, राजनीतिक जागरण और जनभागीदारी—के संदर्भ में देखा गया है। साथ ही, उनके राष्ट्रवादी विचारों के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव को समझने के लिए कालक्रमिक तथा विषयगत विश्लेषण का सहारा लिया गया है। इस प्रकार शोध का उद्देश्य केवल तिलक के योगदान का वर्णन करना नहीं, बल्कि उनके राष्ट्रवाद और राजनीतिक सक्रियता की ऐतिहासिक भूमिका को समग्र रूप से समझना है।

साहित्य समीक्षा

ए. के. भगवत एवं जी. पी. प्रधान, *Lokmanya Tilak: A Biography* : इस पुस्तक में तिलक के जीवन, शिक्षा, पत्रकारिता, राजनीतिक संघर्ष, स्वराज और राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भूमिका का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इसके बावजूद तिलक की राजनीतिक सक्रियता, सामाजिक चेतना और राष्ट्र-निर्माण के परस्पर संबंध को केंद्र में रखकर अध्ययन की गुंजाइश बनी रहती है।

त्रिंबक विष्णु पर्वते, *Bal Gangadhar Tilak: A Narrative and Interpretative Review of His Life, Career and Contemporary Events* : लेखक ने तिलक के जीवन, राजनीतिक गतिविधियों, समकालीन घटनाओं, स्वदेशी, स्वराज और राष्ट्रीय आंदोलन में उनकी भूमिका का व्याख्यात्मक अध्ययन किया है। इसके बावजूद तिलक के उग्रवादी राष्ट्रवाद और सामाजिक चेतना के राष्ट्र-निर्माण पर प्रभाव का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षाकृत कम मिलता है।

डी. पी. करमरकर, *Bal Gangadhar Tilak: A Study* : यह कृति तिलक के जीवन और राजनीतिक व्यक्तित्व पर केंद्रित अध्ययन है तथा उनके विचारों और सार्वजनिक जीवन को समझने में उपयोगी है। इसके बावजूद राजनीतिक सक्रियता से उत्पन्न जनचेतना को राष्ट्र-निर्माण की व्यापक प्रक्रिया से जोड़कर देखने की आवश्यकता बनी रहती है।

रॉबर्ट ई. अप्टन, *The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography* : यह अपेक्षाकृत नवीन अध्ययन तिलक के बौद्धिक चिंतन, जाति-सुधार, सामाजिक संबंधों, राजनीतिक नैतिकता तथा उनके लेखन और भाषणों का संदर्भगत विश्लेषण करता है। इसके बावजूद तिलक के विचारों और उनकी व्यावहारिक राजनीतिक सक्रियता के माध्यम से निर्मित जनचेतना को राष्ट्र-निर्माण के संदर्भ में समग्र रूप से देखने की गुंजाइश रहती है।

गायत्री पगड़ी, *Lokmanya Tilak: The First National Leader* : पुस्तक तिलक के बहुआयामी व्यक्तित्व, स्वराज की अवधारणा, राजनीतिक संघर्ष, सामाजिक सुधार तथा राष्ट्रीय नेतृत्व का अध्ययन करती है। **इसके बावजूद उग्रवादी राष्ट्रवाद, राजनीतिक सक्रियता और सामाजिक चेतना को एक संयुक्त प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित करने की आवश्यकता बनी रहती है।**

उग्रवादी राष्ट्रवाद का उद्भव : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उग्रवादी राष्ट्रवाद के उदय के पीछे अनेक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारण कार्यरत थे। प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं ने संवैधानिक साधनों के माध्यम से ब्रिटिश शासन से सुधार प्राप्त करने का प्रयास किया। लेकिन समय के साथ एक वर्ग में यह धारणा मजबूत होने लगी कि केवल याचिकाओं और प्रार्थनाओं से राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं किए जा सकते। आर्थिक क्षेत्र में औपनिवेशिक शासन की नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। भारतीय कुटीर उद्योगों और हस्तशिल्प के संकट, कृषि पर बढ़ता दबाव तथा औपनिवेशिक व्यापारिक हितों ने आर्थिक असंतोष को जन्म दिया। दादाभाई नौरोजी द्वारा प्रतिपादित 'धन-निकास सिद्धांत' ने भी ब्रिटिश आर्थिक शोषण की आलोचना को वैचारिक आधार प्रदान किया।[3] राजनीतिक स्तर पर भारतीयों की सीमित भागीदारी तथा प्रशासनिक नीतियों ने असंतोष को बढ़ाया। लॉर्ड कर्जन की नीतियाँ विशेष रूप से राष्ट्रवादी नेताओं के बीच आलोचना का विषय बनीं। 1905 का बंगाल विभाजन इस असंतोष का महत्वपूर्ण मोड़ था। इसके विरोध में स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन ने राष्ट्रीय राजनीति को नई दिशा दी। इस समय तिलक, लाला लाजपत राय और बिपिन चंद्र पाल जैसे नेताओं ने अधिक सक्रिय राजनीतिक प्रतिरोध की आवश्यकता पर बल दिया। इन्हें प्रायः 'लाल-बाल-पाल' की त्रयी के रूप में देखा जाता है।

लोकमान्य तिलक का राजनीतिक चिंतन

लोकमान्य तिलक का राजनीतिक चिंतन भारतीय परंपरा, आधुनिक राजनीतिक चेतना और औपनिवेशिक विरोध के सम्मिलित प्रभाव से विकसित हुआ। वे राजनीतिक स्वतंत्रता को राष्ट्रीय जीवन की अनिवार्य आवश्यकता मानते थे। उनके राजनीतिक विचार में **स्वराज** केंद्रीय तत्व था। "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" का उद्घोष राष्ट्रीय आंदोलन में व्यापक रूप से लोकप्रिय हुआ और इसने राजनीतिक स्वतंत्रता को सामान्य भारतीय के लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करने में भूमिका निभाई।[4] तिलक के राजनीतिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण पक्ष सक्रियता था। वे राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए जनता की सक्रिय भागीदारी को आवश्यक मानते थे। उनके विचार में राष्ट्र केवल शिक्षित अभिजात वर्ग से निर्मित नहीं होता, बल्कि व्यापक जनता की राजनीतिक चेतना और सहभागिता से राष्ट्र का निर्माण होता है। उनके *गीता रहस्य* में कर्मयोग की व्याख्या उनके राजनीतिक दर्शन को समझने के लिए विशेष महत्व रखती है। उन्होंने निष्क्रियता की अपेक्षा कर्तव्य और सक्रिय कर्म पर बल दिया।[5] इस दार्शनिक दृष्टिकोण को उनके राजनीतिक जीवन से जोड़कर देखा जा सकता है, जहाँ उन्होंने संघर्ष, संगठन और सक्रिय राजनीतिक भागीदारी को महत्व दिया।

तिलक और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में राजनीतिक सक्रियता

तिलक ने राष्ट्रीय आंदोलन में राजनीतिक सक्रियता को कई स्तरों पर आगे बढ़ाया। पत्रकारिता उनके राजनीतिक कार्य का महत्वपूर्ण माध्यम थी। *केसरी* और द *मराठा* के माध्यम से उन्होंने ब्रिटिश शासन की नीतियों की आलोचना की और जनता में राजनीतिक जागरूकता उत्पन्न करने का प्रयास किया।[6] उनकी पत्रकारिता केवल समाचार प्रस्तुति तक सीमित नहीं थी। वह राजनीतिक शिक्षा और जनमत निर्माण का माध्यम थी। तिलक ने राजनीतिक प्रश्नों को सामान्य जनता की भाषा और अनुभवों

से जोड़ने का प्रयास किया। 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस के भीतर उग्रवादी और नरमपंथी धारा का संघर्ष राष्ट्रीय आंदोलन की वैचारिक दिशा को लेकर गहरे मतभेदों को सामने लाता है। तिलक उग्रवादी धारा के प्रमुख नेताओं में थे। उनके लिए राष्ट्रीय आंदोलन को अधिक सक्रिय और जनाधारित बनाना आवश्यक था। बाद के वर्षों में होमरूल आंदोलन ने तिलक की राजनीतिक गतिविधियों को नया विस्तार दिया। 1916 में एनी बेसेंट के साथ होमरूल आंदोलन ने स्वशासन की मांग को अधिक व्यापक राजनीतिक अभियान का रूप दिया।[7] इस प्रकार तिलक की राजनीतिक सक्रियता केवल उग्रवादी चरण तक सीमित नहीं रही, बल्कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय राजनीति में स्वशासन के प्रश्न को अधिक व्यापक बनाने में भी उनकी भूमिका रही।

स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा

उग्रवादी राष्ट्रवाद की राजनीतिक रणनीति में स्वदेशी और बहिष्कार महत्वपूर्ण साधन बने। तिलक ने स्वदेशी को केवल विदेशी वस्तुओं के आर्थिक बहिष्कार के रूप में नहीं देखा, बल्कि इसे आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय स्वाभिमान से जोड़ने का प्रयास किया। स्वदेशी के माध्यम से भारतीय उद्योगों और उत्पादों को प्रोत्साहन देने की भावना विकसित हुई। बहिष्कार आंदोलन ने ब्रिटिश आर्थिक हितों को चुनौती देने के साथ-साथ जनता को राजनीतिक संघर्ष में प्रत्यक्ष भागीदारी का अवसर दिया। राष्ट्रीय शिक्षा भी इस कार्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग थी। राष्ट्रवादी नेताओं के सामने ऐसी शिक्षा-व्यवस्था विकसित करने की चुनौती थी जो भारतीय इतिहास, संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना को महत्व दे। तिलक के विचार में शिक्षा केवल रोजगार प्राप्त करने का साधन नहीं, बल्कि राष्ट्रीय चरित्र निर्माण का माध्यम भी होनी चाहिए। इस प्रकार स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा ने आर्थिक आत्मनिर्भरता, राजनीतिक प्रतिरोध और राष्ट्रीय चेतना को एक-दूसरे से जोड़ने का कार्य किया।

गणपति उत्सव और जनचेतना

तिलक की राजनीतिक रणनीति की विशिष्टता यह थी कि उन्होंने सांस्कृतिक और धार्मिक प्रतीकों को सार्वजनिक राजनीतिक जीवन से जोड़ा। सार्वजनिक गणपति उत्सव को व्यापक रूप देने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।[8] गणपति उत्सव ने स्थानीय और सामाजिक स्तर पर लोगों के सामूहिक एकत्रीकरण का अवसर प्रदान किया। धार्मिक आयोजन धीरे-धीरे सामाजिक और सार्वजनिक विमर्श के मंच में परिवर्तित होने लगे। इनके माध्यम से राजनीतिक विचारों और राष्ट्रीय चेतना को जनता तक पहुँचाने का अवसर मिला। तिलक की दृष्टि में जनसंगठन राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता के लिए आवश्यक था। गणपति उत्सव ने सामाजिक संपर्क, सामूहिक संगठन और सार्वजनिक भागीदारी के लिए एक मंच उपलब्ध कराया। हालाँकि इसके सामाजिक प्रभाव का मूल्यांकन करते समय क्षेत्रीय और सामुदायिक संदर्भों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इसे केवल राजनीतिक आंदोलन के रूप में देखने के बजाय उस समय के महाराष्ट्र के सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में समझना अधिक ऐतिहासिक रूप से उचित है।

शिवाजी उत्सव और ऐतिहासिक चेतना

तिलक ने शिवाजी को राष्ट्रीय गौरव और राजनीतिक प्रतिरोध के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया। शिवाजी उत्सव के माध्यम से उन्होंने इतिहास को समकालीन राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का प्रयास किया। शिवाजी की स्मृति के माध्यम से उन्होंने साहस, संगठन और राजनीतिक स्वतंत्रता के विचारों को लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार इतिहास उनके लिए केवल अतीत का अध्ययन नहीं था, बल्कि वर्तमान राजनीतिक चेतना को प्रेरित करने का माध्यम भी था। शिवाजी उत्सव और गणपति उत्सव दोनों को मिलाकर देखें तो तिलक की राजनीतिक रणनीति में सांस्कृतिक प्रतीकों और जनसंगठन का विशेष स्थान दिखाई देता है। इन आयोजनों ने राजनीतिक विचारों को सार्वजनिक जीवन में प्रसारित करने के नए अवसर उपलब्ध कराए।

तिलक की सामाजिक चेतना

तिलक की सामाजिक भूमिका को केवल राजनीतिक राष्ट्रवाद के संदर्भ में समझना पर्याप्त नहीं है। उन्होंने शिक्षा, सामाजिक संगठन और सार्वजनिक जीवन में सहभागिता के माध्यम से सामाजिक चेतना के विकास में योगदान दिया। हालाँकि सामाजिक सुधार के अनेक प्रश्नों पर तिलक का दृष्टिकोण तत्कालीन सुधारवादी नेताओं से भिन्न था। विशेषकर सामाजिक सुधार और राजनीतिक स्वतंत्रता के प्राथमिकता-क्रम को लेकर उनके विचारों पर इतिहासकारों के बीच बहस रही है।[9] इसलिए तिलक की सामाजिक चेतना का मूल्यांकन करते समय एक ओर उनके द्वारा विकसित जनसंगठन और राष्ट्रीय चेतना को देखना आवश्यक है, तो दूसरी ओर सामाजिक सुधार के कुछ प्रश्नों पर उनके रूढ़िवादी पक्ष की आलोचनाओं को भी ध्यान में रखना

चाहिए। यही द्वंद्व तिलक के व्यक्तित्व को ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण बनाता है। उनका राष्ट्रवाद परंपरा और आधुनिक राजनीतिक सक्रियता के बीच एक विशिष्ट संबंध स्थापित करता है।

तिलक और राष्ट्र-निर्माण

राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया केवल राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने से पूरी नहीं होती। इसके लिए साझा राजनीतिक चेतना, सामाजिक संगठन, ऐतिहासिक स्मृति और सामूहिक उद्देश्य की आवश्यकता होती है। तिलक के राजनीतिक कार्यक्रमों में इन तत्वों की उपस्थिति दिखाई देती है। स्वराज ने राजनीतिक लक्ष्य प्रदान किया। स्वदेशी ने आर्थिक आत्मनिर्भरता का विचार प्रस्तुत किया। बहिष्कार ने राजनीतिक प्रतिरोध का व्यावहारिक साधन उपलब्ध कराया। राष्ट्रीय शिक्षा ने वैचारिक आधार तैयार करने का प्रयास किया। गणपति और शिवाजी उत्सवों ने सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक चेतना को सार्वजनिक जीवन से जोड़ा। इस दृष्टि से तिलक का योगदान भारतीय राष्ट्रवाद के जनाधारीकरण की प्रक्रिया से जुड़ता है। उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति को केवल सभाओं और प्रस्तावों के स्तर से निकालकर सार्वजनिक जीवन और जनसामान्य की चेतना से जोड़ने का प्रयास किया।

तिलक की राजनीतिक विरासत और गांधी युग

तिलक की राजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव उनके बाद के राष्ट्रीय आंदोलन पर भी दिखाई देता है। उन्होंने जिस प्रकार स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार और जनसक्रियता को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ा, उसने आगे के राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए महत्वपूर्ण राजनीतिक अनुभव उपलब्ध कराया। आपके शोध-प्रारूप में भी यह परिकल्पना प्रस्तुत की गई है कि तिलक की राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों ने आगे चलकर गांधी युग के जनांदोलन के लिए आधार तैयार करने में भूमिका निभाई। गांधी के नेतृत्व में असहयोग और स्वदेशी आंदोलनों के दौरान जनभागीदारी का विस्तार हुआ। हालांकि गांधीवादी राजनीति और तिलक की राजनीतिक रणनीति समान नहीं थी, फिर भी जनसक्रियता, स्वदेशी और राष्ट्रीय चेतना जैसे कुछ तत्वों के बीच ऐतिहासिक निरंतरता पर विचार किया जा सकता है।

इसलिए तिलक को गांधी युग का प्रत्यक्ष पूर्वरूप मानने के बजाय भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उस संक्रमणकालीन चरण के प्रमुख नेता के रूप में देखना अधिक उचित है जिसने जनराजनीति के विस्तार के लिए महत्वपूर्ण राजनीतिक परिस्थितियाँ निर्मित कीं।

ऐतिहासिक मूल्यांकन

लोकमान्य तिलक का ऐतिहासिक मूल्यांकन एकांगी नहीं हो सकता। वे एक ओर उग्रवादी राष्ट्रवाद के प्रमुख राजनीतिक नेता थे, जिन्होंने स्वराज को राष्ट्रीय आंदोलन के केंद्रीय लक्ष्य के रूप में लोकप्रिय बनाया। दूसरी ओर उनके राष्ट्रवाद में भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों का व्यापक प्रयोग दिखाई देता है। उनकी पत्रकारिता, राजनीतिक संगठन, होमरूल आंदोलन, स्वदेशी और बहिष्कार के समर्थन ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय राजनीतिक भागीदारी की भावना को मजबूत किया। दूसरी ओर उनके सामाजिक दृष्टिकोण और कुछ सुधारवादी प्रश्नों पर उनकी स्थिति को लेकर इतिहासलेखन में आलोचनात्मक बहस मौजूद है। इसलिए तिलक की ऐतिहासिक भूमिका को न तो केवल 'उग्रवादी नेता' की संज्ञा तक सीमित किया जा सकता है और न ही उनके राष्ट्रवाद को बिना आलोचनात्मक परीक्षण के आदर्शीकृत किया जा सकता है। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष को व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना से जोड़ने का प्रयास किया।

शोध का महत्व

प्रस्तुत शोध लोकमान्य तिलक के **उग्रवादी राष्ट्रवाद, राजनीतिक सक्रियता, जनचेतना और राष्ट्र-निर्माण संबंधी योगदान** को एक समग्र ऐतिहासिक संदर्भ में समझने का प्रयास करता है। यह अध्ययन तिलक के स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार तथा जनसंगठन संबंधी विचारों और गतिविधियों के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में विकसित राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना को समझने में सहायक होगा। साथ ही, गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव और पत्रकारिता जैसी गतिविधियों के माध्यम से जनसाधारण को राष्ट्रीय राजनीति से जोड़ने की उनकी भूमिका का विश्लेषण किया जाएगा। इस प्रकार शोध तिलक के राजनीतिक योगदान को केवल उग्रवादी राष्ट्रवाद तक सीमित न रखकर **जनचेतना के विकास और भारतीय राष्ट्र-निर्माण की व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रिया** के संदर्भ में समझने का प्रयास करेगा।

शोध की सीमा

प्रस्तुत शोध की सीमा मुख्यतः **1880 के दशक से 1920 तक** लोकमान्य तिलक की राजनीतिक भूमिका और राष्ट्रवादी विचारों के अध्ययन तक सीमित है। इसमें उनके **उग्रवादी राष्ट्रवाद, राजनीतिक सक्रियता, स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार, पत्रकारिता, जनसंगठन तथा सामाजिक-राजनीतिक चेतना** के विकास का अध्ययन किया जाएगा। साथ ही, इन गतिविधियों को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और **राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया** के संदर्भ में देखा जाएगा।

निष्कर्ष

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के उस महत्वपूर्ण दौर के प्रमुख नेता थे, जब भारतीय राजनीति याचिका और संवैधानिक सुधारों की सीमाओं से आगे बढ़कर अधिक सक्रिय जनप्रतिरोध की दिशा में विकसित हो रही थी। उन्होंने स्वराज को राष्ट्रीय राजनीतिक लक्ष्य के रूप में स्थापित करने, स्वदेशी और बहिष्कार को राजनीतिक संघर्ष से जोड़ने तथा राष्ट्रीय शिक्षा के माध्यम से चेतना विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। तिलक की विशेषता यह थी कि उन्होंने राजनीतिक विचारों को सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से जोड़ने का प्रयास किया। गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव के माध्यम से उन्होंने सार्वजनिक संगठन और ऐतिहासिक चेतना के लिए मंच तैयार किए। *केसरी* और *द मराठा* जैसी पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने राजनीतिक विचारों को जनता तक पहुँचाया। उनके *गीता रहस्य* ने उनके राजनीतिक चिंतन को कर्म और कर्तव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की। तिलक के राष्ट्रवाद में परंपरा, सांस्कृतिक चेतना, राजनीतिक सक्रियता और स्वराज की आकांक्षा का विशिष्ट समन्वय दिखाई देता है। उनके सामाजिक दृष्टिकोण के कुछ पक्षों पर आलोचनात्मक बहस भी रही, इसलिए उनके योगदान का अध्ययन संतुलित ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जाना आवश्यक है।

समग्रतः तिलक का महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में राजनीतिक चेतना को अधिक सक्रिय और जनोन्मुख बनाने में योगदान दिया। उनके राजनीतिक प्रयोगों ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में एक महत्वपूर्ण चरण निर्मित किया और आगे आने वाले व्यापक जनांदोलनों के लिए राजनीतिक अनुभव और वातावरण तैयार किया।

संदर्भ :

1. चंद्र, बिपिन, और अन्य, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 2009, पृ. 115–122.
2. सरकार, सुमित, *मॉडर्न इंडिया : 1885–1947*, मैकमिलन, 1983, पृ. 87–95.
3. चंद्र, बिपिन, और अन्य, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*, पृ. 31–37.
4. पंत, एस. आर., *लोकमान्य तिलक के राजनीतिक विचार*, लोकभारती प्रकाशन, 1985, पृ. 54–61.
5. तिलक, बाल गंगाधर, *गीता रहस्य*, केसरी प्रकाशन, 1915, पृ. 18–27.
6. अय्यर, आर. सी., *लोकमान्य तिलक : ए बायोग्राफी*, प्रकाशन विभाग, 1961, पृ. 74–82.
7. मजूमदार, आर. सी., *हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया*, खंड 2, फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, 1963, पृ. 220–229.
8. करंदीकर, बी. पी., *बाल गंगाधर तिलक : ए स्टडी इन लीडरशिप एंड नेशनलिज्म*, कॉन्टिनेंटल प्रकाशन, 1969, पृ. 91–101.
9. पाणिक्कर, के. एन., *कल्चर, आइडियोलॉजी, हेगेमनी : इंटेलेक्चुअल्स एंड सोशल कॉन्शसनेस इन कोलोनियल इंडिया*, तुलिका, 1995, पृ. 112–118.

Received: 25.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

शिक्षा के क्षेत्र में ललित कला का महत्व : एक अध्ययन

डॉ. कविता गंगबोईर*
असोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
डिपार्टमेंट ऑफ़ परफार्मिंग फोक एंड फाइन आर्ट
डॉ. सी. वी. रमन यूनिवर्सिटी, करगी रोड, कोटा, बिलासपुर, छ.ग.

सारांश

शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास का प्रमुख माध्यम है। शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यक्ति को पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करना नहीं है, बल्कि उसके बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सृजनात्मक व्यक्तित्व का विकास करना भी है। इस दृष्टि से ललित कलाओं का शिक्षा में विशेष महत्व है। संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्यकला आदि ललित कलाएँ मनुष्य की संवेदनशीलता, कल्पनाशक्ति, सौंदर्यबोध तथा अभिव्यक्ति की क्षमता को विकसित करती हैं। भारतीय परंपरा में कला-शिक्षा का स्वरूप लंबे समय तक गुरु-शिष्य परंपरा, आश्रम व्यवस्था तथा घरानेदार शिक्षण प्रणाली पर आधारित रहा। आधुनिक काल में धीरे-धीरे संस्थागत शिक्षा का विकास हुआ और कला-शिक्षा को विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त हुआ। प्रस्तुत अध्ययन में शिक्षा के क्षेत्र में ललित कला के महत्व को भारतीय कला-शिक्षा के पारंपरिक एवं आधुनिक स्वरूप के संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। विशेष रूप से कथक नृत्य के संस्थागत विकास को उदाहरण के रूप में लेते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने कला को अधिक व्यापक, व्यवस्थित और सुलभ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। साथ ही गुरु-शिष्य परंपरा और आधुनिक संस्थागत शिक्षा के बीच विकसित हुए समन्वय को भी रेखांकित किया गया है।

मुख्य शब्द :

ललित कला, कला-शिक्षा, शिक्षा प्रणाली, संगीत, नृत्य, कथक, गुरु-शिष्य परंपरा, संस्थागत शिक्षा, संस्कृति, सृजनात्मकता।

प्रस्तावना

शिक्षा मनुष्य के जीवन को दिशा प्रदान करने वाली एक निरंतर प्रक्रिया है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने ज्ञान, अनुभव, विचार, भावनाओं और क्षमताओं का विकास करता है। सामान्यतः शिक्षा को पढ़ने-लिखने और विषयगत ज्ञान प्राप्त करने तक सीमित समझ लिया जाता है, जबकि वास्तविक शिक्षा व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास से संबंधित होती है। इसी कारण शिक्षा में साहित्य, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान के साथ-साथ कला एवं संस्कृति से संबंधित विषयों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ललित कलाएँ व्यक्ति को केवल किसी कला-विधा में दक्ष नहीं बनातीं, बल्कि उसके भीतर सौंदर्य की अनुभूति, संवेदनशीलता, अनुशासन, एकाग्रता, कल्पनाशक्ति और सृजनात्मक अभिव्यक्ति का विकास करती हैं।

भारतीय समाज में कला का संबंध केवल मनोरंजन से नहीं रहा है। संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्रकला तथा अन्य कलाएँ भारतीय संस्कृति, परंपरा और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम रही हैं। भारतीय कला-परंपराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मुख्य रूप से गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से पहुँचती रही हैं। गुरु के सान्निध्य में रहकर शिष्य कला के व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों पक्षों को सीखता था। समय के साथ सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आया और पारंपरिक शिक्षण के साथ आधुनिक संस्थागत शिक्षा का विकास हुआ। प्रस्तुत स्रोत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के

---

* **असोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष - डिपार्टमेंट ऑफ़ परफार्मिंग फोक एंड फाइन आर्ट**

डॉ. सी. वी. रमन यूनिवर्सिटी, करगी रोड, कोटा, बिलासपुर, छ.ग.

विकास को विशेष रूप से संगीत तथा कथक नृत्य के संदर्भ में देखा गया है। इसी आधार पर ललित कला की शिक्षा में संस्थागत व्यवस्था के महत्व को समझा जा सकता है।

भारतीय कला-शिक्षा की पारंपरिक पृष्ठभूमि

भारतीय कला-शिक्षा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। संगीत और नृत्य जैसी कलाओं की शिक्षा लंबे समय तक व्यक्तिगत गुरु के निर्देशन में प्रदान की जाती रही। गुरु और शिष्य के बीच केवल शिक्षक तथा विद्यार्थी का संबंध नहीं होता था, बल्कि यह संबंध कला, संस्कार, अनुशासन और जीवन-मूल्यों के हस्तांतरण का माध्यम भी था। शिष्य गुरु के सान्निध्य में रहकर निरंतर अभ्यास करता था और धीरे-धीरे कला की सूक्ष्मताओं को समझता था। इस प्रकार की शिक्षा में समय की कोई निश्चित सीमा नहीं होती थी। विद्यार्थी की क्षमता, लगन और गुरु की संतुष्टि के आधार पर प्रशिक्षण की अवधि आगे बढ़ सकती थी।

विशेष रूप से भारतीय शास्त्रीय संगीत और नृत्य में घरानेदार परंपरा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कथक नृत्य की शिक्षा में जयपुर, लखनऊ और बनारस घरानों की अपनी विशिष्ट परंपराएँ विकसित हुईं। मध्य भारत में आगे चलकर रायगढ़ घराने का भी विकास हुआ। इन परंपराओं ने कथक के विविध रूपों, तकनीकों, भावाभिव्यक्ति और प्रस्तुति को समृद्ध किया। पारंपरिक गुरु अपने ज्ञान को केवल तकनीकी अभ्यास के रूप में नहीं देते थे, बल्कि उसके साथ कला के संस्कार और परंपरा को भी शिष्य तक पहुँचाते थे। इसीलिए गुरु-शिष्य परंपरा भारतीय कला-शिक्षा की आधारभूत व्यवस्था रही है।

इस पारंपरिक व्यवस्था की एक विशेषता यह थी कि विद्यार्थी का अध्ययन किसी निश्चित पाठ्यक्रम और निर्धारित समय-सारणी से बँधा नहीं रहता था। विद्यार्थी केवल एक विषय पर केंद्रित रहकर लंबे समय तक अभ्यास कर सकता था। इसके कारण कला की व्यावहारिक दक्षता विकसित होने के लिए पर्याप्त समय मिलता था। दूसरी ओर, इस व्यवस्था की पहुँच सीमित भी थी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को योग्य गुरु, उपयुक्त वातावरण और प्रशिक्षण का अवसर समान रूप से उपलब्ध नहीं हो पाता था। सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ जब पारंपरिक आश्रय-व्यवस्था कमजोर हुई, तब कला-शिक्षा के संरक्षण और विस्तार के लिए नई संस्थागत व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव हुई।

आधुनिक संस्थागत कला-शिक्षा का विकास

भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विकास के साथ संगीत और नृत्य जैसी कलाओं को भी संस्थागत रूप प्राप्त होने लगा। स्रोत के अनुसार अंग्रेजी शासनकाल में संगीत-शिक्षण से संबंधित संस्थाओं की स्थापना का क्रम प्रारंभ हुआ। 1886 में बड़ौदा में मौलाबख्श घिसेखाँ द्वारा संगीत विद्यालय की स्थापना हुई, जिसे बाद में बड़ौदा स्टेट म्यूजिक स्कूल के नाम से जाना गया। इसके बाद 1901 में लाहौर में गांधर्व महाविद्यालय, 1918 में ग्वालियर में माधव संगीत विद्यालय तथा 1926 में लखनऊ में मॉरिस म्यूजिक कॉलेज की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने संगीत-शिक्षा को व्यक्तिगत परंपरा से आगे बढ़ाकर एक व्यवस्थित संस्थागत स्वरूप प्रदान करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पंडित विष्णु नारायण भातखंडे द्वारा स्थापित संस्था का उद्देश्य संगीत को केवल कुछ घरानेदार संगीतकारों के अधिकार तक सीमित न रखकर संगीत-शिक्षा को अधिक लोगों तक पहुँचाना था। इसी प्रकार पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर और अन्य विद्वानों, कलाकारों तथा गुरुओं के प्रयासों से संगीत-शिक्षण की संस्थागत व्यवस्था को बल मिला। इन संस्थाओं में गायन और वादन के साथ-साथ कथक नृत्य की शिक्षा भी दी जाने लगी। इस प्रक्रिया ने यह स्पष्ट किया कि यदि किसी कला को व्यापक समाज तक पहुँचाना है और उसे आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित रूप में पहुँचाना है, तो उसके लिए व्यवस्थित शिक्षण संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है।

स्वतंत्रता के बाद शिक्षा के प्रचार-प्रसार में तेजी आई। संगीत और नृत्य की शिक्षा को भी इस विस्तार का लाभ मिला। पहले जहाँ कला-शिक्षा मुख्य रूप से बड़े नगरों या विशिष्ट सांस्कृतिक केंद्रों तक सीमित थी, वहीं धीरे-धीरे छोटे नगरों में भी संगीत तथा अन्य कलाओं से संबंधित संस्थाएँ स्थापित होने लगीं। मध्य भारत ने इस विकास में विशेष भूमिका निभाई। खैरागढ़ में इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय तथा ग्वालियर में माधव संगीत महाविद्यालय जैसी संस्थाओं की स्थापना ने कला-शिक्षा को उच्च शिक्षा से जोड़ने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन संस्थाओं में शास्त्रीय गायन, वादन तथा कथक जैसी नृत्य कलाओं को विषय के रूप में स्थान दिया गया।

इस संस्थागत विकास का महत्व केवल इतना नहीं था कि विद्यार्थियों को किसी कला में प्रशिक्षण मिलने लगा, बल्कि इसके माध्यम से कला-शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम, कक्षा, निर्धारित समय, परीक्षा और प्रमाण-पत्र जैसी व्यवस्थाएँ विकसित हुई। इससे कला सीखने की प्रक्रिया अधिक व्यवस्थित हुई। विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार किसी कला-विधा का चयन कर सकता था और निर्धारित पाठ्यक्रम के अंतर्गत प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता था। आगे चलकर कला में स्नातक, स्नातकोत्तर तथा शोध स्तर की शिक्षा की व्यवस्था भी विकसित हुई। इस प्रकार ललित कला शिक्षा मनोरंजन या व्यक्तिगत रुचि तक सीमित न रहकर उच्च शिक्षा का भी महत्वपूर्ण क्षेत्र बनी।

स्वतंत्रता के बाद विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और संस्थाओं की भूमिका

स्वतंत्र भारत में उच्च शिक्षा के विस्तार के लिए विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना को विशेष महत्व दिया गया। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की स्थापना 1948 में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में हुई। इसके बाद विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की व्यवस्था विकसित हुई। 28 दिसंबर 1953 को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की औपचारिक नींव रखी गई और 1956 में संसद द्वारा अधिनियम पारित होने के बाद इसे औपचारिक रूप से स्थापित किया गया। इसका उद्देश्य उच्च शिक्षा के विकास, गुणवत्ता तथा संस्थागत आधार को मजबूत करना था।

उच्च शिक्षा की इस व्यवस्था का लाभ कला-शिक्षा को भी प्राप्त हुआ। विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों को मिलने वाली शैक्षिक एवं आर्थिक सहायता से संगीत और कला संबंधी संस्थाओं के विकास को प्रोत्साहन मिला। विभिन्न महाविद्यालय विश्वविद्यालयों से संबद्ध हुए और कला विषयों को औपचारिक पाठ्यक्रमों में स्थान मिलने लगा। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप देश के विभिन्न राज्यों और नगरों में संगीत तथा नृत्य-शिक्षा की संस्थागत व्यवस्था विकसित हुई। कला-शिक्षा के लिए डिप्लोमा, स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर के पाठ्यक्रमों के साथ शोध की व्यवस्था भी विकसित हुई।

ललित कला की शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों का महत्व इस कारण भी है कि यहाँ कला को केवल व्यावहारिक प्रशिक्षण के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उसके सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन भी कराया जाता है। उदाहरण के लिए कथक के विद्यार्थी को नृत्य की तकनीक के साथ-साथ उसके इतिहास, सिद्धांत, सौंदर्यशास्त्र तथा संबंधित सांस्कृतिक संदर्भों का अध्ययन करना पड़ता है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में कला-विषय के साथ अन्य विषयों का अध्ययन भी विद्यार्थी के लिए आवश्यक हो सकता है। इस प्रकार विद्यार्थी का विकास केवल कलाकार के रूप में नहीं, बल्कि एक शिक्षित और जागरूक व्यक्ति के रूप में भी होता है।

गुरु-शिष्य परंपरा और आधुनिक शिक्षा का समन्वय

आधुनिक संस्थागत शिक्षा के विकास के बावजूद पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा समाप्त नहीं हुई। बल्कि दोनों व्यवस्थाएँ अनेक स्तरों पर साथ-साथ विकसित होती रहीं। प्रारंभिक संस्थाओं में कथक की शिक्षा देने वाले अनेक गुरु स्वयं पारंपरिक व्यवस्था से शिक्षित थे। उन्होंने आधुनिक संस्थागत शिक्षा को स्वीकार किया, लेकिन अपनी पारंपरिक शिक्षण पद्धति और कलात्मक संस्कार को भी बनाए रखा। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा ने परंपरा को समाप्त करने के बजाय उसे एक नए संस्थागत वातावरण में आगे बढ़ाने का अवसर प्रदान किया।

कथक केंद्र, नई दिल्ली, इस समन्वय का एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ कथक की परंपरा, संस्कृति और कला के निरंतर विकास पर बल दिया गया तथा प्रशिक्षण के साथ संगोष्ठी, कला-प्रदर्शन और कार्यशालाओं जैसी गतिविधियों को भी महत्व दिया गया। कथक केंद्र में जयपुर, लखनऊ और बनारस घरानों की शिक्षा विभिन्न गुरुओं के माध्यम से प्रदान किए जाने का उल्लेख स्रोत में मिलता है। साथ ही यहाँ प्रशिक्षण को निश्चित पाठ्यक्रम और समयावधि से जोड़ा गया। प्रारंभिक पाठ्यक्रम में पाँच वर्षीय फाउंडेशन कोर्स तथा तीन वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम और उच्च स्तर पर डिप्लोमा, पोस्ट-डिप्लोमा तथा रिफ्रेशर कोर्स जैसी व्यवस्थाएँ थीं।

पारंपरिक और आधुनिक शिक्षा में सबसे स्पष्ट अंतर समय और पाठ्यक्रम का दिखाई देता है। पारंपरिक व्यवस्था में विद्यार्थी लंबे समय तक गुरु के सान्निध्य में रहकर सीख सकता था, जबकि आधुनिक शिक्षा में पाठ्यक्रम और अवधि पहले से निर्धारित होती है। स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर निश्चित वर्षों के भीतर निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करना होता है। आधुनिक

शिक्षा में विद्यार्थी को कला के साथ अन्य विषयों का भी अध्ययन करना पड़ता है, जबकि पारंपरिक प्रशिक्षण में उसका पूरा ध्यान संबंधित कला पर केंद्रित रह सकता है।

फिर भी दोनों व्यवस्थाओं को एक-दूसरे का विरोधी मानना उचित नहीं होगा। आधुनिक संस्थागत शिक्षा ने विद्यार्थियों को व्यापक अवसर दिए हैं, जबकि पारंपरिक गुरु-शिष्य व्यवस्था कला की गहराई, अभ्यास और संस्कार प्रदान करती है। आधुनिक शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी आगे अपनी रुचि के अनुसार किसी घराने के गुरु से अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन प्रशिक्षण भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार परंपरा और आधुनिकता का यह समन्वय भारतीय ललित कला शिक्षा को अधिक व्यापक आधार प्रदान करता है।

शिक्षा के क्षेत्र में ललित कला का महत्व

ललित कला शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष व्यक्ति के सृजनात्मक विकास से संबंधित है। कला के माध्यम से विद्यार्थी अपनी कल्पनाशक्ति और भावनाओं को अभिव्यक्त करना सीखता है। संगीत में स्वर और लय, नृत्य में गति और भाव, चित्रकला में रंग और रेखा तथा नाट्य में अभिनय और संवाद व्यक्ति को अपनी अनुभूतियों को सृजनात्मक रूप में प्रस्तुत करने का अवसर देते हैं। इस प्रकार कला व्यक्ति के भीतर छिपी रचनात्मक क्षमता को विकसित करने का माध्यम बनती है।

ललित कला शिक्षा अनुशासन और एकाग्रता का भी विकास करती है। किसी नृत्य की प्रस्तुति के लिए नियमित अभ्यास आवश्यक होता है। संगीत में स्वर-साधना और नृत्य में शारीरिक तथा मानसिक समन्वय निरंतर अभ्यास से विकसित होता है। विद्यार्थी जब किसी कला को सीखता है तो उसे धैर्य, निरंतरता और आत्म-अनुशासन की आवश्यकता होती है। ये गुण उसके शैक्षिक तथा व्यक्तिगत जीवन में भी उपयोगी होते हैं।

कला शिक्षा सांस्कृतिक चेतना को विकसित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारतीय शास्त्रीय संगीत और नृत्य की परंपराएँ देश की सांस्कृतिक विरासत से जुड़ी हुई हैं। जब विद्यार्थी कथक, संगीत या किसी अन्य भारतीय कला का अध्ययन करता है तो वह केवल तकनीक नहीं सीखता, बल्कि उस कला से जुड़े इतिहास, परंपरा, संस्कार और सांस्कृतिक मूल्यों से भी परिचित होता है। इस प्रकार कला शिक्षा सांस्कृतिक विरासत को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का माध्यम बनती है।

आधुनिक संस्थागत शिक्षा ने ललित कला के विद्यार्थियों को बौद्धिक विकास के लिए अनेक अवसर प्रदान किए हैं। संगोष्ठी, कार्यशाला, वेबिनार और मंचीय प्रस्तुतियों के माध्यम से विद्यार्थियों को विभिन्न विद्वानों, कलाकारों और वरिष्ठ आचार्यों से सीखने का अवसर प्राप्त होता है। कार्यशालाओं में पारंपरिक रूप से प्रशिक्षित वरिष्ठ कलाकार विद्यार्थियों को कला की विभिन्न शैलियों से परिचित कराते हैं। इस प्रकार संस्थागत शिक्षा में विद्यार्थी को केवल अपने नियमित शिक्षक से ही नहीं, बल्कि विभिन्न कला-विशेषज्ञों से सीखने का अवसर मिलता है।

ललित कला शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष रोजगार और व्यावसायिक अवसरों से भी संबंधित है। संस्थागत शिक्षा के माध्यम से प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को प्रमाण-पत्र या उपाधि प्राप्त होती है, जिसके आधार पर वह शिक्षण तथा अन्य संबंधित क्षेत्रों में अवसर प्राप्त कर सकता है। कला में उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी आगे शोध, अध्यापन, मंचीय प्रस्तुति, कला-समीक्षा तथा सांस्कृतिक गतिविधियों से जुड़ सकता है। स्रोत में यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक विद्यार्थी आवश्यक नहीं कि मंचीय कलाकार के रूप में ही आगे बढ़े; वह शिक्षक अथवा कला-समीक्षक के रूप में भी कला-जगत में अपना योगदान दे सकता है।

आधुनिक कला-शिक्षा की एक अन्य विशेषता यह है कि उसने सामान्य विद्यार्थियों के लिए भी कला सीखने का अवसर अपेक्षाकृत सहज बनाया है। पहले जहाँ विशिष्ट गुरु और परंपरागत व्यवस्था तक पहुँच आवश्यक थी, वहीं संस्थागत व्यवस्था में विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार किसी कला-विधा में प्रवेश ले सकता है। इससे कला का दायरा व्यापक हुआ है और अधिक संख्या में विद्यार्थी कला से जुड़ सके हैं। इस दृष्टि से शिक्षा के क्षेत्र में ललित कला का महत्व केवल कलाकार तैयार करने तक सीमित नहीं है, बल्कि कला के प्रति समाज में रुचि, समझ और संवेदनशीलता उत्पन्न करने में भी है।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ललित कला और शिक्षा का संबंध अत्यंत गहरा है। भारतीय कला-परंपरा का विकास लंबे समय तक गुरु-शिष्य व्यवस्था के माध्यम से हुआ, जिसमें कला के साथ संस्कार और परंपरा का हस्तांतरण भी

होता था। आधुनिक काल में संस्थागत शिक्षा के विकास ने इस परंपरा को एक नया आधार प्रदान किया। संगीत और नृत्य से संबंधित संस्थाओं की स्थापना, विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों का विस्तार और उच्च शिक्षा की व्यवस्थित व्यवस्था ने कला-शिक्षा को अधिक व्यापक बनाया।

कथक नृत्य का विकास इस परिवर्तन को समझने का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। पारंपरिक गुरु-शिष्य शिक्षा के साथ संस्थागत प्रशिक्षण की व्यवस्था विकसित हुई और विद्यार्थियों को निर्धारित पाठ्यक्रम, समयावधि, परीक्षा तथा प्रमाण-पत्र की सुविधा मिली। दूसरी ओर, पारंपरिक घरानेदार शिक्षा भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। आधुनिक संस्थाओं में पारंपरिक गुरुओं की भूमिका और कार्यशालाओं, संगोष्ठियों तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से परंपरागत ज्ञान का हस्तांतरण जारी रहा। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा और पारंपरिक कला-शिक्षा के बीच समन्वय स्थापित हुआ।

अतः ललित कला को शिक्षा के क्षेत्र में केवल सह-पाठ्यक्रम गतिविधि के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। यह विद्यार्थी के सृजनात्मक, सांस्कृतिक, भावात्मक और व्यक्तित्वगत विकास का महत्वपूर्ण माध्यम है। कला शिक्षा व्यक्ति को अपनी संस्कृति से जोड़ती है, उसकी अभिव्यक्ति क्षमता को विकसित करती है तथा अनुशासन, एकाग्रता और संवेदनशीलता जैसे गुणों को मजबूत करती है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने कला को अधिक व्यापक समाज तक पहुँचाने और उसके संरक्षण एवं विकास के लिए नए अवसर उपलब्ध कराए हैं। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में ललित कला का महत्व केवल वर्तमान पीढ़ी के विकास तक सीमित नहीं है, बल्कि यह भारतीय कला-संस्कृति की निरंतरता और भावी पीढ़ियों तक उसके हस्तांतरण से भी जुड़ा हुआ है। स्रोत के निष्कर्ष के अनुरूप कहा जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने पारंपरिक कला-शिक्षा में सकारात्मक परिवर्तन लाते हुए कथक जैसी कलाओं के संरक्षण, प्रसार और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

संदर्भ :-

कौशिक, ऋतु, "संगीत की संस्थागत शिक्षण-प्रणाली का प्रारंभ एवं मंच-प्रदर्शन में योगदान", 'संगीत' पत्रिका, संपादक डॉ. लक्ष्मीनारायण गर्ग, अंक 6, जून 2012, पृ. 45.

भातखंडे म्यूजिक इंस्टीट्यूट यूनिवर्सिटी से संबंधित स्रोत.विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से संबंधित दस्तावेज.कथक केंद्र, नई दिल्ली, प्रशिक्षण पाठ्यक्रम विवरणिका, सत्र 2023–24.

वरिष्ठ कथक गुरु पं. राजेंद्र गंगानी से साक्षात्कार, त्रिवेणी ऑडिटोरियम, नई दिल्ली, 10-10-2023.

"आधुनिक शिक्षा प्रणाली में कथक नृत्य", कविता गंगबोईअर, Anukriti: An International Peer Reviewed Refereed Research Journal, Vol. 13, No. 10, October 2023.

Received: 26.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

Folk Song, Occupational Identity and Cultural Ecology: An Ethnographic Study of the Dhobi Community in Eastern Uttar Pradesh

SHIV KUMAR*
shiv.anthro@gmail.com

Abstract

This study examines Dhobiya folk songs as cultural expressions of the occupational life, ecological relationships, and social identity of the Dhobi community in Eastern Uttar Pradesh, India. Rather than treating folk songs merely as traditional texts, the study views them as context-based forms of cultural knowledge through which community members express and interpret everyday life. The analysis draws on ***cultural ecology, ethno-ecology, and performance-oriented folklore****, informed by Julian H. Steward, Harold C. Conklin, Dan Ben-Amos, and Richard Bauman. Primary ethnographic data were collected through observation, interviews, life histories, case studies, and documentation of locally performed Dhobiya songs and associated practices. The findings show that ghats, rivers, ponds, canals, and other local spaces are culturally meaningful settings connected with* ***labour, food practices, gender relations, religious beliefs, recreation, and community memory****. The songs also reflect food ways, ornaments, grooming practices, rituals, and occupational experiences. Thus, Dhobiya folklore connects ecological adaptation and material culture with social identity. Its continuity, however, is influenced by changes in traditional occupations and local ecological conditions. The study highlights Dhobiya songs as dynamic expressions of* ***ecological knowledge, occupational memory, and cultural identity****.*

Keywords:

Dhobiya Folk Songs, Folklore, Cultural Ecology, Ethno-Ecology, Occupational Identity, Material Culture, Social Identity, Dhobi Community, and Eastern Uttar Pradesh.

Introduction

The interaction of human societies with their physical environment is a major subject matter in anthropology. Instead of looking at ecology simply as a set of interactions among living organisms and physical features, anthropological studies analyze the ways that individuals understand, use, interpret and culturally structure their surrounding environments. The way people connect with their environment is influenced by how they make a living the social systems, around them technological changes the knowledge they have and their cultural beliefs. In this view the environment is not a physical place. It is also a part of social and cultural life. The idea of ecology grew from this thinking highlighting the need to study how environmental conditions work with the ways people live and adapt based on their culture (Steward, 1955). Ethno-ecological approaches show that local

* **Assistant Professor, Department of Anthropology, Model Degree College Nuapada, Odisha**

communities sort, understand and use their environment by passing down knowledge from one generation to the next (Conklin, 1954). Boas says that to truly understand a culture we must look at it within its historical and cultural context. This idea offers an anthropological foundation, for examining environmental knowledge from the perspective of the people who have it and practice it.

Folk traditions offer a way for communities to share their daily lives their jobs, their relationships and their beliefs. They also show how people connect with the world around them. Folk songs are more than music or entertainment. They carry knowledge hold memories and reflect shared social experiences. The meaning of these songs changes depending on who performs them who listens, when they are sung and the cultural background in which they exist (Bauman, 1977). This idea is especially important when looking at Dhobiya folk songs. These songs are deeply tied to the work and environment of the Dhobi community. They capture the experiences of people who live and work in close connection, with nature.

This study looks at Dhobiya folk songs and the things that go along with them among the Dhobi people in Eastern Uttar Pradesh. It uses a way of looking at things called ethno- cultural-ecological. Usually the Dhobi people are known for washing clothes. Their work has always been connected with rivers, ponds, canals, dams and places where people go to the water. These places were not just where they worked. They were also where people met each other ate food had fun and lived their lives. Because of this being around these places a lot made them important in culture and work.

This study sees Dhobiya songs as a way of sharing knowledge remembering their work and showing that they are as a community. Using ideas from ecology, ethno-ecology and folklore that focus on performance it looks at how the environment, their jobs, social ties and the things they use every day are all connected in the lives of the Dhobi people in Eastern Uttar Pradesh.

Ethno-ecological System of the Dhobi Community

The way of life for the Dhobi community goes beyond just their work and using water sources. It includes a system of nature how people live together old beliefs and how they show their culture. Local nature has villages, rivers, ponds, canals, fields and places of worship. How people live together includes family, relatives, working together roles for men and women and relationships, with others. Beliefs and special ceremonies give meaning to their culture. All these parts come together in the Dhobi way through songs, stories, dances, food, jewelry, games, and ceremonies. All these things make a living system that connects the earth their work how they live, their beliefs and their culture.

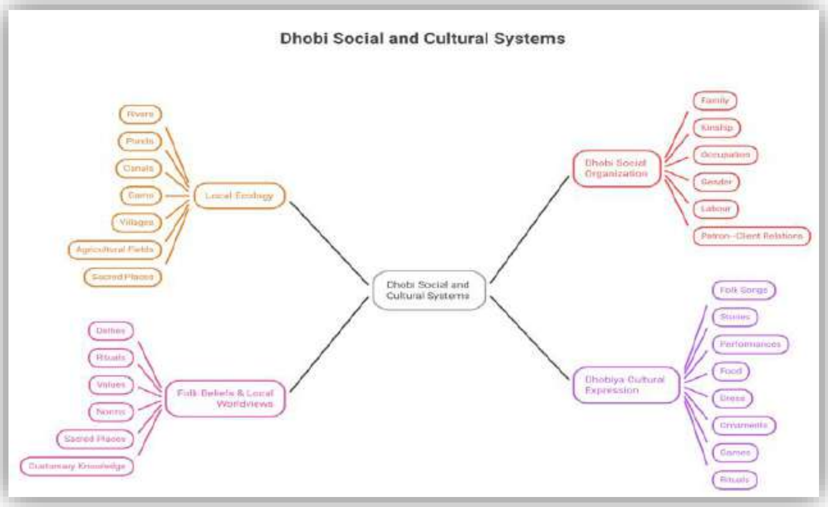

Figure: Ethno-ecology and inter-relationships of the Dhobi caste

The Ghat is a place of work and culture

For the Dhobi community, the ghat is not merely a washing place but a shared social and cultural space where work, family interaction, and daily experiences come together. Dhobiya songs capture this relationship through a husband and wife discussing their work at the ghat and carrying litti-achar to eat. The song reflects labour, gender roles, food practices, and family cooperation, highlighting the ghat as an important part of Dhobi cultural memory and everyday life.

Folk Song No: 01

In Regional Bhojpuri Language	In English Language
धोबी : उठइबु गठरिया अब होला अबेरिया के, चले की नादिया के नार ये धनिया के॥	Washer man: It will be evening pick up the bundle. We have to go to the riverbank.
धोबिन : सुना मोर सइंया पीर उठे सगरी देहिया, कि जइबो न नदिया के नार ये रजउ॥ जहिया से हम अइली तोहरे बखरिया, गईल दुबराई मोर सुघर शारीरिया॥ बथे ला हमार कपरा ये रजउ॥	Washerwoman: My whole body is hurting So I will not go to the riverbank. Ever since we came to your house my strong body has become weak; I have a headache.
धोबी : देहियां दुखइले का करा न बहनवा, अरे दुख दूर हो रानी चला सिवनवा॥ चिकन 2-घटवा के, धोबिया के बटवा पर खायल जाई लिट्टी-आचार, ए धनिया॥	Washer man: Don't make excuses about body aches; The pain will vanish-come to the riverbank quickly. We'll eat '*litti*' and pickles on the clean riverbank.
धोबिन : कि दर्द नाहीं बुझ बा त पीछे पछतइब॥ चली जाइब नइहर अकेले रही जइब॥ फुटल मोर भाग कि लगल करमे में आग॥	Washer Woman: If you do not feel after that you will regret, I will go back return to my mother's house, My fate and my lot, in life are both very sad.
धोबी : अरे सरहन भइलू माई-बाप के दुलार में॥ अरे नइहरे के राज नाही ससुराल में॥ चले की नादिया के नार ये धनिया के॥	Washer man: You have become spoiled, by your parents doting. The airs you put on at your home will not work here. Come we have go to the riverbank.

(Source: Collected from first-hand Data)

Anthropological Interpretation of Folk Song

For the Dhobi community, the *ghat* is more than a washing place; it is a **social and cultural space** where work, family interaction, food, and everyday life converge. *Dhobiya* songs reflect this connection through a husband-wife dialogue about washing clothes at the *ghat* and carrying *litti-achar* for their meal, highlighting **labour, gender roles, food practices, and family cooperation**. Thus, the *ghat* remains an important part of Dhobi cultural memory and identity.

Reflections of Local Dietary Habits in Dhobiya Folk Art

Food practices are deeply tied to the work life of the Dhobi community. In Mirzapur and Ghazipur families working at the ghat often carry foods, like *litti-achar, thekua-puri, dhundha* and roti-chutney. These meals reflect a food culture shaped by work routines, movement, family teamwork and social ties. Dhobiya songs highlight this connection with husbands asking wives to pack *litti-achar* before heading to the ghat. This shows how food links home, labor, family support and memory making everyday eating a part of life and shared cultural history.

Folk Song No:02	
In Regional Bhojpuri Language	**In English Language**
ए धोबिनिया रे, चल चली घटवा के नार हो॥ लइकिया ले उठा कोरवा, हमहू गठरिया ले ही तान॥ देखि लहे सत्तू लिट्टीया आचार, ए धोबिनिया रे॥ मनवा करेगी जीउवा भुजाए लिहे जायी हो॥ वोही घटवा पे खायल जायी लिट्टी आचार हो॥ मनवा मे उठी जब लहरिया खुबे प्यार कियल जायी, ए धोबिनिया॥	"Oh washerwoman, come, let us go to the *ghat* nearby. Take the little child in your arms; I will carry the bundle of clothes. Look, we have brought *sattu*, *litti*, and pickle, O washerwoman. When our bodies feel tired and hungry, we shall have something to eat. We will eat the *litti* and pickle at the *ghat* itself. And when the heart is filled with affection and desire, we shall share moments of love there, O washerwoman."

(Source: Compiled by the researcher)

The song portrays the ghat as both a work site and a social area in Dhobi life. The couple's journey, with the woman holding the child and the man carrying clothes shows their shared duties in household and work. Mentions of *sattu, litti* and pickle emphasize their food traditions tied to their work. The song also shows love and closeness between the couple highlighting the ghat as a place, for family bonding. It connects labor, food, family, environment and relationships. This makes the song a form of folklore that keeps alive daily Dhobi life and cultural habits.

Narration of Clothing and Ornaments

Clothing and ornaments form a significant component of Dhobiya folk expression, with jewellery receiving particular prominence. References to ornaments such as *tika* (forehead ornament), *haar* (necklace), *kardhani* (waistband), and *payal* (anklets) reflect not only aesthetic preferences but also culturally constructed meanings of femininity, identity, and social position. From the perspective of **material culture theory**, objects acquire social meanings through their use and association with everyday life (Appadurai, 1986; Miller, 1998). Similarly, from a **symbolic-anthropological perspective**, adornment can function as a cultural symbol through which individuals communicate identity, status, relationships, and aspirations (Geertz, 1973). These meanings are particularly evident in *Swang* performances, where jewellery becomes part of narratives concerning women's relationships and social interactions. A documented Dhobiya song in which a woman seeks divine protection for her ornaments and enumerates her *tika, haar, kardhani,* and *payal* illustrates how personal adornment is transformed into expressive folklore. Thus, ornament-related songs provide insight into the intersection of **material culture, gender, social status, and symbolic expression** within Dhobi society.

The song presents **a plea for the protection of women's ornaments**, repeatedly naming the *tika, haar, kardhani,* and *payal*. The recurring reference to the *kanthi* being broken and its beads being sold conveys a sense of **loss, insecurity, or threat to valued possessions**. The invocation of the "Kamachha washerwoman" gives the song a localized cultural setting and transforms personal concern into a shared folk expression.

Folk Song No: 03	
In Regional Bhojpuri Language	In English Language
कंठी तोड़ के मछरिया बेचे जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ हमरे टिकवा के रक्षा लिहले जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ कंठी तोड़ के मछरिया बेचे जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ हमरे हरवा के रक्षा लिहले जाय से कमच्छा वाली धोबिनिया॥ कंठी तोड़ के मछरिया बेचे जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ हमरे करधनिया के रक्षा लिहले जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ कंठी तोड़ के मछरिया बेचे जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ हमरे पयलिया के रक्षा लिहले जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥ कंठी तोड़ के मछरिया बेचे जाय रे कमच्छा वाली धोबिनिया॥	"Oh washerwoman of Kamachha, they are breaking the *kanthi* necklace and selling the beads like fish. Oh washerwoman of Kamachha, please protects my *tika*. Oh washerwoman of Kamachha, they are breaking the *kanthi* necklace and selling the beads like fish. Oh washerwoman of Kamachha, please protects my *haar* (necklace). Oh washerwoman of Kamachha, they are breaking the *kanthi* necklace and selling the beads like fish. Oh washerwoman of Kamachha, please protects my *kardhani* (waist ornament). Oh washerwoman of Kamachha, they are breaking the *kanthi* necklace and selling the beads like fish. Oh washerwoman of Kamachha, please protects my *payal* (anklets). Oh washerwoman of Kamachha, they are breaking the *kanthi* necklace and selling the beads like fish."

(Source: Compiled by the researcher)

Folk Song No: 04	
In Regional Bhojpuri Language	In English Language
पिया जिया गढ़ा दा हो, मथवा के टीकउवा ना॥ मोहन हमे बता दा हो, सोनरा के दुकनिया ना। पिया जिया गढ़ा दा हो, गरवा के हरउवा ना॥ मोहन हमे बता दा हो, सोनरा के दुकनिया ना। पिया जिया गढ़ा दा हो, गोडवा के पयलिया ना॥ मोहन हमे बता दा हो, सोनरा के दुकनिया ना।	"My beloved, please get a *tika* made for my forehead. Mohan, please tell me where the goldsmith's shop is. My beloved, please get a *haar* made for my neck. Mohan, please tell me where the goldsmith's shop is. My beloved, please get *payal* made for my feet. Mohan, please tell me where the goldsmith's shop is."

(Source: Compiled by the researcher)

The song shows a woman's wish for adornment and her hope for affection from her beloved. The song mentions *tika, haar and payal* showing how jewellery is culturally important. The song also names the sonar, the goldsmith to link jewellery to the economy. From a **material culture** view jewellery in the song stands for femininity, identity, affection, status and aspiration. The song therefore links gendered desires, material culture and everyday social ties, through folk expression.

From the perspective of **material culture theory**, ornaments are not merely decorative objects; they carry social, emotional, and symbolic meanings and may communicate identity, gender, status, and belonging (Appadurai, 1986; Miller, 1998). The song therefore demonstrates how jewellery becomes incorporated into **gendered expressive folklore**, while its repetitive structure facilitates oral transmission and collective remembrance. The enumeration of ornaments also provides an ethnographic glimpse into the material world and aesthetic values associated with women in Dhobi society.

Narration of Beauty Aids and Cosmetics

Beauty and grooming practices are a part of Dhobiya folk expression. Beauty reflects the community's gendered material culture. Beauty practices communicate identity, femininity and social relationships (Douglas, 1966; Mauss, 1973). Field observations suggest that Dhobi women traditionally used available materials for everyday grooming illustrating how environmental resources become incorporated into cultural practices (Steward, 1955).

Folk Song No: 05	
In Regional Bhojpuri Language	**In English Language**
चला चली मट्टी खन्नवा में॥ देखा हवे करईल मटिया वहीं खन्नवा में॥ बरवा में पोत करलिया दोपहरिया, धोहिए बरवा निखार मट्टी खन्नवा के॥ बरवा चमकी उठी ठिलिया पिहर होई, चला चली मट्टी खन्नवा में॥	Come, let us go to dig the soil. Look, the *Karail* soil is found there; let us dig it. Apply it to the hair in the afternoon, Wash the hair with the soil we have dug. The hair will become clean and shine beautifully, Come, let us go to dig the soil.

(Source: Compiled by the researcher)

The song talks about how Dhobi women collect and use *Karail* soil for cleaning their hair. This practice is part of their way of grooming. The repeated mention of *Karail* soil shows the knowledge people have, about their environment. It also highlights how they rely on resources every day. Drawing from Steward's (1955) idea of ecology the song makes clear how the environment shapes everyday body practices and the things people use in their lives.

Folk Song No: 6	
In Regional Bhojpuri Language	In English Language
केकरा बिन सोहे नहीं अंग-अंग गहनवा॥ सींहुरा बिन ना, हो सींहुरा बिन ना, सींहुरा बिन सोहे नाहीं अंग-अंग गहनवा॥ मोर सींहुरा हवे तनवा के गहना हो, सजन बिन ना, हो सजन बिन ना, मोर सुन लागे परनवा, हो सजन बिन ना॥ केकरा बिन सोहे नहीं अंग-अंग गहनवा॥ कजरा बिन ना, हो कजरा बिन ना, कजरा बिन सोहे नाहीं अंग-अंग गहनवा॥ मोर कजरा हवे तनवा के गहना हो॥	Whose absence makes the ornaments on every part of my body lose their beauty? Not without sindoor, no, not without sindoor, Without sindoor, the ornaments on my body do not look beautiful. My sindoor is the ornament of my body, Without my beloved, no, without my beloved, My life feels empty without my beloved. Whose absence makes the ornaments on every part of my body lose their beauty? Not without kajal, no, not without kajal, Without kajal, the ornaments on my body do not look beautiful. My kajal is the ornament of my body.

(Source: Compiled by the researcher)

Married women use *sindoor* (vermilion) and *kajal* (kohl) in Dhobiya folk songs. *Sindoor* shows that a woman is married while *kajal* is believed to keep bad luck. These marks are symbols that show gender, marriage, belief and social identity (Geertz, 1973; Douglas, 1966). A song tells of a woman showing her *sindoor* and *kajal* linking the marks to love and marriage. With customs like

using *Karail* soil to wash hair these traditions show everyday life, local knowledge and how customs are passed down (Steward, 1955). Dhobiya songs keep these grooming habits alive, as clear signs of gender and culture. So Dhobiya songs and performances keep alive the experiences of women.

Narration of Religious Folk Life

Religious life plays a role in Dhobiya folk culture blending Hindu traditions with local beliefs. The community honors deities like Shiva, Krishna, Rama *Sheetala* Mata, Kali Mata, Ganga and Tulsi Mata along with figures such, as *Deeh Baba, Samai Mai, Dharti Mai, Chaura Mai* and *Ghat Baba*. These beliefs are shared through songs, stories, dances and rituals often starting with songs and *Phera Nritya*. Such practices give meaning to social life and help shape collective identity (Geertz, 1973). Rituals also bring people together strengthening unity (Malinowski, 1948). During fieldwork, revealed songs praising deities expressing protection, hope, family well-being and strength. Religious folklore weaves belief, social values, memory and cultural identity into a shared experience.

Folk Song No: 07

In Regional Bhojpuri Language	In English Language
तोहे देख जियरा डेराला माया मोहिनी बारह बरिस मुह बनाया का सोरहो श्रृंगार चुन चुन पहिने ली छाया लचकनिया सबही के लहलू भरमाय माया मोहिनी तोहे देख जियरा डेराला माया मोहिनी बीच ही बजरिया मदिरा चुवव लु सबही के लहलू मताय केतने तो चले पराय तोहे देख जियरा डेराला माया मोहिनी	"Seeing you, my heart is filled with fear, O *Maya Mohini*. For twelve years you have adorned your face with the sixteen forms of beauty (*Solah Shringar*). You choose and wear graceful, charming adornments, and enchant everyone with your beauty, O *Maya Mohini*. Seeing you, my heart is filled with fear, O *Maya Mohini*. In the middle of the marketplace, you pour out the intoxicating drink, Making everyone lose their senses. Many are drawn away by you; Seeing you, my heart is filled with fear, O *Maya Mohini*."

(Source: Compiled by the researcher)

Family and conjugal relationships are very important, in Dhobi life. People help each other in their homes and work. Dhobiya songs talk about love and marriage. They also show how family is important. Some songs explain that life's connections are not permanent. They use the idea of *maya* to show this. Maya means things change. Family and relationships are part of this. Family and conjugal relationships are part of this view. People learn from these songs. They see life as temporary. This helps them understand their lives better.

Narration of Folk Beliefs and Healing Practices

The Dhobi community traditionally follows an occupational life centered on collecting, transporting, and washing clothes at the *ghat*, with women contributing substantially to both household and occupational activities. Religious beliefs play an important role in interpreting illness, hardship, and uncertainty. Alongside mainstream Hindu practices, the community maintains indigenous beliefs and ritual practices that form part of its cultural worldview.

Traditional healing practices involving *Ojha* and *Sokha* illustrate the community's indigenous understanding of illness and healing. From the perspective of **medical anthropology**, such practices represent culturally specific *explanatory models* through which illness and misfortune are understood and managed (Kleinman, 1980). They also reflect **symbolic anthropology**, as ritual practices provide

culturally meaningful interpretations of otherwise uncertain experiences (Geertz, 1973). Field observations in Kolna and Jamui villages of Narayanpur block, Mirzapur district, documented *Dhobiya* folk songs depicting *Tona-Tantra*, locally understood as sorcery or occult practice. One such song portrays a woman experiencing marital separation and domestic distress attributed to sorcery. Thus, Dhobiya folk songs function as a medium for expressing **indigenous knowledge, belief systems, illness perceptions, social distress, and collective cultural memory**, demonstrating how religious and healing beliefs are embedded in everyday social life.

In Regional Bhojpuri Language	In English Language
बिरह के अगिया लगल मोर तन में,	"The fire of *biraha* (separation) burns within my body;
कवन सखी मार देहली टोना ए राम ॥	O Ram, which companion has cast a spell (*tona*) upon me?
अमवा के डरिया बोले ली कोयलिया	The cuckoo calls from the mango grove,
बनवा में बोले बलम हो राम	while my beloved calls from the forest, O Ram.
नदिया के तिरवा सारस बोले	The crane calls beside the river;
हम जानी पिया मोर राम	I know that my beloved is there, O Ram.
बिरह के अगिया लगल मोर तन में	The fire of *biraha* burns within my body;
कवन सखी मार देहली टोना ए राम ॥	O Ram, which companion has cast a spell upon me?
कंकण चुनी चुनी महल बनायो	With great effort, I built a beautiful house,
लोग कहे घर मेरा हो राम	yet people call it my home, O Ram.
ना घर मेरा ना घर तेरा	Neither is the house truly mine, nor yours;
चिड़िया रैन बसेरा हो राम	it is only a resting place for a bird, O Ram.
बिरह के अगिया लगल मोर तन में	The fire of *biraha* burns within my body;
कवन सखी मार देहली टोना ए राम ॥	O Ram, which companion has cast a spell upon me."

(Source: Compiled by the researcher)

Religious Folk Life and Dhobi Cultural Identity

The Dhobi community's folk life shows itself through beliefs, rituals, festivals and Dhobiya songs, all rooted in practices (Geertz, 1973). Dhobi folk art songs, dances, stories, dress ornaments, instruments keeps memory alive. They pass cultural identity from one generation to the next. This diagram shows how Dhobi cultural life is connected.

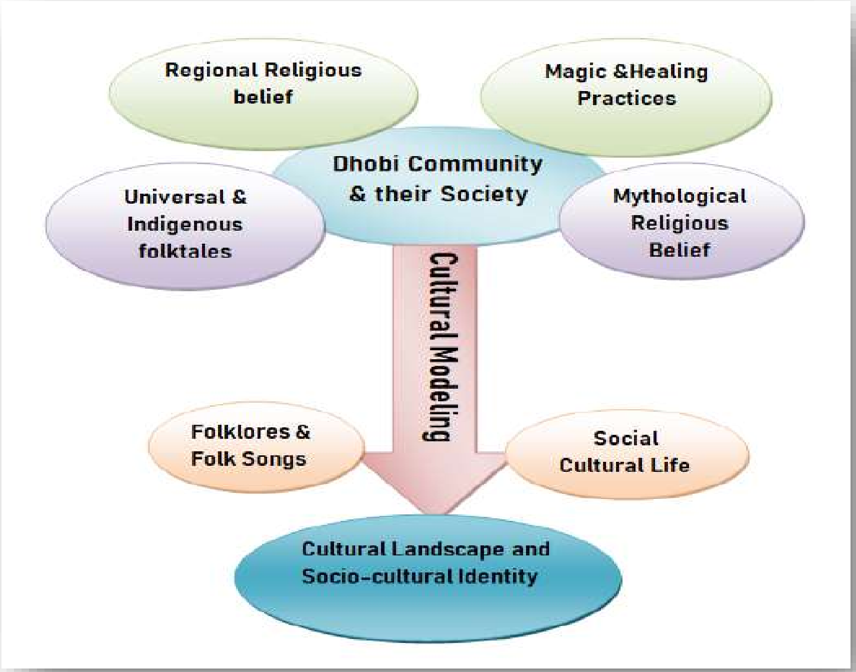

The Dhobi community's religious and folk life blends beliefs, Hindu traditions and oral practices. These things, shown

through songs, tales, ceremonies and daily habits help create the groups identity and the values everyone shares. They reflect enculturation and collective memory showing how cultural knowledge is passed down. Dhobiya art expresses their cultural landscape and socio-cultural identity.

Conclusion

This ethnographic study demonstrates that *Dhobiya* folk tradition is closely embedded in the **occupational, ecological, social, and religious life** of the Dhobi community in Eastern Uttar Pradesh. The study shows that rivers, ponds, canals, and *ghats* are not merely occupational spaces but culturally meaningful environments represented through folk songs and associated practices. These traditions also encompass food ways, ornaments, beauty practices, gender relations, games, religious beliefs, and indigenous healing knowledge, thereby reflecting the community's broader socio-cultural world. From the perspectives of **cultural ecology, ethno-ecology, and performance theory**, *Dhobiya* folk art may be understood as a dynamic medium through which occupational experiences, ecological knowledge, social values, and collective memory are expressed and transmitted. The findings support the study's third hypothesis that *Dhobiya* folk art serves as an important medium for representing the **socio-cultural and ethno-ecological identity** of the Dhobi community. Changes in traditional occupation, ecological settings, and patterns of cultural transmission may consequently affect the continuity of this folk tradition.

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Bauman, R. (1977). *Verbal art as performance*. United States: Waveland Press.
2. Ben-Amos, D. (1971). Toward a definition of folklore in context. *The Journal of American Folklore, 84*(331), 3–15. https://doi.org/10.2307/539729
3. Conklin, H. C. (1954). An ethnoecological approach to shifting agriculture. *Transactions of the New York Academy of Sciences, 17*(2), 133–142. https://doi.org/10.1111/j.2164-0947.1954.tb00402.x
4. Crooke, William, (ed.). (1920). Annals and Antiquities of Rajast'han or the Central and Western Rajpoot States of India-I. London: Humphrey Milford. Oxford University Press.
5. Damant, G. H. (1872). Journal, Bengali Folklore. Indian Antiquary. (Vol.1).
6. Danda, A. K. (1996). Tribal ethnography. Delhi: Indian Council of Social Science Research.
7. Das, K. B. (1953). A study of Orissan folklore, santiniketan. Visvabharati: Visva Bharati studies series. (no.16).
8. Deva, Indra. (1971). Social Change in Asia and its impact on folk culture and folklore. in Rajeshwar Prasad et. al, (eds.). Conspectus of Indian Society. Agra: Satish Book Enterprise.
9. Dhar, M. K. (1963). Kashmir Ka lok Sahitya. Delhi: Atmaram and sons-6.
10. Dhar, Somnath. (1949). Kashmir Floktales. Bombey: Hind Kitab Ltd.
11. Elwin, V. (1944). Folktales of Mahakosal. Bombay: Oxford university press.

12. Kroeber, A. L. & Klucichohn, C. (1952). Culture: A critical review of concepts and definitions. Cambridge: harward university printing office.
13. Leslie, G. R. (et al.,1980: 127). Introductory sociology. New York: Oxford University Press.
14. Russell, R. V. (1916). The tribes and castes of the central provinces of India. (Vol. 3), Delhi: Macmillan and Company limited.
15. Steward, J. H. (1955). *Theory of culture change: The methodology of multilinear evolution*. United States: University of Illinois Press.
16. Vidyarthi, L. P. & Choubey, G. (1971). Bihar in Folklore Studies : AnAnthropology. Calcutta: Indian Publication.
17. अर्नेस्ट, हैकल. (1866). जनरल मोर्पोलॉजी देर ऑर्गैनिज़्मेन. बर्लिन: ड्रक. यू. एन. डी. वेर्लेग वॉन जार्ज रीमर.
18. आहूजा, राम. (2008). समाजशास्त्र विवेचना एवं परिपेक्ष्य. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स.
19. उपाध्याय, कृष्णदेव. (2009). लोक संस्कृति की रूपरेखा. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.
20. ओझा, सत्यदेव. (2006). भोजपुरी कहावतें: एक सांस्कृतिक अध्ययन. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
21. त्रिपाठी, वशिष्ठ. नारायण. (2011). भारतीय लोकनाट्य. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
22. त्रिपाठी, सूर्यकांत. (2013). लोक का अवलोकन. दिल्ली: आर्य प्रकाशन.
23. दइया, पीयूष. (2002). लोक. उदयपुर: भारतीय लोक कला मण्डल.
24. दास, भगवान., एवं सिंह, सतनाम. (2011). धोबी समाज का संक्षिप्त इतिहास. दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
25. दुबे, श्यामसुंदर. (2003). लोक: परंपरा, पहचान एवं प्रवाह. दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
26. दुबे, श्यामाचरण. (1993). मानव और संस्कृति. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
27. नंबूदिरीपाद, ई. एस. एस. (2002). कला साहित्य और संस्कृति. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
28. परदेशी, अर्चना. (2011). भारतीय संस्कृति एवं लोकगीत. जयपुर: वाईटल प्रकाशन.
29. पाण्डेय, गया. (2007). भारतीय जनजातीय संस्कृति. नई दिल्ली: कांसेप्ट पब्लिशिंग कंपनी.
30. बद्रीनारायन. (1994). लोक संस्कृति और इतिहास. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.
31. बोआस, फ्रांज (1927). प्रीमिटिव आर्ट्स. आस्लों: एच.अस्चेल्हंगएंड कंपनी.
32. भार्गव, गोपाल. (2011). उत्तर-प्रदेश की कला एवं संस्कृति. दिल्ली: कल्पज प्रकाशन.
33. मुखर्जी, रवीद्र. नाथ. (2009). सामाजिक शोध व सांख्यिकी. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
34. वर्मा, महेंद्र. (2006). भारतीय चित्रकला की परंपरा. दिल्ली: भारतीय कला प्रशासन.
35. वियोगी, नवल. (2001). चमार जाति का गौरवशाली इतिहास. दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
36. वियोगी, नवल. (2001). भारत की आदिवासी नाग सभ्यता. दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
37. शुल्क, हीरा. लाल. (2012). आदिवासी संस्कृति, संगीत एवं नृत्य. दिल्ली: बी. आर. रिथम प्रकाशन.
38. श्रीवास्तव, ए. आर. एन. (2001). सामाजिक मानवविज्ञान. दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
39. श्रीवास्तव, विमल मोहिनी. (2002). प्राचीन भारतीय कला में मांगलिक प्रतीक. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
40. श्रीवास्तव, शैलेंद्र. (2009). भोजपुरी संस्कार गीत और प्रसार माध्यम. इलाहाबाद: राजकमल प्रकाशन.
41. हाऊजर, अर्नाल्ड. (2008). कला का इतिहास दर्शन. दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 27.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

स्वतंत्र भारत में शिक्षक-शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका: 1948-2005 तक के प्रमुख शिक्षा आयोगों का तुलनात्मक विश्लेषण

डॉ. अमृत कुमार*
dr.amritkr@gmail.com

उमेश कुमार†
kumarumesh845438@gmail.com

सारांश

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय शिक्षा व्यवस्था के पुनर्निर्माण में शिक्षक-शिक्षा और शिक्षक की भूमिका केंद्रीय चिंता के विषय रहे हैं। प्रस्तुत शोध पत्र 1948 से 2005 तक की अवधि में गठित प्रमुख शिक्षा आयोगों — विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (राधाकृष्णन आयोग, 1948-49), माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग, 1952-53), भारतीय शिक्षा आयोग (कोठारी आयोग, 1964-66), राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 एवं इसका 1992 का संशोधित कार्ययोजना-पत्र (Programme of Action), राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद अधिनियम 1993 तथा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 — द्वारा शिक्षक-शिक्षा और शिक्षक की भूमिका संबंधी संस्तुतियों का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शिक्षक की संकल्पना एक "सूचना-प्रदाता" से क्रमशः एक "सुविधा-प्रदाता," "समाज-निर्माता" और "चिंतनशील व्यवसायी" (Reflective Practitioner) के रूप में विकसित हुई है। साथ ही, प्रत्येक आयोग ने शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की गुणवत्ता, पाठ्यक्रम-संरचना, व्यावसायिक मानकों तथा शिक्षक की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार की संस्तुति की, परंतु कार्यान्वयन के स्तर पर संसाधनों की कमी, राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव, संस्थागत भ्रष्टाचार और केंद्र-राज्य समन्वय की समस्याओं ने इन संस्तुतियों के प्रभावी क्रियान्वयन को निरंतर बाधित किया है। यह अध्ययन द्वितीयक स्रोतों — आयोगों की मूल रिपोर्टों, सरकारी दस्तावेजों तथा विद्वत्तापूर्ण साहित्य — पर आधारित है और विश्लेषणात्मक-तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण करता है।

मुख्य शब्द:

शिक्षक-शिक्षा, शिक्षा आयोग, राधाकृष्णन आयोग, मुदालियर आयोग, कोठारी आयोग, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, NCTE, शिक्षक की भूमिका, भारतीय शिक्षा नीति

प्रस्तावना :

स्वतंत्रता प्राप्ति (1947) के पश्चात् भारत के समक्ष सबसे बड़ी चुनौतियों में एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का निर्माण करना था जो औपनिवेशिक शिक्षा-ढाँचे से मुक्त होकर एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और विकासशील राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इस पुनर्निर्माण प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका को केंद्रीय माना गया, क्योंकि किसी भी शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता अंततः उसमें कार्यरत शिक्षकों की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। जैसा कि कोठारी आयोग (1966) ने स्पष्ट रूप से कहा था, "भारत का भविष्य कक्षाओं में बन रहा है" (Kothari Commission, 1966, p. 1), और यह कक्षा अंततः शिक्षक द्वारा संचालित होती है।

* **शोध निर्देशक एवं वरिष्ठ सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जगदम कॉलेज, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

† **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**

भारत सरकार ने समय-समय पर विभिन्न आयोगों और समितियों का गठन किया जिनका उद्देश्य शिक्षा व्यवस्था की समीक्षा करना और उसमें सुधार हेतु संस्तुतियाँ प्रस्तुत करना था। इन आयोगों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षक-शिक्षा, शिक्षक की योग्यता, प्रशिक्षण, सेवा-शर्तें, व्यावसायिक विकास और सामाजिक स्थिति जैसे विषयों पर महत्त्वपूर्ण संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं। 1948 से 2005 तक की यह अवधि भारतीय शिक्षक-शिक्षा के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी दौरान शिक्षक की भूमिका की संकल्पना में मौलिक परिवर्तन आया — एक निर्देशात्मक, पाठ्यपुस्तक-केंद्रित शिक्षक से एक सुविधा-प्रदाता, बाल-केंद्रित और सामाजिक रूपांतरण के अभिकर्ता (Agent of Social Transformation) के रूप में।

अध्ययन का औचित्य

शिक्षक-शिक्षा पर केंद्रित विद्यमान साहित्य में अधिकांशतः व्यक्तिगत आयोगों की संस्तुतियों का विवरणात्मक विश्लेषण उपलब्ध है, परंतु इन आयोगों की संस्तुतियों के बीच ऐतिहासिक निरंतरता, वैचारिक परिवर्तन और तुलनात्मक मूल्यांकन पर व्यवस्थित शोध-कार्य अपेक्षाकृत सीमित है। प्रस्तुत अध्ययन इस अंतराल को भरने का प्रयास करता है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. 1948 से 2005 तक की अवधि में गठित प्रमुख शिक्षा आयोगों की शिक्षक-शिक्षा संबंधी संस्तुतियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना।
2. विभिन्न आयोगों द्वारा प्रस्तावित शिक्षक-शिक्षा सुधार के दृष्टिकोणों की तुलनात्मक समीक्षा करना।
3. शिक्षक की भूमिका और उत्तरदायित्वों में समय के साथ आए परिवर्तनों का विश्लेषण करना।
4. इन संस्तुतियों के कार्यान्वयन में आई बाधाओं और चुनौतियों की पहचान करना।
5. भविष्य की शिक्षक-शिक्षा नीति के लिए संस्तुतियाँ प्रस्तुत करना।

शोध प्रश्न

1. स्वतंत्र भारत के प्रमुख शिक्षा आयोगों ने शिक्षक-शिक्षा के संबंध में कौन-सी प्रमुख संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं?
2. समय के साथ शिक्षक की भूमिका की संकल्पना में क्या परिवर्तन आया?
3. इन संस्तुतियों के कार्यान्वयन में किन संरचनात्मक और संस्थागत बाधाओं का सामना करना पड़ा?
4. भविष्य की शिक्षक-शिक्षा नीति किस दिशा में अग्रसर होनी चाहिए?

शोध प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन एक गुणात्मक, ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक शोध-पद्धति पर आधारित है। यह पूर्णतः द्वितीयक स्रोतों पर निर्भर है, जिनमें सम्मिलित हैं: (क) संबंधित आयोगों की मूल रिपोर्टें — विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1949), माध्यमिक शिक्षा आयोग (1953), भारतीय शिक्षा आयोग (1966); (ख) भारत सरकार द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय शिक्षा नीति दस्तावेज (1968, 1986, 1992); (ग) राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद अधिनियम (1993) और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के दस्तावेज; (घ) शिक्षा-इतिहास एवं शिक्षक-शिक्षा पर विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ, शोध-पत्र और समीक्षात्मक लेख।

विश्लेषण की प्रक्रिया में सामग्री-विश्लेषण (Content Analysis) की पद्धति अपनाई गई है, जिसमें प्रत्येक आयोग की रिपोर्ट से शिक्षक-शिक्षा संबंधी संस्तुतियों को निकालकर उन्हें चार विश्लेषणात्मक श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है: (1) शिक्षक-प्रशिक्षण संरचना एवं पाठ्यक्रम, (2) शिक्षक की सेवा-शर्तें एवं सामाजिक स्थिति, (3) शिक्षक की भूमिका एवं दायित्व, और (4) शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं का प्रशासन एवं नियमन। तदुपरांत कालानुक्रमिक तुलना (Chronological Comparison) के माध्यम से इन चार श्रेणियों में समय के साथ आए परिवर्तनों की पहचान की गई है। यह अध्ययन मात्रात्मक आँकड़ों या क्षेत्र-सर्वेक्षण का उपयोग नहीं करता; इसकी सीमा दस्तावेज़ी एवं पाठ्य विश्लेषण तक सीमित है।

विभिन्न आयोगों की प्रमुख संस्तुतियाँ

1. विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग / राधाकृष्णन आयोग (1948-49) :

स्वतंत्र भारत का प्रथम शिक्षा आयोग नवंबर 1948 में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित किया गया, जिसका मुख्य अधिदेश विश्वविद्यालयी शिक्षा के पुनर्गठन से संबंधित था, तथापि इसने शिक्षक की भूमिका और उसकी सामाजिक स्थिति पर अत्यंत दूरदर्शी टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं। आयोग ने यह मूलभूत स्थापना दी कि किसी भी शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता उसमें कार्यरत शिक्षकों की गुणवत्ता से अधिक नहीं हो सकती, और इसी आधार पर शिक्षक को समस्त शैक्षिक पुनर्निर्माण का केंद्र-बिंदु माना (University Education Commission 48)। आयोग ने स्पष्ट रूप से रेखांकित किया कि औपनिवेशिक शासन के दौरान शिक्षक की सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति में जो निरंतर ह्रास हुआ, उसे दूर करना स्वतंत्र राष्ट्र का प्राथमिक दायित्व है; अतः शिक्षकों के वेतनमान में पर्याप्त सुधार, सेवा-सुरक्षा की गारंटी तथा सम्मानजनक सेवा-शर्तों की व्यवस्था आवश्यक है (University Education Commission 76-78)। शिक्षक-शिक्षा के संबंध में आयोग की महत्त्वपूर्ण संस्तुति यह थी कि शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं को विश्वविद्यालयों से संबद्ध किया जाए, जिससे प्रशिक्षण को अकादमिक गंभीरता और शोध-आधारित आधार प्राप्त हो सके। आयोग ने शिक्षक-चयन में केवल शैक्षणिक योग्यता को पर्याप्त न मानकर चारित्रिक गुणों, नैतिक निष्ठा और शिक्षण के प्रति समर्पण को समान महत्त्व देने पर बल दिया। उल्लेखनीय है कि आयोग ने शिक्षक को मात्र सूचना-प्रदाता के रूप में नहीं, बल्कि चरित्र-निर्माता, सांस्कृतिक मूल्यों के संवाहक और राष्ट्र-निर्माता के रूप में परिभाषित किया — एक दृष्टिकोण जो भारतीय दार्शनिक परंपरा, विशेषतः गुरु-शिष्य संबंध की आध्यात्मिक अवधारणा, से गहराई से प्रभावित था (Naik and Nurullah 324)। इस प्रकार राधाकृष्णन आयोग ने स्वतंत्र भारत में शिक्षक-विमर्श की वैचारिक आधारशिला रखी।

2 माध्यमिक शिक्षा आयोग / मुदालियर आयोग (1952-53) :

डॉ. ए. लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में सितंबर 1952 में गठित माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भारत में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के साथ-साथ शिक्षक-शिक्षा को अपनी प्राथमिक चिंताओं में सम्मिलित किया। आयोग ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि शिक्षा के पुनर्निर्माण की संपूर्ण योजना अंततः शिक्षक पर निर्भर करती है, और जब तक शिक्षकों को उचित प्रशिक्षण, सम्मानजनक वेतन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती, तब तक कोई भी शैक्षिक सुधार अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता (Secondary Education Commission 17)। आयोग ने तत्कालीन शिक्षक-प्रशिक्षण व्यवस्था की कठोर समीक्षा करते हुए पाया कि प्रशिक्षण कार्यक्रम अत्यधिक सैद्धांतिक, पाठ्यपुस्तक-केंद्रित और वास्तविक कक्षा-परिस्थितियों से विच्छिन्न थे। इसके समाधान हेतु आयोग ने प्रशिक्षण की अवधि और गुणवत्ता में सुधार, प्रशिक्षण संस्थाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि तथा पाठ्यक्रम में व्यावहारिक शिक्षण-प्रशिक्षण (Practice Teaching) को केंद्रीय स्थान देने की संस्तुति की (Secondary Education Commission 148-152)। आयोग की एक विशेष महत्त्वपूर्ण संस्तुति सेवाकालीन प्रशिक्षण (In-service Education) की संस्थागत व्यवस्था स्थापित करने की थी, जिससे कार्यरत शिक्षक नवीनतम शैक्षणिक पद्धतियों, विषय-ज्ञान और मूल्यांकन-तकनीकों से निरंतर अवगत रह सकें — यह संकल्पना शिक्षक-शिक्षा को एक सतत प्रक्रिया मानने की दिशा में प्रथम औपचारिक पहल थी (Mukherjee 212)। आयोग ने शिक्षकों के वेतन में समानता, सेवा-सुरक्षा और स्थायित्व सुनिश्चित करने तथा स्नातक एवं अस्नातक शिक्षकों के बीच अनुचित भेदभाव समाप्त करने पर भी बल दिया। भूमिका की दृष्टि से आयोग ने शिक्षक को केवल विषय-विशेषज्ञ नहीं, बल्कि विद्यार्थी के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक सर्वांगीण विकास के लिए उत्तरदायी मार्गदर्शक के रूप में प्रस्तुत किया।

3 भारतीय शिक्षा आयोग / कोठारी आयोग (1964-66) :

प्रो. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में जुलाई 1964 में गठित भारतीय शिक्षा आयोग स्वतंत्र भारत के शिक्षा-इतिहास में सर्वाधिक व्यापक और प्रभावशाली आयोग माना जाता है, जिसकी रिपोर्ट Education and National Development (1966) ने शिक्षक-शिक्षा को राष्ट्रीय विकास-योजना का अविभाज्य अंग घोषित किया। आयोग का प्रसिद्ध कथन — "भारत का भाग्य अब उसकी कक्षाओं में निर्मित हो रहा है" — शिक्षक की केंद्रीयता का सर्वाधिक सशक्त उद्घोष है (Kothari Commission 1)। आयोग ने शिक्षक-शिक्षा के लिए प्रारंभिक, माध्यमिक और उच्च स्तर हेतु पृथक त्रि-स्तरीय प्रशिक्षण-

संरचना की संस्तुति की तथा शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों के बीच सघन अकादमिक सहयोग पर बल दिया, जिससे प्रशिक्षण को शोध-आधारित गंभीरता प्राप्त हो (Kothari Commission 60-64)। आयोग ने शिक्षक-शिक्षा के गुणवत्ता-नियमन हेतु एक राष्ट्रीय शिक्षक-शिक्षा परिषद के गठन का प्रस्ताव रखा, जो आगे 1993 में NCTE के रूप में साकार हुआ। इसके अतिरिक्त आयोग ने शिक्षकों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर समान वेतनमान (National Salary Scale), शैक्षिक मनोविज्ञान एवं शैक्षणिक प्रौद्योगिकी के समावेश तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण के सुदृढ़ीकरण की संस्तुति की (Naik and Nurullah 380)। भूमिका की दृष्टि से आयोग ने शिक्षक को "सामाजिक इंजीनियर" के रूप में प्रस्तुत किया, जो राष्ट्रीय एकता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और लोकतांत्रिक मूल्यों के निर्माण का दायित्व वहन करता है।

4 राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968 :

कोठारी आयोग की संस्तुतियों के आधार पर निर्मित राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 स्वतंत्र भारत की प्रथम औपचारिक राष्ट्रीय शिक्षा नीति थी, जिसने संसदीय स्वीकृति के साथ शिक्षा को राष्ट्रीय विकास की एक केंद्रीय प्राथमिकता के रूप में प्रतिष्ठित किया। नीति ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि शिक्षा के पुनर्निर्माण की सफलता शिक्षक की योग्यता, प्रतिष्ठा और प्रतिबद्धता पर निर्भर है, और इसी आधार पर शिक्षकों की सेवा-शर्तों एवं वेतनमान में सुधार हेतु राज्य सरकारों को स्पष्ट निर्देश दिए गए (Government of India, National Policy on Education, 1968 2)। नीति ने शिक्षक-शिक्षा के पाठ्यक्रम के पुनर्गठन, उसे अधिक व्यावहारिक एवं कक्षा-सापेक्ष बनाने तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण के विस्तार पर बल दिया। इसके अतिरिक्त नीति में शिक्षकों की अकादमिक स्वतंत्रता की रक्षा, उनके व्यावसायिक संगठनों को प्रोत्साहन तथा शिक्षक-शिक्षा में विज्ञान-शिक्षा एवं कार्यानुभव (Work Experience) के समावेश की संस्तुति की गई (Government of India 3-4)। नीति ने शिक्षक को राष्ट्रीय विकास-योजनाओं में एक सक्रिय भागीदार तथा सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया। तथापि, आवश्यक वित्तीय आवंटन के अभाव, केंद्र-राज्य समन्वय की शिथिलता और प्रशासनिक जड़ता के कारण इस नीति की अधिकांश संस्तुतियाँ प्रभावी रूप से क्रियान्वित नहीं हो सकीं, जिससे संस्तुति और व्यवहार के बीच एक स्थायी अंतराल बना रहा (Naik and Nurullah 392)।

5 राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 और कार्ययोजना-पत्र, 1992 :

तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी के नेतृत्व में 1985 के दस्तावेज़ Challenge of Education की पृष्ठभूमि पर निर्मित राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 भारतीय शिक्षा के आधुनिकीकरण का निर्णायक मोड़ सिद्ध हुई, जिसने शिक्षा को सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास और राष्ट्रीय एकीकरण का सशक्त माध्यम घोषित किया (Ministry of Education 1-4)। नीति की केंद्रीय स्थापना थी कि शिक्षा-व्यवस्था के पुनरुद्धार की प्रक्रिया अनिवार्यतः शिक्षक से प्रारंभ होती है, और किसी समाज में शिक्षक की स्थिति उसके सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिबिंबित करती है (MHRD, National Policy on Education, 1986 25)। इसी आधार पर नीति ने शिक्षक-शिक्षा के लिए त्रि-स्तरीय संस्थागत ढाँचे — जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (DIET), शिक्षक-शिक्षा महाविद्यालय (CTE) तथा उन्नत अध्ययन संस्थान (IASE) — की स्थापना, शिक्षक-शिक्षा को सेवा-पूर्व एवं सेवाकालीन प्रशिक्षण के अविभाज्य सातत्य के रूप में परिभाषित करने, तथा शिक्षकों के प्रदर्शन-मूल्यांकन एवं जवाबदेही की व्यवस्था की संस्तुति की (MHRD 26)। आचार्य राममूर्ति समिति (1990) और जनार्दन रेड्डी समिति (1992) की समीक्षाओं के पश्चात् प्रस्तुत कार्ययोजना-पत्र 1992 ने इन संस्तुतियों को समयबद्ध, वित्त-सहित क्रियान्वयन-रूपरेखा प्रदान की तथा NCTE को सांविधिक दर्जा देने का मार्ग प्रशस्त किया (MHRD, Programme of Action, 1992 1-5)। नीति ने शिक्षक को "सुविधा-प्रदाता" के रूप में पुनर्परिभाषित किया, परंतु उसे पाठ्यक्रम-निर्माण में वास्तविक कर्तृत्व प्रदान नहीं किया (Batra 4347-4351)।

6 राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद अधिनियम, 1993 (NCTE Act) :

कोठारी आयोग (1966) द्वारा प्रस्तावित और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 एवं कार्ययोजना-पत्र 1992 द्वारा पुनः अनुमोदित संस्तुति की परिणति के रूप में संसद ने 1993 में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद अधिनियम पारित किया, जिसके द्वारा 1973 से एक परामर्शदात्री निकाय के रूप में कार्यरत NCTE को सांविधिक निकाय (Statutory Body) का दर्जा प्राप्त हुआ और वह 17 अगस्त 1995 से प्रभावी रूप से अस्तित्व में आई (National Council for Teacher Education,

NCTE Act, 1993 2-3)। अधिनियम का घोषित उद्देश्य देश में शिक्षक-शिक्षा व्यवस्था का "आयोजित एवं समन्वित विकास" तथा उसके मानकों का नियमन सुनिश्चित करना था। इसके प्रमुख प्रावधानों में शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं को मान्यता (Recognition) प्रदान करने एवं वापस लेने का अधिकार, पाठ्यक्रमों के लिए न्यूनतम मानदंड एवं मानक (Norms and Standards) का निर्धारण, संकाय-योग्यता, अवसंरचना तथा छात्र-शिक्षक अनुपात संबंधी शर्तों का विनिर्देशन, और अनियमित अथवा मानक-विहीन संस्थाओं पर दंडात्मक कार्रवाई का प्रावधान सम्मिलित था (NCTE 5-12)। शोधार्थी दृष्टिकोण से यह अधिनियम शिक्षक-शिक्षा के संस्थागत विनियमन की दिशा में निर्णायक कदम था; तथापि परवर्ती दशकों में निजी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की अनियंत्रित वृद्धि, मान्यता-प्रक्रिया में शिथिलता और गुणवत्ता-नियंत्रण की विफलता ने अधिनियम की प्रभावकारिता को गंभीर रूप से प्रश्नांकित किया, जिसे न्यायमूर्ति वर्मा आयोग (2012) ने भी स्पष्ट रूप से रेखांकित किया (Batra 4350)।

7 राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005 (NCF 2005) :

प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में गठित संचालन समिति के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT) द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 भारतीय शिक्षाशास्त्रीय चिंतन में एक मौलिक वैचारिक परिवर्तन का प्रतीक है। यह दस्तावेज़ 1993 की Learning Without Burden रिपोर्ट की दार्शनिक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए रटंत-आधारित, परीक्षा-केंद्रित और पाठ्यपुस्तक-बद्ध शिक्षा-व्यवस्था की कठोर समीक्षा प्रस्तुत करता है (NCERT, National Curriculum Framework, 2005 2-5)। NCF 2005 का केंद्रीय दर्शन सामाजिक रचनावाद (Social Constructivism) है, जिसके अनुसार ज्ञान बाह्य रूप से हस्तांतरित नहीं किया जाता, बल्कि शिक्षार्थी द्वारा अपने सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में सक्रिय रूप से निर्मित किया जाता है। इस आधार पर दस्तावेज़ ने शिक्षक की भूमिका को आधारभूत रूप से पुनर्परिभाषित करते हुए उसे एक चिंतनशील व्यवसायी (Reflective Practitioner) तथा विद्यार्थियों के साथ ज्ञान का सह-निर्माता (Co-constructor) घोषित किया, जो स्वयं भी एक सतत शिक्षार्थी है (NCERT 13)।

शिक्षक-शिक्षा के संदर्भ में NCF 2005 की प्रमुख स्थापनाएँ हैं — शिक्षक-केंद्रित निर्देशात्मक पद्धति से बाल-केंद्रित, अनुभव-आधारित और खोजपरक शिक्षण-पद्धति की ओर संक्रमण; पाठ्यक्रम में समालोचनात्मक चिंतन, समावेशी शिक्षा तथा जाति, वर्ग, लिंग और भाषाई विविधता के प्रति संवेदनशीलता का समावेश; शिक्षार्थी के स्थानीय परिवेश एवं पूर्व-ज्ञान को पाठ्यचर्या का आधार बनाना; तथा परीक्षा-सुधार के अंतर्गत सतत एवं व्यापक मूल्यांकन (CCE) की व्यवस्था की संस्तुति (NCERT 71-78, 109-114)। दस्तावेज़ ने शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं में सैद्धांतिक अध्ययन और विस्तृत विद्यालय-आधारित व्यावहारिक अनुभव के बीच सार्थक संतुलन स्थापित करने तथा शिक्षक को पाठ्यक्रम-निर्माण की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनाने पर विशेष बल दिया।

शोधार्थी दृष्टिकोण से NCF 2005 का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि इसने शिक्षक के कर्तृत्व (Agency) और व्यावसायिक स्वायत्तता को नीतिगत वैधता प्रदान की — एक तत्त्व जिसका NPE 1986 में अभाव था (Batra 4352)। तथापि आलोचकों ने यह तर्क दिया कि रचनावादी आदर्श और भारतीय विद्यालयों की यथार्थ परिस्थितियाँ — विशाल कक्षाएँ, अपर्याप्त प्रशिक्षण और संसाधनों का अभाव — के बीच गहरा अंतराल विद्यमान है (Sarangapani 4717)। इसी वैचारिक दिशा का विस्तृत स्वरूप आगे राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा पाठ्यचर्या की रूपरेखा (NCFTE 2009) में प्रकट हुआ।

शिक्षक-शिक्षा सुधार के दृष्टिकोणों की तुलना

आयोग/नीति	वर्ष	शिक्षक की संकल्पना	प्रमुख बल-क्षेत्र	संस्थागत प्रस्ताव
राधाकृष्णन आयोग	1948-49	चरित्र-निर्माता, नैतिक मार्गदर्शक	वेतन, प्रतिष्ठा, चारित्रिक गुण	प्रशिक्षण संस्थाओं की विश्वविद्यालय-संबद्धता

आयोग/नीति	वर्ष	शिक्षक की संकल्पना	प्रमुख बल-क्षेत्र	संस्थागत प्रस्ताव
मुदालियर आयोग	1952-53	विषय-विशेषज्ञ एवं सर्वांगीण विकास-सहायक	प्रशिक्षण-गुणवत्ता, सेवा-सुरक्षा	सेवाकालीन प्रशिक्षण की संस्थागत व्यवस्था
कोठारी आयोग	1964-66	सामाजिक इंजीनियर, राष्ट्र-निर्माता	राष्ट्रीय समानता, व्यावसायिक मानक	राष्ट्रीय शिक्षक-शिक्षा परिषद (प्रस्तावित)
NPE 1968	1968	विकास-भागीदार	वेतन-सुधार, व्यावसायिक संगठन	पाठ्यक्रम-पुनर्गठन
NPE 1986 / POA 1992	1986-92	सुविधा-प्रदाता (Facilitator)	निरंतर शिक्षा, जवाबदेही	DIET, CTE, IASE
NCTE अधिनियम	1993	विनियमित व्यवसायी	गुणवत्ता-नियमन, मान्यता	NCTE (सांविधिक निकाय)
NCF 2005	2005	चिंतनशील व्यवसायी, सह-शिक्षार्थी	रचनावाद, समावेशिता, कर्तृत्व	पाठ्यचर्या एवं मूल्यांकन-सुधार

तुलनात्मक विश्लेषण से तीन स्पष्ट प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। **प्रथम**, सुधार का केंद्र-बिंदु क्रमशः स्थानांतरित हुआ — प्रारंभिक आयोगों (राधाकृष्णन, मुदालियर) में शिक्षक की *व्यक्तिगत* नैतिकता एवं आर्थिक स्थिति, कोठारी आयोग एवं NPE 1968 में *राष्ट्रीय-संरचनात्मक* समानता, NPE 1986 एवं NCTE अधिनियम में *संस्थागत-विनियामक* गुणवत्ता, तथा NCF 2005 में *शिक्षाशास्त्रीय-वैचारिक* रूपांतरण (Naik and Nurullah 380-392)। **द्वितीय**, शिक्षाशास्त्रीय आधार में व्यवहारवाद (Behaviourism) से रचनावाद (Constructivism) की ओर संक्रमण हुआ, जो वैश्विक शैक्षिक चिंतन के परिवर्तन के अनुरूप था (NCERT 13)। **तृतीय**, शिक्षक की भूमिका एकदिशीय ज्ञान-संप्रेषण से सहभागी ज्ञान-निर्माण की ओर विकसित हुई, तथा उसके *कर्तृत्व* (Agency) को नीतिगत स्वीकृति अपेक्षाकृत विलंब से — केवल NCF 2005 में — प्राप्त हुई (Batra 4352)। तथापि एक समानता सभी दस्तावेज़ों में निरंतर बनी रही — प्रत्येक ने शिक्षक को शिक्षा-सुधार की सफलता की अनिवार्य कुंजी माना, किंतु किसी भी काल में संस्तुति और कार्यान्वयन के बीच का अंतराल पूर्णतः समाप्त नहीं हो सका।

शिक्षक की भूमिका और उत्तरदायित्वों में परिवर्तन

उपर्युक्त विश्लेषण से शिक्षक की भूमिका में निम्नलिखित चार प्रमुख चरणों में परिवर्तन स्पष्ट होता है:

नैतिक-सांस्कृतिक चरण (1948-53): इस चरण में शिक्षक को मुख्यतः चरित्र-निर्माता और सांस्कृतिक मूल्यों के संवाहक के रूप में देखा गया। गुरु-शिष्य परंपरा का प्रभाव इस दृष्टिकोण में स्पष्ट था।

राष्ट्र-निर्माण चरण (1964-68): कोठारी आयोग और NPE 1968 के दौरान शिक्षक को राष्ट्रीय विकास, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सामाजिक समानता के निर्माण में एक सक्रिय अभिकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया।

सुविधा-प्रदाता चरण (1986-93): इस चरण में शिक्षक की भूमिका निर्देशात्मक शिक्षण से बाल-केंद्रित सुविधा-प्रदान की ओर स्थानांतरित हुई, तथा शिक्षक की जवाबदेही और व्यावसायिक मानकों पर बल दिया गया।

चिंतनशील व्यवसायी चरण (2005 के पश्चात्): NCF 2005 ने शिक्षक को एक चिंतनशील व्यवसायी के रूप में परिभाषित किया, जो अपने शिक्षण-अनुभवों पर आलोचनात्मक चिंतन करता है और विद्यार्थियों के साथ ज्ञान का सह-निर्माण करता है।

इस प्रकार शिक्षक की भूमिका एकदिशीय ज्ञान-संप्रेषण से बहुआयामी, सहभागितापूर्ण और समाज-सापेक्ष उत्तरदायित्व की ओर विकसित हुई है।

कार्यान्वयन में आई बाधाएँ और चुनौतियाँ

स्वतंत्रता के पश्चात् निर्मित प्रत्येक आयोग और नीति ने शिक्षक को शैक्षिक पुनर्निर्माण की कुंजी स्वीकार किया, तथापि संस्तुति और व्यवहार के बीच का अंतराल निरंतर बना रहा। सर्वप्रमुख बाधा अपर्याप्त वित्तीय आवंटन रही — कोठारी आयोग द्वारा संस्तुत सकल घरेलू उत्पाद के छह प्रतिशत का लक्ष्य दशकों तक अप्राप्त रहा, जिससे शिक्षक-शिक्षा संस्थाओं की अवसंरचना और संकाय-नियुक्ति प्रभावित हुई (Tilak 1641)। द्वितीय, शिक्षा के समवर्ती विषय होने के कारण केंद्र-राज्य समन्वय की शिथिलता तथा प्रशासनिक जड़ता ने क्रियान्वयन को मंद किया। तृतीय, DIET, CTE और IASE जैसी संस्थाएँ संख्यात्मक रूप से स्थापित हुईं, परंतु रिक्त पदों, प्रशिक्षित संकाय के अभाव और अकादमिक उपेक्षा के कारण अपेक्षित नेतृत्व प्रदान करने में असफल रहीं (Yadav 23)। चतुर्थ, NCTE की मान्यता-प्रक्रिया में शिथिलता से निजी प्रशिक्षण संस्थाओं की अनियंत्रित वृद्धि हुई और शिक्षक-शिक्षा व्यावसायिक उपक्रम में परिणत हो गई, जिसे वर्मा आयोग (2012) ने गंभीरता से रेखांकित किया। अंततः, विशाल कक्षाएँ, अत्यधिक गैर-शैक्षणिक दायित्व और सेवाकालीन प्रशिक्षण की औपचारिकता ने रचनावादी आदर्शों को कक्षा-यथार्थ में रूपांतरित होने से रोका (Batra 4353; Sarangapani 4718)।

निष्कर्ष :-

1948 से 2005 तक की अवधि में भारतीय शिक्षा आयोगों और नीतियों ने शिक्षक-शिक्षा और शिक्षक की भूमिका के संबंध में एक सतत वैचारिक विकास प्रस्तुत किया है — नैतिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से राष्ट्र-निर्माण, सुविधा-प्रदान और अंततः चिंतनशील व्यवसायिकता की ओर। प्रत्येक आयोग ने अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षक की भूमिका को पुनर्परिभाषित किया, परंतु इन सभी संस्तुतियों में एक समान स्वर स्पष्ट है — शिक्षक को किसी भी शिक्षा-सुधार की सफलता की कुंजी माना गया है। तथापि, संरचनात्मक, वित्तीय और प्रशासनिक बाधाओं के कारण इन संस्तुतियों का पूर्ण और प्रभावी क्रियान्वयन अभी तक नहीं हो सका है, जिससे संस्तुति और व्यवहार के बीच एक निरंतर अंतराल बना रहा है।

यानी शिक्षक-शिक्षा की दिशा में भारत की यात्रा सतत विकासशील रही है, परंतु संस्तुति और वास्तविक कार्यान्वयन के बीच का अंतराल आज भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था की सबसे बड़ी चुनौतियों में एक है। भविष्य की नीति-निर्माण प्रक्रिया को इस अंतराल को समाप्त करने की दिशा में केंद्रित होना चाहिए, जिससे शिक्षक वास्तविक रूप से राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के केंद्र में स्थापित हो सके।

संदर्भ :-

पाठक, पी. डी. *भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ*. विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 2011.

भारत सरकार. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968*. शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली, 1968.

मानव संसाधन विकास मंत्रालय. *राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986*. भारत सरकार, नई दिल्ली, 1986.

---. *कार्ययोजना, 1992*. भारत सरकार, नई दिल्ली, 1992.

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्. *राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् अधिनियम, 1993*. भारत सरकार, नई दिल्ली, 1993.

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्. *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005*. एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 2005.

---. *बोझ रहित अधिगम: राष्ट्रीय सलाहकार समिति का प्रतिवेदन*. भारत सरकार, नई दिल्ली, 1993.

लाल, रमन बिहारी. *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत*. रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ, 2012.

सक्सेना, एन. आर. स्वरूप. *भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ*. आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, 2010.

Batra, Poonam. "Voice and Agency of Teachers: Missing Link in National Curriculum Framework 2005." *Economic and Political Weekly*, vol. 40, no. 40, 2005, pp. 4347-4356.

Government of India. *National Policy on Education, 1968*. Ministry of Education, 1968.

Kothari Commission. *Education and National Development: Report of the Education Commission, 1964-66*. Ministry of Education, Government of India, 1966.

Ministry of Education. *Challenge of Education: A Policy Perspective*. Government of India, 1985.

Ministry of Human Resource Development. *National Policy on Education, 1986*. Government of India, 1986.

---. *Programme of Action, 1992*. Government of India, 1992.

Naik, J. P., and Syed Nurullah. *A Students' History of Education in India, 1800-1973*. 7th ed., Macmillan India, 2000.

National Council for Teacher Education. *The National Council for Teacher Education Act, 1993 (Act No. 73 of 1993)*. Government of India, 1993.

National Council of Educational Research and Training. *Learning Without Burden: Report of the National Advisory Committee*. Government of India, 1993.

---. *National Curriculum Framework, 2005*. NCERT, 2005.

---. *National Curriculum Framework for Teacher Education, 2009*. NCTE, 2009.

Sarangapani, Padma M. "Constructing School Knowledge: An Ethnography of Learning in an Indian Village." *Economic and Political Weekly*, vol. 38, no. 44, 2003, pp. 4714-4720.

Secondary Education Commission. *Report of the Secondary Education Commission, 1952-53*. Ministry of Education, Government of India, 1953.

Tilak, Jandhyala B. G. "Education in the Draft National Policy on Education." *Economic and Political Weekly*, vol. 21, no. 37, 1986, pp. 1638-1644.

University Education Commission. *Report of the University Education Commission, 1948-49*. Vol. 1, Ministry of Education, Government of India, 1949.

Yadav, S. K. *Impact of In-service Teacher Training Programmes on Classroom Transaction*. NCERT, 2011

Received: 28.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

The Role of Kesari and Mahratta in the Growth of Indian Nationalism

ROHIT RAJ*

rohitraj27oct93@gmail.com

Abstract

This study examines political journalism of Bal Gangadhar Tilak during 1881-1908, focusing on his roles in Kesari and The Mahratta. Newspapers and other periodicals in the region provided the early formations of modern journalism and politics of India. These two journals covered politics and other topics in English and Marathi. This study uses the qualitative approach. With the aid of theory and concept of print culture, it explores how Tilak, with his type of journalism, participated in different political discussions that led to the development of modern Indian journalism and politics. It analyzes various aspects of Tilak's life, including the Sedition case of 1897, and the court cases of 1908, and Tilak's politics after the Swadeshi Movement of 1905. The study argues that prior to the reforms of the political and legal systems of the British Raj, Tilak promoted the understanding of liberal political and legal systems of the British Raj, and various forms of nationalism through his magazines and other publications. Thus, with his magazines and journals, Tilak is the preeminent figure that prompted the growth and development of modern Indian nationalism.

Keywords:

Bal Gangadhar Tilak, Kesari, The Mahratta, Indian nationalism, colonial press, political communication, sedition

Introduction

In colonial India, the press published a range of literary and political materials in multiple languages. J. Natarajan's history of Indian journalism treats the vernacular and English-language press as central to the growth of nationalist consciousness. Both kinds of press expanded the arena of political discussion and helped connect public criticism, political education, and emerging nationalist organization.[1]

Better known as a nationalist leader and political activist, Bal Gangadhar Tilak was also an influential journalist. He and his associates developed two weekly newspapers with complementary linguistic roles: The Mahratta in English and Kesari in Marathi. The papers became important vehicles for political commentary, public education, and nationalist debate in western India.[2]

As a Marathi weekly, Kesari was rooted primarily in the Marathi-reading public of Maharashtra, whereas the English-language Mahratta could address a wider English-educated audience. Their

* **Ph. D. Research Scholar, Department of History, Jai Prakash University, Chapra, Bihar**

political fields overlapped, but their language choices gave them different communicative reach and institutional audiences.[3]

The importance of Kesari and The Mahratta lies in their contribution to journalism and political discourse. They helped shift public debate from administrative grievances toward broader questions of rights, duties, representation, and political responsibility. Upton's recent study is especially useful because it reconstructs Tilak's writing career across both newspapers and places his journalism within the wider development of his political thought.[4]

Print Culture and the colonial Public Sphere

Rapid changes in technology in the printing press and heightened literacy rates in the nineteenth century allowed for the expansion of vernacular journalism. However, unreformed laws of the realm and administrative arbitrary rule restricted the vernacular press. While the English press was constrained by self-imposed limits, the vernacular press, through the lens of freedom of expression, explored various doctrines and theories.[5]

The press of that era, from a public sphere perspective, was critical in advancing the cause of democracy and fulfilling its responsibilities. It helped shape a critical discourse on colonial policy and offered a space for the expression of political views, in the process fulfilling an important function of representative democracy. It is for this reason that estimated circulation figures are not always the best barometers of their worth and impact.[6]

These publications, in English and Marathi, extend the arena of communica-tion between vernacular journalism and English journalism. Each represented a type of nationalism. While English journalism of the time was helpful in the intervention of official and literary public work, Marathi journalism was useful in the political work of the time by means of journalism. Therefore, we can say that the effort of the nationalist journalists of the time was to inject the official reports with the principles of Indian nationalism.[7]

Founding, Editorial Purpose and Audience

The same institutional energy that animated new educational ventures in Pune was also visible in the founding of The Mahratta and Kesari. The Mahratta, an English weekly, first appeared on 2 January 1881, while Kesari, a Marathi newspaper, was founded on 4 January 1881. The two publications were developed by Tilak and his associates to address different linguistic publics while promoting political education and scrutiny of colonial administration.[8]

Editorial responsibility in the two newspapers changed over time. Tilak and Gopal Ganesh Agarkar both contributed to the early journalistic project, and their later political and social differences affected editorial direction. Early articles should therefore be interpreted with attention to authorship, date, language, and institutional context rather than automatically attributed to Tilak alone.[9]

Tilak the Editor and Political Columnist

Tilak was a pre-eminent journalist of his time, and a consistent critic of government policies. Through his journalistic works, he voiced his opinion on the duties and rights of citizens. He analyzed and explained the nature and methods of the government and justified the people's struggle for self-

governance. He was perhaps the first person to rationally and systematically elucidate the people's grievances against the British Rule in India and other parts of the world, and laid the foundation of nationalism and freedom movement in India. His ideas on self-reliance and nationalism are timeless. He pioneered the concept of nationalism and freedom movement in India through his writings, speeches and politics. His thoughts and works are made up of rational, logical and scientific analysis of the contemporary situations and conditions.[10]

Newspapers were part of a larger ecosystem of politics. They printed responses to their ideas. Unlike modern day newspapers, which carry step by step instructions for the public to follow, newspapers facilitated the exchange of ideas through print, by being critiqued and discussed. Ideally, this was the outcome of public interaction with the ideas.[11]

Kesari and Vernacular Nationalist Mobilization

Kesari's focus on the Marathi constituency further augmented its significance. Other editors also relied on Marathi literature and vernacular representations to publish political ideas. Studies of vernacular public culture show how Indian-language print enabled political arguments to move beyond English-educated elites and helped readers articulate demands concerning representation, public policy, and colonial administration.[12]

Tilak was also focused on the vernacular constituency. His participation in the Ganapati festival was also aimed at promoting a sense of national integration and bridging the gap among the people of India. Ideas published in Tilak's paper advocated for social amity and other allied issues.[13]

Kesari's criticism of government actions was repeatedly subjected to colonial legal interpretation, particularly in sedition proceedings involving Marathi-language articles. The British relied on government interpreters and translators to render Marathi articles to British judges. English translations of Marathi articles often contained grammatical and syntactical errors. Invariably, the British judges relied on Marathi expressions of the defendants to evaluate the gist and essence of articles. Marathi, like other languages of India, reflected the political and aspirations of the people of India; and this was evident in the various colonial courts of India.[14]

The Mahratta and English Political Press

The English version of The Mahratta enabled it an audience beyond Maharashtra. In comparison to Kesari which was editorially constrained within the city of Pune, The Mahratta engaged with and influenced the debates occurring within the Indian National Congress and the policy of the British Government of India. The policy, politics and other issues concerning the city of Pune and Maharashtra received coverage in The Mahratta. Articles advocated and promoted the causes of Indian freedom from British rule.[15]

Kesari and The Mahratta addressed differently constituted readerships because of language, education, and circulation, although their audiences and arguments could overlap through bilingual readers, public discussion, and the wider circulation of political ideas.[16]

The Plague, Journalism and the 1897 Sedition Case

The 1896-97 outbreak of plague in Pune created a major flashpoint in the career of Bal Gangadhar Tilak and his career as well as the British administration in India. Plague is a deadly, infectious disease. In the process, the British administration adopted several draconian and repressive measures, including searches of houses and removal of occupants, if necessary. Tilak condemned these measures. With the assassination of the British Plague Commissioner and a Lieutenent of the British Army, Tilak was charged with and convicted of sedition.[17]

Articles in Kesari (1891-1907) attracted the attention of the British administration for allegedly advocating violence. Many have charged that Tilak advocated the use of violence by interpreting historcial figures and events in a particular light. On the other hand, the numerous cases against Tilak contributed to his popularity and transformed him to a celebrated hero in the realm of press and free speech.[18]

The 1897 sedition proceedings illustrate how translation, interpretation, legal argument, and judicial assessment shaped the treatment of political writing. Criticism of government could be construed as disaffection under the colonial law, making linguistic context especially important in the prosecution of vernacular journalism.[19]

Cultural Politics, Historical Symbolism, and Political Framing

Tilak combined historical symbolism with contemporary politics. In his writings and public activity, Shivaji was presented as a figure of political memory, while the Ganapati festival became a vehicle for organized public participation. Cashman emphasizes the role of such institutions in the growth of mass politics, whereas Upton interprets parts of Tilak's political language through the communitarian and Hindu intellectual frameworks of his period.[20]

The use of symbols and historical events helped political arguments become intelligible beyond narrowly institutional settings. Such symbols could connect historical memory with criticism of colonial rule and provide a shared vocabulary for public meetings, journalism, and civic mobilization.[21]

The newspapers also used historical and cultural references as forms of political framing. Through these representations, Kesari and The Mahratta contributed to the circulation of nationalist and democratic political ideas among sections of the reading public in western India.[22]

Swadeshi, Boycott and National Education, 1905-1908

The partition of Bengal in 1905 intensified the Swadeshi, boycott, and national-education movements. These campaigns sought to reduce dependence on colonial institutions while expanding indigenous economic, educational, and political organization. Tilak advocated extending Swadeshi politics beyond Bengal, linking political protest with self-reliance and national education.[23]

During this period, a number of National newspapers were published and played an important role in integrating various regions of the country. One important feature of these National newspapers was to report and publish articles from different regions of the country to explain the issues and concerns of different regions to the rest of the country.[24]

During the Swadeshi period, one important feature of the Indian National Congress was to maintain a balance between moderation and extreme Nationalism. It, however, does not mean that Tilak was the leader of the extreme wing of the Congress. The Swadeshi movement brought in a sense of unity among people and integrated various activities of the people through Print media.[25]

Sedition and the 1908 Prosecution

Historians trace the second phase of the growth of nationalism in the early 20th century to the Swadeshi movement. Radical nationalism extended to University students, who formed revolutionary committees and started publications. Activities of some of these students led to the introduction of new sedition laws. Tilak was again prosecuted for sedition in 1908. The case revolved around publications containing views on the implications of the events of 1905 for India.[26]

Through the sedition proceedings, journalism and public opinion came under closer colonial scrutiny. The prosecutions exposed disputes over the boundary between political criticism and legally defined disaffection, while also making questions of press freedom, translation, and editorial responsibility more visible in public debate.[27]

The 1908 prosecution demonstrates how political articles became objects of contested legal interpretation. Questions of authorial intent, translation, context, and the statutory meaning of disaffection were central to the case and to the broader colonial regulation of nationalist journalism.[28]

Comparative Analysis of Communication

Political communication in late nineteenth-century western India combined print with oral discussion and public activity. Tilak and his associates used both Kesari and The Mahratta as weekly newspapers: Kesari addressed Marathi readers, while The Mahratta presented arguments in English to a wider English-educated public. Ideas could therefore move between linguistic publics through print, translation, discussion, and political meetings.[29]

In analyzing Kesari and The Mahratta, we must note that the processes of modern publication and distribution in the late 19th and early 20th centuries were in the hands of a few and the Radical Nationalists of that time were mostly Upper Caste. So, they were politically exclusive. Also, publication and political processes were integrated with traditional, mostly oral, processes.[30]

Dimension	Kesari	The Mahratta
Language	Marathi	English
Core public	Marathi-reading public in western India; arguments also circulated orally	English-educated readers, professionals, political associations and officials
Communication style	Vernacular political commentary with regional historical and cultural idioms	English-language argumentation directed to wider elite and official debate
Political function	Popular political education, criticism of administration, mobilization	Inter-regional political debate, policy criticism, articulation of nationalist claims

Cultural repertoire	Strong use of Maharashtra history and public-festival context	More direct engagement with constitutional, administrative and all-India political vocabulary
Colonial scrutiny	Central to translation disputes and sedition prosecution	Part of Tilak's broader press activity and English-language public intervention

Critical Discussion

Historians have interpreted Tilak's journalism from different perspectives. Earlier nationalist accounts emphasized its contribution to political awakening, while later scholarship has paid greater attention to social hierarchy, ideological conflict, readership, language, and the institutional conditions of the colonial public sphere. Cashman and Upton provide contrasting but complementary contextual approaches to these questions.[31]

Reassessment of Tilak's journalistic legacy requires attention to both political influence and historical context. The long publication of The Mahratta and Kesari helped circulate nationalist arguments in English and Marathi, while repeated sedition proceedings made Tilak's journalism a prominent site of conflict over political criticism and press freedom.[32]

Tilak's journalism operated under restrictive legal and political conditions, but it also reflected the social hierarchies and ideological tensions of its period. His newspapers articulated forceful nationalist arguments while remaining embedded in a public sphere marked by unequal access to education, print, caste authority, and gendered participation.[33]

Newspapers of that time played an important role in articulating different views of people on plague, Swadeshi, boycott, national education, and sedition. Newspapers of those times not only reported on the above mentioned matters but gave their opinion, judge and interpret them in the context of citizenship, civil liberties and popular representation. It is a known fact that British authorities prosecuted sedition cases against Mr. Tilak several times and this shows that British authorities took serious note of publications of those times.[34]

It must be emphasized that the limitations of the social order of those times frames the activities of that time in the field of national movement. Publications of that time were successful in molding Nationalism of Indian people, but it must be noted that the situation of that time included, among other things, absence of general and adequate means of education and culture created by the people, and the prevalence of a narrow social order and dominating authoritarian social system. The combined effect of all these factors limited the scope of journalistic activities of that time. Publications like Kesari and The Mahratta brought a great deal of unification and co-ordination among various social, cultural and political activities of that time and served as a battlefield against colonial rule.[35]

References:

1. J. Natarajan, History of Indian Journalism (Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1955); Anindita Ghosh, Power in Print: Popular Publishing and the Politics of Language and Culture in a Colonial Society, 1778–1905 (Oxford University Press, 2006).

2. Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024); Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024).

3. Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

4. John R. McLane, Indian Nationalism and the Early Congress (Princeton University Press, 2015; original work published 1978); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

5. Anindita Ghosh, Power in Print: Popular Publishing and the Politics of Language and Culture in a Colonial Society, 1778–1905 (Oxford University Press, 2006); Bernard S. Cohn, Colonialism and Its Forms of Knowledge: The British in India (Princeton University Press, 1996).

6. Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001); C. A. Bayly, Empire and Information: Intelligence Gathering and Social Communication in India, 1780–1870 (Cambridge University Press, 1996).

7. Francesca Orsini, The Hindi Public Sphere 1920–1940: Language and Literature in the Age of Nationalism (Oxford University Press, 2002); Benedict Anderson, Imagined Communities: Reflections on the Origin and Spread of Nationalism, rev. ed. (Verso, 2006); Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001).

8. A. K. Bhagwat and G. P. Pradhan, Lokmanya Tilak: A Biography (Jaico Publishing House, 2015); Stanley A. Wolpert, Tilak and Gokhale: Revolution and Reform in the Making of Modern India (Oxford University Press, 1989 reprint).

9. A. K. Bhagwat and G. P. Pradhan, Lokmanya Tilak: A Biography (Jaico Publishing House, 2015); Stanley A. Wolpert, Tilak and Gokhale: Revolution and Reform in the Making of Modern India (Oxford University Press, 1989 reprint).

10. Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

11. C. A. Bayly, Empire and Information: Intelligence Gathering and Social Communication in India, 1780–1870 (Cambridge University Press, 1996); Ulrike Stark, An Empire of Books: The Naval Kishore Press and the Diffusion of the Printed Word in Colonial India (Permanent Black, 2007).

12. Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001); Anindita Ghosh, Power in Print: Popular Publishing and the Politics of Language and Culture in a Colonial Society, 1778–1905 (Oxford University Press, 2006).

13. Richard I. Cashman, The Myth of the Lokamanya: Tilak and Mass Politics in Maharashtra (University of California Press, 2024 reissue; original work published 1975); Prachi Deshpande, Creative Pasts: Historical Memory and Identity in Western India, 1700–1960 (Columbia University Press, 2007).

14. Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

15. Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024); J. Natarajan, History of Indian Journalism (Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1955).

16. Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001); Benedict Anderson, Imagined Communities: Reflections on the Origin and Spread of Nationalism, rev. ed. (Verso, 2006).

17. Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

18. Richard I. Cashman, The Myth of the Lokamanya: Tilak and Mass Politics in Maharashtra (University of California Press, 2024 reissue; original work published 1975); Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024).

19. Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024); Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024).

20. Richard I. Cashman, The Myth of the Lokamanya: Tilak and Mass Politics in Maharashtra (University of California Press, 2024 reissue; original work published 1975); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

21. Prachi Deshpande, Creative Pasts: Historical Memory and Identity in Western India, 1700–1960 (Columbia University Press, 2007); Rosalind O'Hanlon, Caste, Conflict and Ideology: Mahatma Jotirao Phule and Low Caste Protest in Nineteenth-Century Western India (Cambridge University Press, 1985).

22. Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001); Partha Chatterjee, Nationalist Thought and the Colonial World: A Derivative Discourse? (Zed Books, 1986).

23. Sumit Sarkar, The Swadeshi Movement in Bengal, 1903–1908, 2nd ed. (Permanent Black, 2010); Bipan Chandra, The Rise and Growth of Economic Nationalism in India: Economic Policies of Indian National Leadership, 1880–1905, rev. ed. (Har-Anand Publications, 2010).

24. Sumit Sarkar, The Swadeshi Movement in Bengal, 1903–1908, 2nd ed. (Permanent Black, 2010); John R. McLane, Indian Nationalism and the Early Congress (Princeton University Press, 2015; original work published 1978).

25. Sumit Sarkar, The Swadeshi Movement in Bengal, 1903–1908, 2nd ed. (Permanent Black, 2010); Sekhar Bandyopadhyay, From Plassey to Partition and After: A History of Modern India, 2nd ed. (Orient BlackSwan, 2015).

26. N. Gerald Barrier, Banned: Controversial Literature and Political Control in British India, 1907–1947 (University of Missouri Press, 1974); Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024).

27. N. Gerald Barrier, Banned: Controversial Literature and Political Control in British India, 1907–1947 (University of Missouri Press, 1974); J. Natarajan, History of Indian Journalism (Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1955).

28. N. Gerald Barrier, Banned: Controversial Literature and Political Control in British India, 1907–1947 (University of Missouri Press, 1974); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

29. C. A. Bayly, Empire and Information: Intelligence Gathering and Social Communication in India, 1780–1870 (Cambridge University Press, 1996); Veena Naregal, Language Politics, Elites, and the Public Sphere (Permanent Black, 2001).

30. A. R. Desai, Social Background of Indian Nationalism, 6th ed. (SAGE Publications, 2019); Rosalind O'Hanlon, Caste, Conflict and Ideology: Mahatma Jotirao Phule and Low Caste Protest in Nineteenth-Century Western India (Cambridge University Press, 1985); Sekhar Bandyopadhyay, From Plassey to Partition and After: A History of Modern India, 2nd ed. (Orient BlackSwan, 2015).

31. Richard I. Cashman, The Myth of the Lokamanya: Tilak and Mass Politics in Maharashtra (University of California Press, 2024 reissue; original work published 1975); Robert E. Upton, The Thought of Bal Gangadhar Tilak: An Intellectual Biography (Oxford University Press, 2024).

32. Vaibhav Purandare, Tilak: The Empire's Biggest Enemy (Vintage/Penguin Random House India, 2024); John R. McLane, Indian Nationalism and the Early Congress (Princeton University Press, 2015; original work published 1978).

33. Rosalind O'Hanlon, Caste, Conflict and Ideology: Mahatma Jotirao Phule and Low Caste Protest in Nineteenth-Century Western India (Cambridge University Press, 1985); A. R. Desai, Social Background of Indian Nationalism, 6th ed. (SAGE Publications, 2019).

34. N. Gerald Barrier, Banned: Controversial Literature and Political Control in British India, 1907–1947 (University of Missouri Press, 1974); J. Natarajan, History of Indian Journalism (Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1955).

35. Sekhar Bandyopadhyay, From Plassey to Partition and After: A History of Modern India, 2nd ed. (Orient BlackSwan, 2015); Thomas R. Metcalf, Ideologies of the Raj (Cambridge University Press, 1995); C. A. Bayly, Origins of Nationality in South Asia: Patriotism and Ethical Government in the Making of Modern India (Oxford University Press, 1998); C. A. Bayly, Indian Society and the Making of the British Empire (Cambridge University Press, 1988).

Received: 29.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

बौद्धयुगीन बिहार में राजतंत्र और गणतंत्र का तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययन

अजय कुमार* **डॉ. अमित कुमार†**
ajaykumar80442@gmail.com **1542.amit@gmail.com**

सारांश *(Abstract)*

प्रस्तुत शोध पत्र छठी शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के मध्य — जिसे सामान्यतः "बौद्धयुग" कहा जाता है — तत्कालीन बिहार के भौगोलिक परिक्षेत्र में समकालीन रूप से विद्यमान दो विपरीत राजनीतिक प्रतिमानों, अर्थात् मगध का केंद्रीकृत राजतंत्र और वज्जि-लिच्छवि का गण-संघीय गणतंत्र, का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन पालि त्रिपिटक (विशेषतः दीघनिकाय का महापरिनिब्बानसुत्त तथा विनयपिटक का महावग्ग), संस्कृत राजनीतिशास्त्रीय ग्रंथों (कौटिल्य-अर्थशास्त्र, महाभारत-शान्तिपर्व, मनुस्मृति) एवं हिंदी शोध-साहित्य के समन्वित पाठ-विश्लेषण (textual analysis) पर आधारित है। विश्लेषण से यह निष्कर्ष उभरता है कि लिच्छवि-गणतंत्र में संस्थागत सहभागिता, सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया और विधि-सम्मत परंपरा-निर्वाह (परिहानिय-धम्म) की उच्च मात्रा विद्यमान थी, जबकि मगध-राजतंत्र में केंद्रीकृत सैन्य-संगठन, स्थायी नौकरशाही और आर्थिक अधिशेष-नियंत्रण की सामर्थ्य अधिक थी। गणतंत्र का पतन बाह्य सैन्य पराजय से अधिक आंतरिक भेद (मिथुभेद), कुलीन-आधारित सीमित मताधिकार तथा लौह-संसाधन एवं कृषि-अधिशेष पर नियंत्रण के अभाव का परिणाम था। शोध यह स्थापित करता है कि प्राचीन भारतीय "गणतंत्र" आधुनिक लोकतंत्र का पर्याय नहीं, बल्कि एक कुलीनतंत्रीय (oligarchic) सहभागी व्यवस्था थी, तथापि उसकी प्रक्रियात्मक परंपराओं ने बौद्ध संघ के माध्यम से भारतीय संस्थागत चिंतन को दीर्घकालिक योगदान दिया।

कूटशब्द *(Keywords):*

बौद्धयुग, मगध, वज्जि-संघ, लिच्छवि, गणतंत्र, राजतंत्र, संथागार, अर्थशास्त्र, बिहार

प्रस्तावना (Introduction)

विश्व के राजनीतिक चिंतन के इतिहास में छठी शताब्दी ई. पू. एक असाधारण काल है। जिस कालखंड में भूमध्यसागरीय क्षेत्र में एथेंस की नगर-राज्य व्यवस्था विकसित हो रही थी, लगभग उसी समय गंगा के मध्य मैदान में — विशेषतः आज के बिहार के भौगोलिक परिक्षेत्र में — दो मूलतः भिन्न राजनीतिक प्रतिमान परस्पर प्रतिस्पर्धा में थे। एक ओर राजगृह को केंद्र बनाकर हर्यंक वंश का केंद्रीकृत, विस्तारवादी राजतंत्र सुदृढ़ हो रहा था; दूसरी ओर वैशाली को केंद्र बनाकर वज्जि-संघ का वह गणतांत्रिक संघीय ढाँचा कार्यरत था जिसका विस्तृत विवरण पालि साहित्य में सुरक्षित है (Rhys Davids, 1903)। उल्लेखनीय है कि इन दोनों प्रतिमानों के मध्य के वैचारिक संघर्ष का प्रत्यक्ष साक्षी भगवान बुद्ध का जीवनकाल रहा, और बौद्ध संघ की संस्थागत संरचना में गणतांत्रिक प्रक्रिया-विधान का स्पष्ट प्रतिबिंब दिखाई देता है (शर्मा, 2008)।

शोध-समस्या

प्राचीन भारतीय राजनीतिक इतिहास-लेखन में दो विपरीत अतिवाद दृष्टिगोचर होते हैं। एक वर्ग, जिसका नेतृत्व जायसवाल (1924) और मजुमदार (1918) ने किया, लिच्छवि व्यवस्था को आधुनिक लोकतंत्र का प्राचीन पूर्वरूप मानकर उसका राष्ट्रवादी महिमामंडन करता है। दूसरा वर्ग इन गणों को मात्र कबीलाई कुलीनतंत्र मानकर उनके संस्थागत महत्व को न्यून करके आँकता

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार**
(नेट-जे.आर.एफ. यू.जी.सी., नई दिल्ली)

† **शोध-निर्देशक एवं सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, कमला राय महाविद्याल, गोपाल गंज**
जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार

है (Thapar, 1984)। इन दोनों के मध्य एक संतुलित, स्रोत-आधारित तुलनात्मक विश्लेषण की आवश्यकता बनी हुई है — विशेषकर इस प्रश्न पर कि एक ही भौगोलिक-सांस्कृतिक परिवेश में दो विपरीत व्यवस्थाएँ साथ-साथ क्यों विकसित हुईं और उनमें से एक ही क्यों टिक सकी।

शोध-उद्देश्य

1. बौद्धयुगीन बिहार में विद्यमान राजतंत्रीय एवं गणतंत्रीय व्यवस्थाओं की संस्थागत संरचना का स्रोत-आधारित पुनर्निर्माण करना।
2. दोनों व्यवस्थाओं की निर्णय-प्रक्रिया, विधि-व्यवस्था, सैन्य-संगठन एवं राजस्व-ढाँचे की तुलना करना।
3. गण-व्यवस्था के पतन तथा राजतंत्र की विजय के कारणों का विश्लेषणात्मक परीक्षण करना।
4. प्राचीन "गणतंत्र" की अवधारणा और आधुनिक लोकतंत्र के मध्य वैचारिक दूरी का निर्धारण करना।

शोध-प्रश्न

क. पालि एवं संस्कृत स्रोतों में "गण" और "संघ" की राजनीतिक अवधारणा किस रूप में परिभाषित है?
ख. लिच्छवि संथागार की सदस्यता, कार्यविधि एवं अधिकार-क्षेत्र क्या था?
ग. मगध राजतंत्र की सांगठनिक श्रेष्ठता के निर्धारक तत्त्व कौन थे?
घ. वज्जि-संघ के विघटन में आंतरिक और बाह्य कारकों की सापेक्ष भूमिका क्या रही?

शोध-पद्धति (Method)

यह अध्ययन **गुणात्मक, ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक** पद्धति पर आधारित है। प्राथमिक स्रोतों के रूप में पालि त्रिपिटक, जैन आगम-साहित्य तथा संस्कृत राजनीतिशास्त्रीय ग्रंथों का मूल-पाठ विश्लेषण (textual-philological analysis) किया गया है; द्वितीयक स्रोतों के रूप में अंग्रेज़ी एवं हिंदी शोध-साहित्य की समीक्षात्मक परीक्षा की गई है। तुलना हेतु पाँच विश्लेषणात्मक कोटियों — (i) संप्रभुता का स्थल, (ii) निर्णय-प्रक्रिया, (iii) विधि-स्रोत, (iv) सैन्य-संगठन, (v) राजस्व-आधार — का प्रयोग किया गया है।

साहित्य-समीक्षा (Review of Literature)

राष्ट्रवादी-संवैधानिक धारा का आरंभ मजुमदार (1918) की कृति *Corporate Life in Ancient India* से होता है, जिसमें प्राचीन भारत की निगमात्मक एवं सामूहिक संस्थाओं का प्रथम व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत हुआ। जायसवाल (1924) ने *Hindu Polity* में गण-राज्यों को भारतीय राजनीतिक परंपरा का केंद्रीय तत्त्व सिद्ध करते हुए लिच्छवि-व्यवस्था की संवैधानिक व्याख्या की; उन्होंने वैशाली की सात-स्तरीय न्यायिक प्रक्रिया को विशेष महत्त्व दिया। अल्तेकर (1958) ने *State and Government in Ancient India* में गण एवं राजतंत्र — दोनों की संस्थागत संरचना का तुलनात्मक विवेचन किया तथा संथागार की कार्यविधि का विनयपिटक के साक्ष्यों से पुनर्निर्माण किया। घोषाल (1959) ने राजनीतिक विचारों के वैचारिक विकास का कालक्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया। इस धारा का योगदान स्रोत-संकलन एवं संस्थागत विवरण की दृष्टि से मूल्यवान है, तथापि इसमें उपनिवेश-कालीन संदर्भ से उत्पन्न **आदर्शीकरण की प्रवृत्ति** स्पष्ट है — प्राचीन गणों को आधुनिक लोकतंत्र के प्राचीन पूर्वरूप के रूप में प्रस्तुत करने का आग्रह इसकी प्रमुख पद्धतिगत सीमा है।

ऐतिहासिक-कालक्रमिक धारा के अंतर्गत रायचौधुरी (1923) ने मगध-साम्राज्यवाद के उत्कर्ष की प्रामाणिक कालक्रमिक रूपरेखा निर्धारित की, जो आज भी आधारभूत संदर्भ है। लॉ (1924) ने क्षत्रिय कुलों का नृवंश-ऐतिहासिक अध्ययन करते हुए वज्जि-संघ की बहु-कुलीय संरचना का विश्लेषण किया। उपाध्याय (1961) ने *बुद्धकालीन भारतीय भूगोल* में षोडश महाजनपदों एवं गण-राज्यों का विस्तृत भौगोलिक मानचित्रण प्रस्तुत किया, जो स्थान-निर्धारण की दृष्टि से अपरिहार्य है।

शर्मा (2008) ने निर्णायक स्थापना दी कि गण-व्यवस्था का पतन नैतिक अथवा सैन्य कारणों से अधिक **लौह-प्रौद्योगिकी, सिंचित धान-कृषि एवं कृषि-अधिशेष पर मगध के एकाधिकार** से संबद्ध था। थापर (1984) ने *From Lineage to State*

में कुल-आधारित (lineage-based) समाज से राज्य-आधारित समाज के संक्रमण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए गणों की कुलीनतंत्रीय प्रकृति को रेखांकित किया। झा एवं श्रीमाली (1999) ने राज्य-निर्माण में कराधान, नौकरशाही एवं स्थायी सेना के परस्पर-संपोषी विकास को स्पष्ट किया।

रिज़ डेविड्स (1903) की *Buddhist India* तथा कोसम्बी (1956) एवं सांकृत्यायन (1952) के कार्यों ने पालि साहित्य के राजनीतिक साक्ष्यों को शोध-विमर्श में प्रतिष्ठित किया।

शोध-अंतराल (Research Gap)

इस समीक्षा से स्पष्ट है कि उपलब्ध साहित्य में या तो गण-व्यवस्था का अथवा मगध-राजतंत्र का पृथक् अध्ययन प्रधान है; **एक ही भौगोलिक परिक्षेत्र में समकालीन रूप से विद्यमान दोनों प्रतिमानों का निर्धारित विश्लेषणात्मक कोटियों पर आधारित व्यवस्थित तुलनात्मक अध्ययन** अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा है। प्रस्तुत शोध इसी अंतराल की पूर्ति का प्रयास है।

अवधारणात्मक ढाँचा: गण, संघ एवं राजतंत्र

प्राचीन भारतीय राजनीतिक शब्दावली में **गण** और **संघ** पद प्रायः पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। पाणिनि की *अष्टाध्यायी* में इन दोनों पदों का प्रयोग सामूहिक एवं निगमात्मक निकायों के अर्थ में हुआ है, जिसका विस्तृत विवेचन अग्रवाल (1969) ने किया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौटिल्य ने *अर्थशास्त्र* के एकादश अधिकरण ("संघवृत्त") में इन निकायों को दो कोटियों में विभाजित किया है —

"राजशब्दोपजीविनः" तथा "वार्ताशस्त्रोपजीविनः" *(कौटिल्य-अर्थशास्त्र, 11.1.4-5)*

प्रथम कोटि में लिच्छविक, वृज्जिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु एवं पांचाल जैसे वे संघ आते हैं जिनके सदस्य "राजा" की उपाधि धारण करते थे; द्वितीय कोटि में कांभोज एवं सुराष्ट्र जैसे कृषि-वाणिज्य एवं शस्त्रजीवी संघ सम्मिलित थे। कौटिल्य की यह स्वीकारोक्ति अत्यंत उल्लेखनीय है कि —

"संघलाभो दण्डमित्रलाभानाम् उत्तमः" *(कौटिल्य-अर्थशास्त्र, 11.1.1) अर्थात् संघ को अपने पक्ष में प्राप्त कर लेना सेना अथवा मित्र की प्राप्ति से श्रेष्ठ है।*

यह कथन सिद्ध करता है कि साम्राज्यवादी राजतंत्र की दृष्टि में भी ये गण-निकाय अत्यंत सामर्थ्यवान राजनीतिक इकाइयाँ थीं।

इसके विपरीत संस्कृत धर्मशास्त्रीय परंपरा में राजतंत्र को **दण्डनीति** एवं **मात्स्यन्याय** के निवारण का अनिवार्य साधन माना गया। *मनुस्मृति* में राजा की उत्पत्ति दैवी संकल्प से बताई गई है तथा दण्ड को समस्त प्रजा का शासक घोषित किया गया है (*मनुस्मृति*, 7.3-7.18)। *महाभारत* के शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को गणों के संबंध में परामर्श देते हुए स्पष्ट चेतावनी दी कि गण आंतरिक भेद से ही विनष्ट होते हैं (*महाभारत*, शान्तिपर्व, अध्याय 108)। उल्लेखनीय है कि पालि साहित्य में राजा की उत्पत्ति की एक पूर्णतः भिन्न, अनुबंधात्मक (contractual) व्याख्या मिलती है — *अग्गञ्ञसुत्त* में वर्णित **"महासम्मत"** की संकल्पना, जिसके अनुसार प्रथम राजा जन-समुदाय द्वारा सम्मत (निर्वाचित) था (*दीघनिकाय*, अग्गञ्ञसुत्त, 27)। यह बौद्ध राजनीतिक चिंतन की मौलिक देन है और गणतांत्रिक परिवेश की वैचारिक छाप का प्रमाण है।

स्रोत-सामग्री (Sources)

प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत-सामग्री बहुभाषिक एवं बहुपरंपरागत है, जिसमें पालि, संस्कृत, प्राकृत एवं आधुनिक हिंदी-अंग्रेज़ी शोध-साहित्य सम्मिलित है। पालि स्रोतों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण *दीघनिकाय* का महापरिनिब्बानसुत्त है, जिसमें अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार तथा भगवान बुद्ध के संवाद के माध्यम से वज्जियों के "सात अपरिहानिय धम्म" का विवरण तथा पाटलिग्राम के दुर्गीकरण का प्रत्यक्ष उल्लेख सुरक्षित है (*दीघनिकाय*, 16.1.4, 16.1.26-28)। *विनयपिटक* का महावग्ग संघ-कर्म की प्रक्रियात्मक विधियों — ञत्ति, अनुस्सावन, छन्द-दान, गणपूरक एवं उब्बाहिका — का अमूल्य कोष है, जिसके आधार पर संथागार की कार्यविधि का अप्रत्यक्ष पुनर्निर्माण संभव होता है (अल्तेकर, 1958)। *अङ्गुत्तरनिकाय* में षोडश महाजनपदों एवं विविध राजनीतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ हैं, तथा *अग्गञ्ञसुत्त* में "महासम्मत" की अनुबंधात्मक राज्योत्पत्ति-व्याख्या मिलती है। *जातक* साहित्य — विशेषतः एकपण्ण-जातक — में वैशाली के "7707 राजाओं, उपराजाओं, सेनापतियों एवं

भाण्डागारिकों" का प्रसिद्ध उल्लेख है (*जातक*, क्रमांक 149), जबकि बुद्धघोष की अट्ठकथा *सुमङ्गलविलासिनी* वज्जि-विघटन की प्रक्रिया पर अतिरिक्त प्रकाश डालती है। संस्कृत स्रोतों में कौटिल्य-*अर्थशास्त्र* का एकादश अधिकरण "संघवृत्त" निर्णायक महत्त्व रखता है, जिसमें संघों का "राजशब्दोपजीविनः" एवं "वार्ताशस्त्रोपजीविनः" के रूप में वर्गीकरण तथा लिच्छविक-वृज्जिक का नामोल्लेख है (*कौटिल्य-अर्थशास्त्र*, 11.1.1-5); इसके अतिरिक्त *महाभारत*-शान्तिपर्व का गण-विषयक प्रकरण, *मनुस्मृति* की दण्डनीति-विवेचना (7.3-7.18), तथा बौद्ध संस्कृत ग्रंथ *महावस्तु* एवं *ललितविस्तर* — जिनमें वैशाली की समृद्धि एवं गणराज्य-स्वरूप का वर्णन है — उपयोगी हैं। प्राकृत एवं जैन आगम स्रोतों में *कल्पसूत्र* तथा *आचारांगसूत्र* के "नव मल्लई, नव लेच्छई" संबंधी उल्लेख वज्जि-संघ की बहु-कुलीय संघीय संरचना की स्वतंत्र पुष्टि करते हैं। स्रोत-सीमा के रूप में यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि उपलब्ध समस्त साहित्यिक सामग्री धार्मिक-उपदेशात्मक प्रयोजन से रचित है, न कि अभिलेखीय-प्रशासनिक प्रयोजन से; अतः राजनीतिक विवरण आनुषंगिक रूप में आए हैं और उनमें आदर्शीकरण तथा आलंकारिक अतिशयोक्ति की संभावना विद्यमान है — इसी कारण 7707 की संख्या को यथार्थ न मानकर प्रतीकात्मक माना जाना चाहिए (Thapar, 1984)।

वज्जि-लिच्छवि गणतंत्र: संस्थागत संरचना

संघीय स्वरूप : वज्जि एक एकल राज्य नहीं, अपितु **अष्टकुल** (अट्ठकुल) का संघ था, जिसमें वैशाली-केंद्रित लिच्छवि, मिथिला-केंद्रित विदेह तथा कुण्डग्राम-केंद्रित ज्ञातृक प्रमुख घटक थे (लॉ, 1924; उपाध्याय, 1961)। यह प्राचीन भारत का सर्वाधिक विकसित **संघीय गणतंत्र** (confederate republic) था, जिसमें प्रत्येक घटक कुल की आंतरिक स्वायत्तता तथा संघीय स्तर पर सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया का सहअस्तित्व था।

संथागार (केंद्रीय सभा) : वैशाली का **संथागार** गणतंत्र का सर्वोच्च निर्णायक निकाय था। पालि स्रोतों के अनुसार यहाँ कुलीन क्षत्रिय परिवारों के प्रतिनिधि एकत्र होकर युद्ध-शांति, कर-निर्धारण, न्याय-विवाद तथा बाह्य संबंधों पर निर्णय लेते थे। निर्णय-प्रक्रिया में **गणपूरक** (कोरम-निर्धारक), **ञत्ति** (प्रस्ताव-प्रस्तुति), **अनुस्सावन** (तीन बार प्रस्ताव-उद्घोषणा), **छन्द-दान** (मत-प्रदान), **सलाक-गाहापक** (मत-संग्राहक) तथा **उब्बाहिका** (प्रवर-समिति) जैसी तकनीकी व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं — जिनका प्रमाण विनयपिटक में सुरक्षित बौद्ध संघ की कार्यविधि से मिलता है, क्योंकि बुद्ध ने स्वयं वज्जि-पद्धति को संघ के लिए आदर्श घोषित किया था (*विनयपिटक*, महावग्ग; अल्तेकर, 1958)।

कार्यपालिका एवं पदाधिकारी : शासन-संचालन हेतु **राजा** (गणप्रमुख), **उपराजा**, **सेनापति** तथा **भाण्डागारिक** (कोषाध्यक्ष) का चतुष्टय उल्लिखित है। न्याय-प्रक्रिया अत्यंत विकसित थी; अट्ठकथा साहित्य के अनुसार अभियुक्त को क्रमशः **विनिच्छय-महामात्त**, **वोहारिक**, **सुत्तधर**, **अट्ठकुलक**, **सेनापति**, **उपराजा** एवं अंततः **राजा** — इन सात स्तरों से गुजरना पड़ता था, और किसी भी स्तर पर निर्दोष सिद्ध होने पर वह मुक्त हो जाता था। यह बहु-स्तरीय अपीलीय व्यवस्था प्राचीन विश्व में अपूर्व थी (जायसवाल, 1924)।

सात अपरिहानिय धम्म : महापरिनिब्बानसुत्त में वर्णित सात सिद्धांत वज्जि-व्यवस्था का संविधान-सदृश मर्म प्रस्तुत करते हैं — ***"अभिण्हं सन्निपाता सन्निपातबहुला"*** *(दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, 16.1.4) अर्थात् वज्जी निरंतर तथा पूर्ण संख्या में सभा में एकत्र होते हैं।*

अन्य सिद्धांत थे — सामूहिक एकता से सभा में आना, उठना और कार्य करना; प्राचीन वज्जि-धर्म (परंपरागत विधि) का अनुपालन करते हुए नवीन विधि न बनाना और स्थापित विधि का उच्छेद न करना; वृद्धजनों का सम्मान; कुल-स्त्रियों के प्रति बलात् आचरण का निषेध; चैत्यों का सम्मान; तथा अर्हतों की सुरक्षा। **शोध-दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि इन सात में से प्रथम तीन विशुद्ध रूप से प्रक्रियात्मक-संवैधानिक हैं, जबकि शेष चार सामाजिक-नैतिक**— यह संयोजन दर्शाता है कि गण-व्यवस्था में वैधानिकता और नैतिकता अविभाज्य रूप से जुड़ी थीं।

संरचनात्मक सीमाएँ : तथापि इस व्यवस्था की दो मूलभूत सीमाएँ थीं। **प्रथम**, मताधिकार केवल कुलीन क्षत्रिय परिवारों के प्रतिनिधियों तक सीमित था; दास, कर्मकर, वैश्य एवं अन्य सामाजिक वर्ग निर्णय-प्रक्रिया से पूर्णतः बहिष्कृत थे। **द्वितीय**, स्त्रियों की सभा में कोई भागीदारी नहीं थी। अतः इसे **कुलीनतंत्रीय गणतंत्र** (aristocratic republic) कहना वस्तुस्थिति के अधिक निकट है, न कि जनतांत्रिक गणतंत्र (शर्मा, 2008; Thapar, 1984)।

मगध राजतंत्र: संस्थागत संरचना

राजसत्ता का केंद्रीकरण : बिम्बिसार (शैशुनाग/हर्यंक वंश) के काल से मगध में संप्रभुता का एकमात्र स्थल राजा बन गया। पालि स्रोतों में बिम्बिसार को **"सेनिय"** (सेना-सम्पन्न) विशेषण दिया गया है, जो मगध की सैन्य-केंद्रितता का सूचक है (रायचौधुरी, 1923)। राजा विधि-निर्माता, सर्वोच्च न्यायाधीश, सेनापति एवं कर-निर्धारक — सभी भूमिकाओं का एकीकृत केंद्र था।

प्रशासनिक तंत्र : महावग्ग के साक्ष्य के अनुसार बिम्बिसार के अधीन अस्सी हज़ार **गामिक** (ग्राम-प्रमुख) थे, जिनकी सभा राजधानी में आयोजित होती थी — यह ग्राम-स्तर तक पहुँचने वाले संगठित प्रशासनिक जाल का प्रमाण है (*विनयपिटक*, महावग्ग)। पदाधिकारी-वर्ग में **सब्बत्थक-महामात्त** (सामान्य प्रशासन), **वोहारिक-महामात्त** (न्याय), **सेनानायक-महामात्त** (सैन्य) तथा राजस्व-संग्राहक सम्मिलित थे। यह **वेतनभोगी, राजा के प्रति उत्तरदायी नौकरशाही** गणतंत्रों की कुल-आधारित व्यवस्था से मूलतः भिन्न और प्रशासनिक दृष्टि से अधिक सक्षम थी (झा एवं श्रीमाली, 1999)।

विस्तार की रणनीति : मगध ने तीन उपायों से विस्तार किया — (क) **वैवाहिक कूटनीति**: बिम्बिसार के कोसल, वैशाली एवं मद्र कुलों से वैवाहिक संबंध; (ख) **प्रत्यक्ष सैन्य विजय**: अंग का विलय; (ग) **भेद-नीति**: अजातशत्रु द्वारा मंत्री वस्सकार को वैशाली भेजकर तीन वर्ष तक लिच्छवि कुलों में परस्पर अविश्वास (मिथुभेद) उत्पन्न कराना, तत्पश्चात् आक्रमण। पाटलिग्राम का दुर्गीकरण सुनीध एवं वस्सकार द्वारा इसी उद्देश्य से किया गया, जिसका प्रत्यक्ष उल्लेख महापरिनिब्बानसुत्त में है — बुद्ध ने तत्क्षण इसकी भावी महत्ता की भविष्यवाणी की थी (*दीघनिकाय*, महापरिनिब्बानसुत्त, 16.1.26-28)।

आर्थिक-भौतिक आधार : मगध की निर्णायक श्रेष्ठता उसके भौतिक संसाधन-आधार में निहित थी — राजगृह के निकट दक्षिण बिहार की **लौह-खदानें**, गंगा-घाटी की उपजाऊ जलोढ़ भूमि में **धान की गहन कृषि**, गंगा-मार्ग से नियंत्रित **जल-वाणिज्य**, तथा युद्ध में **हाथियों** की सुलभ उपलब्धता। शर्मा (2008) का यह तर्क विशेष महत्त्व रखता है कि लोहे के फाल से उत्पन्न कृषि-अधिशेष ने स्थायी सेना और वेतनभोगी नौकरशाही के पोषण की आर्थिक क्षमता प्रदान की, जो गण-व्यवस्थाओं के पास नहीं थी।

तुलनात्मक विश्लेषण (Comparative Analysis)

सारणी 1 *बौद्धयुगीन बिहार में राजतंत्र एवं गणतंत्र का संस्थागत तुलनात्मक विवरण*

विश्लेषण-कोटि	**वज्जि-लिच्छवि गणतंत्र**	**मगध राजतंत्र**
संप्रभुता का स्थल	संथागार (सामूहिक सभा)	राजा (एकल व्यक्ति)
सत्ता का आधार	कुल-परंपरा एवं सहमति	सैन्य-शक्ति एवं दण्ड
निर्णय-प्रक्रिया	बहुमत-आधारित, प्रक्रियात्मक (ञत्ति, छन्द-दान)	राजाज्ञा, मंत्रि-परिषद परामर्शी
विधि का स्रोत	प्राचीन परंपरागत "वज्जि-धम्म"	राजशासन एवं धर्मशास्त्र
न्याय-व्यवस्था	सात-स्तरीय अपीलीय प्रक्रिया	वोहारिक-महामात्त, अंतिम अपील राजा
पदाधिकारी	निर्वाचित — राजा, उपराजा, सेनापति, भाण्डागारिक	नियुक्त वेतनभोगी महामात्त
सेना	कुल-आधारित जन-सेना (militia)	स्थायी, केंद्रीय, हस्ति-सेना-युक्त

विश्लेषण-कोटि	वज्जि-लिच्छवि गणतंत्र	मगध राजतंत्र
राजस्व-आधार	सीमित, कुल-स्तरीय योगदान	संगठित भूमि-कर, शुल्क, खनिज
सामाजिक आधार	कुलीन क्षत्रिय (सीमित सहभागिता)	वर्णाश्रित, वैश्य-श्रेणी-समर्थित
राजनीतिक स्थायित्व	भेद के प्रति अत्यधिक संवेदनशील	उत्तराधिकार-संघर्ष के प्रति संवेदनशील

इस सारणी से प्रथम, दोनों व्यवस्थाओं की सामर्थ्य भिन्न आयामों में थी — गणतंत्र की शक्ति **प्रक्रियात्मक वैधता एवं सहभागी सहमति** में थी, राजतंत्र की शक्ति **संगठनात्मक गति एवं संसाधन-संकेंद्रण** में। **द्वितीय**, गणतंत्र का "अपरिहानिय धम्म" सिद्धांत — नवीन विधि न बनाना और पुरानी का उच्छेद न करना — एक ओर संवैधानिक स्थिरता का स्रोत था, तो दूसरी ओर परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रति **संस्थागत अनुकूलन-क्षमता की न्यूनता** का कारण भी बना। यह शोध-दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभास है। **तृतीय**, मगध का विस्तार केवल सैन्य घटना नहीं, अपितु जनपद से साम्राज्य की ओर **राज्य-निर्माण (state formation) की संरचनात्मक प्रक्रिया** थी, जिसमें कराधान, नौकरशाही और स्थायी सेना — तीनों तत्त्वों का परस्पर संपोषी विकास हुआ (झा एवं श्रीमाली, 1999)।

गण-व्यवस्था के पतन के कारण

बौद्धयुगीन बिहार में गण-व्यवस्था का पतन किसी एकल सैन्य पराजय का परिणाम नहीं, अपितु आंतरिक संरचनात्मक दुर्बलताओं और बाह्य संगठनात्मक दबाव के संयुक्त प्रभाव की परिणति थी। सर्वप्रमुख कारण **आंतरिक भेद (मिथुभेद)** रहा — अजातशत्रु ने प्रत्यक्ष आक्रमण से पूर्व अपने मंत्री वस्सकार को वैशाली भेजकर तीन वर्ष तक लिच्छवि कुलों में परस्पर अविश्वास उत्पन्न कराया, और जब संघ की सामूहिक एकता भंग हो गई तभी आक्रमण किया; इस भेद-नीति की सफलता स्वयं सिद्ध करती है कि संघीय एकता संरचनात्मक रूप से भंगुर थी (रायचौधुरी, 1923)। उल्लेखनीय है कि *महाभारत* के शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा दी गई यह चेतावनी कि गण आंतरिक भेद से ही विनष्ट होते हैं, यहाँ ऐतिहासिक रूप से सत्यापित होती है (*महाभारत*, शान्तिपर्व, 108)। द्वितीय, गण-व्यवस्था का **सामाजिक आधार अत्यंत सीमित** था; मताधिकार केवल कुलीन क्षत्रिय परिवारों तक सीमित रहने से दास, कर्मकर एवं वैश्य-सहित बहुसंख्यक जनसंख्या निर्णय-प्रक्रिया से बहिष्कृत थी, जिसके फलस्वरूप संकटकाल में व्यापक जन-समर्थन की संभावना ही समाप्त हो गई (Thapar, 1984)। तृतीय और संभवतः निर्णायक कारण **आर्थिक-भौतिक न्यूनता** थी — दक्षिण बिहार की लौह-खदानों, सिंचित धान-कृषि के अधिशेष तथा गंगा-मार्ग के वाणिज्य पर मगध के एकाधिकार के समक्ष गणों के पास संगठित कर-प्रणाली एवं स्थायी सेना के पोषण की आर्थिक क्षमता नहीं थी (शर्मा, 2008; झा एवं श्रीमाली, 1999)। चतुर्थ, **निर्णय-प्रक्रिया की मंदता** — सामूहिक विचार-विमर्श एवं सभा-आधारित सहमति की पद्धति शांतिकाल में वैधता का स्रोत होते हुए भी युद्धकालीन त्वरित निर्णय हेतु अनुपयुक्त सिद्ध हुई, जबकि राजतंत्र में आज्ञा-आधारित तत्क्षण निर्णय संभव था। पंचम, **सैन्य-प्रौद्योगिकीय पिछड़ापन** — जैन स्रोतों में अजातशत्रु द्वारा महाशिलाकण्टक एवं रथमूसल जैसे संहारक यंत्रों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, जिनका कुल-आधारित जन-सेना के पास कोई प्रत्युत्तर नहीं था। षष्ठ, "अपरिहानिय धम्म" के अंतर्गत नवीन विधि न बनाने और प्राचीन परंपरा का उच्छेद न करने का सिद्धांत संवैधानिक स्थिरता का स्रोत होते हुए भी परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रति **संस्थागत अनुकूलन-क्षमता की न्यूनता** का कारण बना (अल्तेकर, 1958)।

निष्कर्ष (Conclusion)

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धयुगीन बिहार प्राचीन विश्व का वह दुर्लभ भौगोलिक क्षेत्र था जहाँ राजतंत्र और गणतंत्र — दो विपरीत राजनीतिक प्रतिमान — एक ही सांस्कृतिक परिवेश में समकालीन रूप से विकसित हुए और परस्पर प्रतिस्पर्धा में रहे। वज्जि-लिच्छवि व्यवस्था ने सामूहिक निर्णय, प्रक्रियात्मक विधि-सम्मतता, बहु-स्तरीय न्याय और सत्ता के

विकेंद्रीकरण के ऐसे प्रतिमान विकसित किए जो अपने युग में अभूतपूर्व थे। तथापि उसकी सहभागिता कुलीन-वर्ग तक सीमित थी, अतः उसे आधुनिक लोकतंत्र का पूर्वरूप मानना वैचारिक रूप से भ्रामक होगा; वह वस्तुतः एक **कुलीनतंत्रीय सहभागी व्यवस्था** थी। दूसरी ओर मगध-राजतंत्र की विजय नैतिक श्रेष्ठता का नहीं, अपितु **संगठनात्मक एवं भौतिक सामर्थ्य** का परिणाम थी। अत्यंत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विडंबना यह है कि राजनीतिक क्षेत्र में पराजित होने के उपरांत भी गण-व्यवस्था की प्रक्रियात्मक परंपराएँ **बौद्ध संघ** की संस्थागत संरचना के माध्यम से सुरक्षित रहीं और समस्त एशिया में संचरित हुई। इस अर्थ में वैशाली की गणतांत्रिक विरासत राजनीतिक रूप से पराजित होकर भी सांस्कृतिक रूप से विजयी रही — और यही इस अध्ययन की केंद्रीय स्थापना है।

शोध की सीमाएँ एवं भावी दिशा

यह अध्ययन मुख्यतः साहित्यिक स्रोतों पर आधारित है। वैशाली, राजगृह, कुम्हरार एवं चिरांद के पुरातात्विक साक्ष्यों (विशेषतः उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भांड-स्तर एवं नगरीय अवसंरचना) के साथ साहित्यिक साक्ष्यों का सहसंबंधी विश्लेषण भावी शोध की महत्त्वपूर्ण दिशा हो सकता है। इसी प्रकार लिच्छवि-व्यवस्था और नेपाल की परवर्ती लिच्छवि राजसत्ता के मध्य संस्थागत सातत्य का अध्ययन भी अपेक्षित है।

संदर्भ सूची (References)

अग्रवाल, वासुदेव शरण. पाणिनिकालीन भारतवर्ष. चौखम्बा विद्याभवन, 1969.

अङ्गुत्तरनिकाय. सं. भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार सरकार, 1960.

आचारांगसूत्र. अनु. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, 1980.

उपाध्याय, भगवतशरण. प्राचीन भारत का इतिहास. विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1993.

उपाध्याय, भरतसिंह. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1961.

कल्पसूत्र. अनु. विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, 1984.

कौटिल्यम् अर्थशास्त्रम्. सं. एवं अनु. वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, 2004.

कोसम्बी, धर्मानन्द. भगवान बुद्ध: जीवन और दर्शन. राजकमल प्रकाशन, 1956.

जातक. अनु. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, राजकमल प्रकाशन, 1972.

झा, द्विजेन्द्र नारायण, एवं कृष्णमोहन श्रीमाली. प्राचीन भारत का इतिहास. हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1999.

त्रिपाठी, रामशंकर. प्राचीन भारत का इतिहास. मोतीलाल बनारसीदास, 1987.

दीघनिकाय. अनु. एवं सं. राहुल सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, 1936.

बुद्धघोष. सुमङ्गलविलासिनी: दीघनिकाय-अट्ठकथा. सं. भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, 1967.

मनुस्मृति. सं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1990.

महाभारत: शान्तिपर्व. अनु. रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय, गीता प्रेस, 1988.

महावस्तु. सं. राधागोविन्द बसाक, एशियाटिक सोसाइटी, 1963.

ललितविस्तर. सं. पी. एल. वैद्य, मिथिला इंस्टिट्यूट, 1958.

विनयपिटक: महावग्ग. अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, 1935.

शर्मा, रामशरण. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ. राजकमल प्रकाशन, 2008.

सांकृत्यायन, राहुल. बुद्धचर्या. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1952.

Altekar, A. S. State and Government in Ancient India. 3rd ed., Motilal Banarsidass, 1958.

Ghoshal, U. N. A History of Indian Political Ideas. Oxford UP, 1959.

Jayaswal, K. P. Hindu Polity: A Constitutional History of India in Hindu Times. Butterworth, 1924.

Kangle, R. P., editor and translator. The Kauṭilīya Arthaśāstra. 2nd ed., Parts 1-2, University of Bombay, 1972.

Law, Bimala Churn. Some Kṣatriya Tribes of Ancient India. U of Calcutta, 1924.

Majumdar, R. C. Corporate Life in Ancient India. Surendranath Sen, 1918.

Raychaudhuri, Hemchandra. Political History of Ancient India. U of Calcutta, 1923.

Rhys Davids, T. W. Buddhist India. T. Fisher Unwin, 1903.

Rhys Davids, T. W., and J. E. Carpenter, editors. The Dīgha Nikāya. Vol. 2, Pali Text Society, 1903.

Thapar, Romila. From Lineage to State: Social Formations in the Mid-First Millennium B.C. in the Ganga Valley. Oxford UP, 1984.

Received: 30.06.2026 | Accepted: 05.07.2026 | Published: 30.08.2026

सोनपुर मेले का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व: एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण

जुली कुमारी*
julikumari7831@gmail.com

शोध सार

बिहार के सारण जिले में पवित्र गंगा और गंडक (नारायणी) नदी के पावन संगम पर आयोजित होने वाला 'सोनपुर मेला' (हरिहर क्षेत्र मेला) भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक निरंतरता, धार्मिक समन्वय तथा आर्थिक विनिमय का एक अद्वितीय ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करता है। वैदिक काल के पौराणिक आख्यानों (गज-ग्राह द्वंद्व) से लेकर मौर्य, गुप्त, सल्तनत और औपनिवेशिक काल तक, यह मेला केवल एशिया के विशालतम पशु व्यापार केंद्र के रूप में ही नहीं, अपितु राजनीतिक संधियों, सैन्य एकत्रीकरण और जनसंस्कृति के जीवंत मंच के रूप में विकसित हुआ। प्रस्तुत शोध पत्र में प्राथमिक व द्वितीयक ऐतिहासिक स्रोतों, प्रशासनिक दस्तावेजों और मौखिक परंपराओं के आधार पर सोनपुर मेले के ऐतिहासिक उद्भव, हरिहर (शैव-वैष्णव) समन्वय के दार्शनिक आधार, औपनिवेशिक युग में इसके सामरिक-आर्थिक रूपांतरण तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में आए संरचनात्मक परिवर्तनों का समालोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है।

बीज शब्द:

सोनपुर मेला, हरिहर क्षेत्र, गजेंद्र मोक्ष, शैव-वैष्णव समन्वय, पशु व्यापार, औपनिवेशिक काल, वीर कुंवर सिंह, लोक-संस्कृति।

प्रस्तावना

भारतीय सभ्यता की संरचना में मेलों और तीर्थों ने केवल धार्मिक संस्कारों की पूर्ति तक सीमित न रहकर सामाजिक एकीकरण, अंतर-क्षेत्रीय व्यापार तथा विचारों के आदान-प्रदान में एक केंद्रीय भूमिका निभाई है। बिहार के गंगा-गंडक दोआब में स्थित सोनपुर का हरिहर क्षेत्र मेला इस परिघटना का अप्रतिम उदाहरण है। कार्तिक पूर्णिमा के पावन अवसर पर आयोजित होने वाला यह मेला ऐतिहासिक रूप से एशिया के सबसे बड़े पशु मेले के रूप में विख्यात रहा है।[1]

भौगोलिक दृष्टि से यह स्थल प्राचीन मगध, वैशाली (वज्जि संघ) और मिथिला के सांस्कृतिक त्रिकोण पर अवस्थित है। गंडक (प्राचीन सदानीरा) और गंगा का यह संगम प्राचीन काल से ही जलमार्ग व्यापार और सैन्य आवागमन की रणनीतिक धुरी रहा है। प्रस्तुत शोध पत्र का मूल उद्देश्य इस मेले के ऐतिहासिक क्रमिक विकास, इसके बहुस्तरीय सांस्कृतिक चरित्र तथा आधुनिकता के प्रभाव से उपजे संरचनात्मक परिवर्तनों का गहन ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करना है।

भौगोलिक एवं भू-रणनीतिक अवस्थिति

सोनपुर (25°42' उत्तर अक्षांश और 85°11' पूर्व देशांतर) सारण जिले के दक्षिण-पूर्वी छोर पर स्थित है। यह क्षेत्र सदानीरा (गंडक) और जाह्नवी (गंगा) के मुहाने पर बसा है, जो प्राचीन काल में 'हरिहर क्षेत्र' के रूप में विख्यात था।[2] प्राचीन भारतीय संदर्भ में नदियाँ केवल जल स्रोत नहीं बल्कि व्यापारिक राजमार्ग थीं। पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) के ठीक सामने गंडक के संगम पर होने के कारण सोनपुर का यह विस्तृत मैदान सैन्य टुकड़ियों के पड़ाव, घोड़ों और हाथियों के जलपान तथा रणनीतिक सुरक्षा के लिए आदर्श प्राकृतिक मंच प्रदान करता था। यही भौगोलिक विशिष्टता आगे चलकर इस धार्मिक केंद्र को एक विशाल पशु व्यापार मंडली में परिवर्तित करने का भौतिक आधार बनी।[3]

* **शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)**

पौराणिक पृष्ठभूमि एवं धार्मिक-दार्शनिक समन्वय: 'हरिहर' संकल्पना

सोनपुर मेले की सांस्कृतिक नींव दो प्रमुख धार्मिक धाराओं के मिलन बिंदु पर टिकी है:

गजेंद्र मोक्ष आख्यान: श्रीमद्भागवत पुराण के आठवें स्कंध में वर्णित 'गजेंद्र मोक्ष' की कथा इस क्षेत्र की पौराणिक स्मृति का आधार है।[4] जनश्रुति एवं स्थानीय धार्मिक ग्रंथों के अनुसार, द्रविड़ देश के राजा इंद्रद्युम्न (जो शापवश गज बने) और गंधर्वराज हूहू (जो ग्राह/मगरमच्छ बने) के मध्य सहस्र वर्षों तक चला भीषण द्वंद्व इसी संगम पर हुआ था। जब गजराज ने अपनी असमर्थता में भगवान विष्णु को कमल पुष्प अर्पित कर पुकारा, तब नारायण ने सुदर्शन चक्र से ग्राह का उद्धार कर गज को मुक्ति प्रदान की। यह आख्यान भक्ति मार्ग में मानवीय अहंकार के विसर्जन और शरणागति की पराकाष्ठा का आध्यात्मिक प्रतीक है।[5]

शैव-वैष्णव समन्वय का प्रतीक: बाबा हरिहरनाथ: सोनपुर का केंद्रीय मंदिर 'बाबा हरिहरनाथ' का है। भारतीय धार्मिक इतिहास में यह मंदिर शैव (हर) और वैष्णव (हरि) परंपराओं के मध्य ऐतिहासिक संघर्ष के शमन और समन्वयवादी दर्शन का जीता-जागता प्रमाण प्रस्तुत करता है: मंदिर के गर्भगृह में स्थापित शिवलिंग के अर्घा में भगवान विष्णु और भगवान शिव का संयुक्त रूप पूजित है। जनश्रुति के अनुसार, त्रेतायुग में मिथिला जाते समय भगवान श्रीराम ने महर्षि विश्वामित्र और लक्ष्मण के साथ यहाँ गंडक स्नान कर शिवलिंग की स्थापना की थी।[6] बाद के काल में राजा मानसिंह (अकबर के सेनापति) और अंततः 18वीं शताब्दी में राजा रामनारायण (बिहार के तत्कालीन नायब नाजिम) द्वारा इस मंदिर के जीर्णोद्धार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।[7]

यह दार्शनिक समन्वय ही कार्तिक पूर्णिमा के दिन लाखों श्रद्धालुओं को मोक्षदायिनी डुबकी लगाने के लिए यहाँ आकर्षित करता है।

ऐतिहासिक विकासक्रम:

सोनपुर मेले का इतिहास राजनीतिक शक्तियों और सैन्य आवश्यकताओं के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। प्राचीन मौर्य और गुप्त काल में युद्ध नीति का मुख्य आधार गज-सेना थी। मगध साम्राज्य के निकट स्थित होने के कारण सोनपुर का तराई क्षेत्र हाथियों के संग्रहण और प्रशिक्षण का मुख्य केंद्र बना। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'हस्ति-वन' और हाथियों के संरक्षण तथा व्यापार के जो नियम मिलते हैं, उनका सीधा संबंध इस क्षेत्र से था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी चंद्रगुप्त मौर्य की विशाल सेना में हाथियों की उपस्थिति और उनके व्यापारिक मार्गों का उल्लेख किया है।[8]

मध्यकाल में, विशेष रूप से दिल्ली सल्तनत और मुगल काल के दौरान, सोनपुर मेले का विस्तार एक अंतरराष्ट्रीय पशु व्यापार केंद्र के रूप में हुआ। अबुल फजल कृत आइन-ए-अकबरी और अन्य समकालीन स्रोतों से ज्ञात होता है कि शाही सेना के लिए उच्च नस्ल के घोड़ों और हाथियों की आपूर्ति हेतु इस मेले का उपयोग किया जाता था। मध्य एशिया, काबुल, फारस और तिब्बत से आने वाले व्यापारी यहाँ अरबी घोड़े, खच्चर और शॉल लेकर पहुँचते थे तथा यहाँ से बिहार और असम के सजे-धजे हाथी क्रय करके ले जाते थे।[9]

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दौरान सोनपुर मेला केवल धार्मिक और व्यापारिक आयोजन ही नहीं रहा, बल्कि ब्रिटिश विरोधी चेतना का एक महत्वपूर्ण गुप्त राजनीतिक केंद्र भी बन गया। 1857 के महासंग्राम के नायक बाबू वीर कुंवर सिंह ने अंग्रेजी गुप्तचरों की आँखों में धूल झोंकते हुए जगदीशपुर, छोटानागपुर और सारण के विद्रोही जमींदारों तथा सैनिकों की रणनीतिक बैठकें कार्तिक पूर्णिमा के मेले की विशाल भीड़ के बीच ही आयोजित की थीं। मेले के अपार जनसमूह ने विद्रोही नेताओं को गुप्त संदेशों और हथियारों के आदान-प्रदान के लिए एक आदर्श प्राकृतिक आवरण प्रदान किया।[10]

औपनिवेशिक काल में आर्थिक एवं प्रशासनिक रूपांतरण

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस मेले के आर्थिक और सामरिक महत्व को संस्थागत रूप दिया। 1801 में ब्रिटिश प्रशासन ने बंगाल कैवेलरी (घुड़सवार सेना) के लिए घोड़ों की नियमित आपूर्ति और खरीद सुनिश्चित करने के उद्देश्य से सोनपुर में एक 'रेमोंट डिपो' (Remount Depot) की स्थापना की।[11]

19वीं शताब्दी के अंत तक सोनपुर मेला ब्रिटिश अधिकारियों के लिए एक विलासितापूर्ण सामाजिक और खेल-कूद उत्सव में भी ढल गया। यूरोपीय अधिकारियों, नीलहे साहबों (Indigo Planters) और भारतीय राजा-महाराजाओं के ठहरने के लिए विस्तृत 'यूरोपीय कैंप' बनाए जाते थे। यहाँ पोलो प्रतियोगिताएँ, घुड़दौड़ (Horse Races) और बॉल डांस का आयोजन नियमित रूप से किया जाता था। एल.एस.एस. ओ'मैली ने सारण गजेटियर में दर्ज किया है कि सोनपुर का मेला उस दौर में ब्रिटिश प्रशासनिक अमले और भारतीय संभ्रांत वर्ग के सबसे बड़े मिलन स्थलों में से एक बन चुका था।[12]

मेले की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना

सोनपुर मेले की संरचना पारंपरिक भारतीय लोक-संस्कृति के विविध आयामों को एक ही धरातल पर समाहित करती है। इस परिसर को मुख्य रूप से तीन भागों में समझा जा सकता है:

सर्वप्रथम, आध्यात्मिक क्षेत्र में हरिहरनाथ मंदिर, संगम स्नान, विभिन्न संप्रदायों के संतों के अखाड़े और निरंतर चलने वाले भजन-कीर्तन शामिल हैं।

द्वितीय, पशु व्यापार क्षेत्र पारंपरिक रूप से इसका सबसे बड़ा आकर्षण रहा है। इसे अलग-अलग मंडियों में बाँटा जाता था— हाथी बाजार, घोड़ा बाजार, चिड़िया बाजार और दुधारू मवेशियों का बाजार। जमींदारी प्रथा के दौर में हाथी पालना सामाजिक प्रतिष्ठा (Status Symbol) का प्रतीक था, जबकि घोड़ा बाजार में पंजाब, राजस्थान और काबुल के व्यापारी उत्तम नस्ल के अश्वों का प्रदर्शन करते थे।

तृतीय, लोक-मनोरंजन का क्षेत्र जनसंस्कृति का दर्पण रहा है। सोनपुर मेला भिखारी ठाकुर की लोक-नाट्य परंपरा ('बिदेसिया') और पारंपरिक नौटंकी का ऐतिहासिक मंच रहा है। जहाँ एक ओर अखाड़ों में साधु-संतों का दार्शनिक विमर्श चलता था, वहीं दूसरी ओर रंगमंच और लोकगीतों के माध्यम से पलायन, गरीबी और सामाजिक विद्रूपताओं पर तीखे व्यंग्य प्रस्तुत किए जाते थे। इसके अतिरिक्त, पारंपरिक हस्तशिल्पियों के लिए यह मेला काष्ठ-कला, धातु-शिल्प और कृषि उपकरणों की बिक्री का एक प्रमुख क्षेत्रीय केंद्र रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर चुनौतियाँ और समकालीन रूपांतरण

20वीं सदी के उत्तरार्ध और 21वीं सदी के आरंभ में सोनपुर मेले की ऐतिहासिक बनावट में गहरे संरचनात्मक बदलाव दर्ज किए गए हैं:

कानूनी प्रतिबंध: वन्यजीव संरक्षण अधिनियम, 1972 के कड़े क्रियान्वयन (विशेषकर अनुसूची-1 के अंतर्गत हाथियों और दुर्लभ पक्षियों के व्यावसायिक क्रय-विक्रय पर पूर्ण प्रतिबंध) के कारण मेले का पारंपरिक 'हाथी बाजार' और 'चिड़िया बाजार' व्यावहारिक रूप से समाप्त हो गया है। अब हाथी केवल प्रतीकात्मक प्रदर्शन और औपचारिकता हेतु लाए जाते हैं।[13]

कृषि का यंत्रीकरण: आधुनिक युग में ट्रैक्टरों और मशीनों के तीव्र प्रसार के कारण कृषि एवं माल ढुलाई हेतु बैलों, घोड़ों और ऊंटों की व्यापारिक उपयोगिता तथा मांग में भारी गिरावट आई है।

पर्यटनोन्मुख आधुनिकीकरण: वर्तमान में बिहार राज्य पर्यटन विकास निगम (BSTDC) द्वारा मेले को 'हेरिटेज टूरिज्म' के रूप में पुनर्गठित किया जा रहा है। स्विस कॉटेज, रिवर क्रूज, वाटर स्पोर्ट्स और आधुनिक सांस्कृतिक संध्याओं के समावेश ने मेले के पारंपरिक ग्रामीण स्वरूप को एक आधुनिक वाणिज्यिक उत्सव में रूपांतरित कर दिया है।

निष्कर्ष

सोनपुर का हरिहर क्षेत्र मेला भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास का एक बहुआयामी और सजीव दस्तावेज है। यह मेला संगम की पावन भूमि पर शैव और वैष्णव दर्शन के समन्वय से प्रारंभ होकर, मौर्य एवं मुगल काल के सामरिक अश्व-गज व्यापार से गुजरता हुआ, 1857 के स्वाधीनता समर का साक्षी बना। यद्यपि वर्तमान में कानूनी प्रतिबंधों और तकनीकी आधुनिकीकरण के कारण इसका पारंपरिक पशु-व्यापारिक ढांचा संकुचित हुआ है, तथापि इसकी धार्मिक आस्था, सांस्कृतिक सहिष्णुता और लोक-जीवन को जोड़ने वाली अंतर्निहित शक्ति आज भी अक्षुण्ण है। सोनपुर मेला मात्र एक आर्थिक बाजार नहीं, अपितु लोक-स्मृति, इतिहास और परंपरा की एक निरंतर प्रवाहमयी जीवन-धारा है।

संदर्भ:

1. ओ'मैली, एल. एस. एस. *बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स: सारण*. द बंगाल सेक्रेटेरिएट बुक डिपो, कलकत्ता, 1908, पृ. 142-145.
2. कानूनगो, के. आर. *स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री*. एस. चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली, 1953, पृ. 78.
3. सरकार, जदुनाथ. *इकोनॉमिक्स ऑफ ब्रिटिश इंडिया*. एम. सी. सरकार एंड संस, कलकत्ता, 1920, पृ. 112.
4. *श्रीमद्भागवत महापुराण*. गीताप्रेस, गोरखपुर, 2015, अष्टम स्कंध, अध्याय 2-4.
5. शास्त्री, नीलकंठ. *एज ऑफ द नंदस एंड मौर्यास*. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967, पृ. 165.
6. पाठक, विश्वंभर शरण. *हिस्ट्री ऑफ शैविज्म इन नॉर्दर्न इंडिया*. भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1960, पृ. 89-92.
7. दत्त, के. के. *बायोग्राफी ऑफ कुंवर सिंह एंड अमर सिंह*. के. पी. जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, 1957, पृ. 45-48.
8. कौटिल्य. द *कौटिलीय अर्थशास्त्र भाग -2(अनुवादक आर. पी. कांगले)*, बॉम्बे यूनिवर्सिटी, बॉम्बे, 1965, अधिकरण 2, अध्याय 31-32.
9. अबुल फजल. द *आइन-ए-अकबरी भाग -1(अनुवादक एच. ब्लोचमैन)*, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1927, पृ. 128-132.
10. राय, चौधरी पी. सी. *1857 इन बिहार (छोटा नागपुर एंड संताल परगना)*. रेवेन्यू डिपार्टमेंट, बिहार, पटना, 1955, पृ. 67-71.
11. बुकानन, फ्रांसिस. *एन एकाउंट ऑफ द डिस्ट्रिक्ट ऑफ बिहार एंड पटना इन 1811-1812*. बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, 1939, पृ. 210-214.
12. ओ'मैली, एल. एस. एस. उपरोक्त, पृ. 146.
13. *भारत सरकार. वन्यजीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972*. पर्यावरण, वन और जलवायु परिवर्तन मंत्रालय, नई दिल्ली, 1972, धारा 9 एवं अनुसूची-1.

Received: 01.07.2026 | Accepted: 10.07.2026 | Published: 30.08.2026

सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करने में त्योहारों, अनुष्ठानों और कला रूपों की भूमिका

प्रदीप कुमार / Pradeep Kumar*
kumarpari2005@gmail.com

सारांश-

भारतीय त्यौहार भारत के पारंपरिक रीति-रिवाजों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, जो देश की विविध आबादी और परंपराओं को दर्शाते हैं। इन उत्सवों की पहचान अलग-अलग रीति-रिवाजों, हर्षोल्लासपूर्ण समर्पण और गहरे आध्यात्मिक अर्थ से होती है, जो उन्हें सिर्फ़ मौज-मस्ती के अवसर से कहीं ज़्यादा बनाते हैं। दिवाली, होली और नवरात्रि जैसे हिंदू त्यौहारों का अनूठा प्रतीकात्मक महत्व है, जो अंधकार पर प्रकाश और बुराई पर अच्छाई की जीत का प्रतीक है। अन्य धर्म, जैसे मुसलमानों के लिए ईद-उल-फ़ितर, ईसाइयों के लिए क्रिसमस और सिखों के लिए बैसाखी, भी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्थिति को अपनाते हैं, जो व्यापक समाज के लिए उनकी परंपराओं की झलक पेश करते हैं।

मुख्य शब्द: *भारतीय संस्कृति, रीति-रिवाज़, अनुष्ठान, त्यौहार, सामुदायिक विकास।*

भूमिका-

भारतीय त्यौहार प्रकृति की लय और कृषि चक्र का जश्न मनाते हैं, जैसे मकर संक्रांति, जो सूर्य के मकर राशि में संक्रमण को चिह्नित करता है, जो लंबे दिनों की शुरुआत का संकेत देता है। पोंगल, जो मुख्य रूप से दक्षिण भारत में मनाया जाता है, एक फसल उत्सव है जो एक भरपूर फसल के लिए सूर्य देवता को सम्मानित करता है। भारतीय त्यौहार सामाजिक बंधन को मजबूत करने और समुदाय को बढ़ावा देने के अवसरों के रूप में कार्य करते हैं, जो जनता के बीच एकता और आपसी सम्मान को बढ़ावा देते हैं। वे पारंपरिक संगीत, नृत्य और शिल्प का प्रदर्शन करते हुए कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए मंच भी प्रदान करते हैं। त्यौहार क्षेत्रीय विविधता को भी उजागर करते हैं, विभिन्न राज्य अपने अनूठे त्योहार मनाते हैं जो उनके इतिहास, पौराणिक कथाओं और संस्कृति को दर्शाते हैं। संक्षेप में भारतीय त्यौहार जीवन, एकता और सृजन के सतत चक्र का उत्सव हैं। भारतीय त्यौहार भारत के पारंपरिक रीति-रिवाजों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, जो देश की विविध आबादी और परंपराओं को दर्शाते हैं। इन उत्सवों की पहचान अलग-अलग रीति-रिवाजों, हर्षोल्लासपूर्ण समर्पण और गहरे आध्यात्मिक अर्थ से होती है, जो उन्हें सिर्फ़ मौज-मस्ती के अवसर से कहीं ज़्यादा बनाते हैं। दिवाली, होली और नवरात्रि जैसे हिंदू त्यौहारों का अनूठा प्रतीकात्मक महत्व है, जो अंधकार पर प्रकाश और बुराई पर अच्छाई की जीत का प्रतीक है। अन्य धर्म, जैसे मुसलमानों के लिए ईद-उल-फ़ितर, ईसाइयों के लिए क्रिसमस और सिखों के लिए बैसाखी, भी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्थिति को अपनाते हैं, जो व्यापक समाज के लिए उनकी परंपराओं की झलक पेश करते हैं।

शोध उद्देश्य

1. भारतीय त्योहारों, अनुष्ठानों एवं कला रूपों की सांस्कृतिक पहचान के निर्माण और सुदृढ़ीकरण में भूमिका का अध्ययन करना।
2. त्योहारों के माध्यम से सामाजिक एकता, सामुदायिक विकास तथा अंतर-सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया का विश्लेषण करना।

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, बी. एड. विभाग, राठ महाविद्यालय पैठानी, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड**
Assistant Professor, B.Ed. Depart, Raath Mahavidyalaya Paithani, Pauri Garhwal, Uttarakhand

3. भारतीय त्योहारों के आर्थिक प्रभाव तथा हाशिए पर पड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक सशक्तीकरण में उनके योगदान का अध्ययन करना।
4. आधुनिकीकरण एवं व्यावसायीकरण के संदर्भ में त्योहारों के समक्ष उपस्थित चुनौतियों तथा सांस्कृतिक संरक्षण और सतत विकास की संभावनाओं का मूल्यांकन करना।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध में वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। शोध की प्रकृति मुख्यतः गुणात्मक है तथा अध्ययन के लिए द्वितीयक स्रोतों को आधार बनाया गया है। सामग्री के संकलन हेतु भारतीय त्योहारों, लोक-संस्कृति, सामाजिक एकता, सांस्कृतिक पहचान, आर्थिक विकास एवं सामुदायिक सशक्तीकरण से संबंधित पुस्तकों, शोध-पत्रों, शोध-जर्नलों, पत्र-पत्रिकाओं तथा उपलब्ध ऑनलाइन स्रोतों का अध्ययन किया गया है। विभिन्न भारतीय त्योहारों और उनसे संबद्ध अनुष्ठानों, लोककला, संगीत, नृत्य एवं हस्तशिल्प का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए सांस्कृतिक पहचान के निर्माण में उनकी भूमिका का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, त्योहारों के आर्थिक प्रभाव, पर्यटन, स्थानीय रोजगार, कारीगरों तथा हाशिए के समुदायों पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन में वर्णनात्मक, तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए परंपरा और आधुनिकता के अंतर्संबंध तथा व्यावसायीकरण की चुनौतियों का मूल्यांकन किया गया है।

भारतीय त्यौहारों का आर्थिक महत्व-

भारतीय त्यौहार सांस्कृतिक उत्सव हैं जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं, विकास, रोजगार सृजन और बाजार प्रोत्साहन में योगदान करते हैं। इन त्यौहारों से उपभोक्ता खर्च में वृद्धि होती है, जिससे छोटे स्थानीय विक्रेताओं, स्थानीय कारीगरों और हस्तशिल्प विक्रेताओं सहित सभी स्तरों के व्यवसायों को लाभ होता है। त्यौहार घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय पर्यटकों को आकर्षित करते हैं, जिससे पर्यटन और आतिथ्य क्षेत्र को बढ़ावा मिलता है। वस्तुओं और सेवाओं की बढ़ती मांग के कारण अतिरिक्त कार्यबल की आवश्यकता होती है, जिससे अस्थायी रोजगार के अवसर पैदा होते हैं। त्यौहार कारीगरों और शिल्पकारों को अपने कौशल और उत्पादों का प्रदर्शन करने के लिए एक मंच भी प्रदान करते हैं, जिससे पारंपरिक कला और शिल्प को संरक्षित किया जाता है और साथ ही आय और मान्यता भी मिलती है। त्यौहार मांग और आपूर्ति का एक चक्र बनाते हैं जो अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को उत्तेजित करता है, जिससे पूरी आपूर्ति श्रृंखला के साथ उद्योगों को लाभ होता है। व्यवसाय जानबूझकर त्यौहारों से पहले या त्यौहारों के दौरान नए उत्पाद या सेवाएँ लॉन्च करते हैं, जिससे उपभोक्ता खर्च में वृद्धि की उम्मीद होती है, जिससे उत्पाद विकास और विपणन प्रयासों में अधिक निवेश होता है। आर्थिक प्रभाव प्रत्यक्ष व्यय से परे है, क्योंकि त्यौहारों के दौरान उत्पन्न धन अक्सर स्थानीय अर्थव्यवस्था में प्रसारित होता है, जिससे अतिरिक्त आय और लाभ उत्पन्न होता है। ई-कॉमर्स प्लेटफ़ॉर्म त्यौहारों के मौसम में ट्रैफ़िक और लेन-देन में उछाल देखते हैं, जो समग्र आर्थिक प्रभाव में योगदान देता है। हालाँकि, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के साथ-साथ व्यावसायीकरण के बीच संतुलन बनाना आवश्यक है। जिम्मेदार नियोजन और सामुदायिक जुड़ाव के माध्यम से सतत आर्थिक विकास और सांस्कृतिक समृद्धि का बेहतर उपयोग किया जा सकता है।

सामुदायिक विकास में भारतीय त्योहारों की भूमिका-

भारतीय त्योहार एकता के माध्यम से सामुदायिक विकास के लिए शक्तिशाली उपकरण हैं, सामाजिक विभाजन को पार करते हैं और साझा पहचान की भावना को बढ़ावा देते हैं। ये उत्सव विभिन्न पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को एक साथ लाते हैं, सामाजिक बंधन को मजबूत करते हैं और अपनेपन की भावना को पोषित करते हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान और साझा अनुभव अन्य समुदायों के बारे में व्यक्तियों की समझ को समृद्ध करते हैं और भारत की विविधता के लिए प्रशंसा को प्रोत्साहित करते हैं। त्योहारों की तैयारी, निष्पादन, प्रतिभागियों के बीच एकता और जिम्मेदारी को बढ़ावा देने के लिए सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है। वे दान और परोपकार के कार्यों को भी प्रेरित करते हैं, जिसका उद्देश्य वंचितों का उत्थान करना है। त्यौहार पारंपरिक कला, शिल्प, संगीत और नृत्य के संरक्षण और पुनरोद्धार के लिए एक मंच प्रदान करते हैं, विभिन्न समुदायों की सांस्कृतिक समृद्धि को प्रदर्शित करते हैं और कलाकारों और शिल्पकारों को सशक्त बनाते हैं। वे सामाजिक विभाजन को धुंधला करते हैं, जाति, पंथ और आर्थिक स्थिति को धुंधला करते हैं, और स्थायी यादें बनाते हैं जो लोगों को पीढ़ियों से जोड़ते हैं।

त्यौहार अक्सर महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दों को उजागर करते हैं, उन्हें संबोधित करने के लिए चर्चा और कार्रवाई को प्रोत्साहित करते हैं। क्षेत्रीय त्यौहार स्थानीय विरासत और परंपराओं का जश्न मनाते हैं, समुदायों को अपनी सांस्कृतिक जड़ों में पहचान और गर्व की साझा भावना के इर्द-गिर्द एकजुट करते हैं। वे अंतर-धार्मिक समझ, सहयोग और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को बढ़ावा देते हैं। विभाजनों से चिह्नित दुनिया में, भारतीय त्यौहार सांस्कृतिक मूल्यों, भाषाई और सामाजिक-आर्थिक मतभेदों को पार करते हुए, विविध समुदायों के बीच एकता और एकजुटता पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

हाशिए पर पड़े वर्गों के सामाजिक उत्थान में भारतीय त्योहारों की भूमिका-

भारतीय त्योहारों में समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों के उत्थान, सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को दूर करने और समावेशिता को बढ़ावा देने की क्षमता है। ये उत्सव दान, कौशल विकास और सशक्तिकरण के कार्य प्रदान करते हैं, जो उन व्यक्तियों की समग्र बेहतरी में योगदान करते हैं जिन्हें अक्सर अनदेखा कर दिया जाता है। त्योहारों में अक्सर दान के कार्य, कौशल विकास कार्यशालाएँ, अस्थायी नौकरी के अवसर, हाशिए पर पड़े समुदायों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, सामाजिक मुद्दों के बारे में जागरूकता बढ़ाना, सामूहिक प्रयासों को बढ़ावा देना और सांस्कृतिक विविधता का जश्न मनाना शामिल होता है। ये कार्यक्रम सामुदायिक सामंजस्य और भावनात्मक और व्यावहारिक सहायता को भी बढ़ावा देते हैं, सामुदायिक सामंजस्य को बढ़ावा देते हैं और भेदभाव को कम करते हैं। त्योहार हाशिए पर पड़े पृष्ठभूमि के युवा व्यक्तियों को अपनी प्रतिभा और कौशल दिखाने, आत्मविश्वास और आकांक्षाओं को बढ़ाने के अवसर भी प्रदान करते हैं। सामाजिक उत्थान के माध्यम के रूप में त्योहारों की क्षमता को पहचानकर, समाज इन समारोहों का उपयोग असमानताओं को दूर करने और अधिक न्यायसंगत वातावरण बनाने के लिए कर सकता है। हाशिए पर पड़े वर्गों तक खुशी और उत्सव का विस्तार करके, त्यौहार सकारात्मक बदलाव के एजेंट बन जाते हैं, बाधाओं को तोड़ते हैं और समाज के सभी सदस्यों के बीच अपनेपन और सम्मान की भावना का पोषण करते हैं।

सामाजिक कल्याण के लिए भारतीय त्यौहार: चुनौतियाँ और विचार-

भारतीय त्यौहार सामाजिक उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं, लेकिन उन्हें आर्थिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं के बीच संतुलन बनाना चाहिए। व्यावसायीकरण समग्र कल्याण के बजाय भौतिकवाद को बढ़ावा देकर सकारात्मक प्रभाव को कम कर सकता है। उत्सवों को अधिक समावेशी और सुलभ बनाने के लिए, त्यौहार की अवधि से परे हाशिए पर पड़े वर्गों को सशक्त बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए। कौशल विकास कार्यशालाओं को सार्थक रोजगार या आय-सृजन के अवसरों में तब्दील होना चाहिए, हाशिए पर पड़े वर्गों के सामने आने वाली चुनौतियों के बारे में जागरूकता बढ़ानी चाहिए और सांस्कृतिक विनियोग के बिना सांस्कृतिक प्रथाओं को शामिल करना चाहिए। त्यौहारों के दौरान प्रभावी सामाजिक उत्थान के लिए समुदायों, स्थानीय अधिकारियों, गैर सरकारी संगठनों और व्यवसायों के बीच सहयोग महत्वपूर्ण है। त्यौहार की गतिविधियों में हाशिए पर पड़े वर्गों को शामिल करना सार्थक, वास्तविक भागीदारी और मान्यता होनी चाहिए। रणनीतियों को हाशिए पर पड़े वर्गों के कल्याण में निरंतर सुधार पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए, यह पहचानते हुए कि व्यक्तियों को हाशिए पर पड़े रहने के अतिव्यापी रूपों का सामना करना पड़ सकता है। त्यौहार की योजना में इन विचारों को शामिल करके, भारत अपने विविध उत्सवों की शक्ति को सकारात्मक बदलाव लाने और समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों के उत्थान के लिए जोड़ सकता है।

सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करने में त्यौहारों का योगदान-

भारतीय त्यौहारों में 2047 तक देश की आर्थिक भलाई और सामाजिक एकता को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करने की क्षमता है। बुनियादी ढांचे, कनेक्टिविटी और प्रौद्योगिकी में प्रगति त्यौहारों को अंतर्राष्ट्रीय यात्रा मौसमों के साथ जोड़कर पर्यटन को बढ़ावा दे सकती है। ई-कॉमर्स और डिजिटल भुगतान प्रणाली त्यौहारों को मनाने के लिए अभिनव तरीके बना सकती हैं, जैसे कि कारीगर उत्पादों के लिए ऑनलाइन मार्केटप्लेस और वर्चुअल मार्केटप्लेस। त्यौहार सूक्ष्म उद्यमियों, कलाकारों और स्थानीय कारीगरों के लिए अपने उत्पादों और कौशल का प्रदर्शन करने के लिए मंच के रूप में भी काम कर सकते हैं। हाशिए के समुदायों के लिए आर्थिक असमानताओं को कम करने वाली पहलों के माध्यम से समावेशी आर्थिक विकास को बढ़ावा दिया जा सकता है। त्यौहार विभिन्न राज्यों और समुदायों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान और समझ को भी बढ़ावा दे सकते हैं, अंतर-पीढ़ीगत बंधनों को मजबूत कर सकते हैं और सांस्कृतिक परंपराओं को संरक्षित कर सकते हैं। आभासी भागीदारी के

माध्यम से विभिन्न समुदायों के बीच सहयोग को बढ़ावा दिया जा सकता है, जिससे आपसी सम्मान और एकता को बढ़ावा मिलता है। त्यौहार सामाजिक कारणों और मूल्यों को भी बढ़ावा दे सकते हैं, जैसे पर्यावरण जागरूकता।

इन संभावित परिणामों को प्राप्त करने के लिए, विभिन्न हितधारकों की ओर से एक ठोस प्रयास की आवश्यकता है, जिसमें स्थायी पर्यटन, आर्थिक सशक्तिकरण और सांस्कृतिक संरक्षण को बढ़ावा देने वाली नीतियां शामिल हैं। व्यवसाय जिम्मेदार उपभोक्तावाद को बढ़ावा दे सकते हैं, स्थानीय कारीगरों का समर्थन कर सकते हैं और सामाजिक जिम्मेदारी बढ़ा सकते हैं। गैर-सरकारी संगठन ऐसे कार्यक्रम और पहल आयोजित कर सकते हैं जो सामुदायिक विकास और सामाजिक सद्भाव के लिए त्योहारों का लाभ उठाते हैं। स्कूल और कॉलेज अपने पाठ्यक्रम में त्योहारों को शामिल कर सकते हैं ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि युवा पीढ़ी इन आयोजनों के सांस्कृतिक और आर्थिक महत्व की सराहना करे।

निष्कर्ष-

भारतीय त्यौहार भारत की सांस्कृतिक विरासत का एक महत्वपूर्ण पहलू स्थापित करते हैं, जो इसकी समृद्ध सांस्कृतिक ताने-बाने को दर्शाता है। ये त्यौहार प्रकृति, कृषि चक्र, क्षेत्रीय विविधता और आर्थिक विकास का जश्न मनाते हैं, जिससे पर्यटक और कारीगर आकर्षित होते हैं। इसके अलावा, त्यौहार मांग और आपूर्ति का एक चक्र बनाते हैं, जिससे आपूर्ति श्रृंखला के साथ उद्योगों को लाभ होता है। वे हाशिए पर पड़े वर्गों का उत्थान कर सकते हैं, सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को दूर कर सकते हैं और समावेशिता को बढ़ा सकते हैं। हालाँकि, प्रभावी सामाजिक उत्थान के लिए कौशल विकास कार्यशालाओं, जागरूकता बढ़ाने और सांस्कृतिक विनियोग के बिना सांस्कृतिक प्रथाओं को शामिल करने जैसी दीर्घकालिक रणनीतियों की आवश्यकता होती है। 2047 तक, भारतीय त्यौहार देश की आर्थिक भलाई और सामाजिक एकता में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। बुनियादी ढाँचे, कनेक्टिविटी और प्रौद्योगिकी में विकास पर्यटन, ई-कॉमर्स और डिजिटल भुगतान प्रणालियों को बढ़ावा दे सकता है। त्यौहार सूक्ष्म उद्यमियों और कलाकारों के लिए मंच के रूप में भी काम कर सकते हैं, कौशल विकास और क्षमता निर्माण को बढ़ावा दे सकते हैं। आर्थिक असमानताओं को कम करके और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को बढ़ावा देकर समावेशी आर्थिक विकास हासिल किया जा सकता है। त्यौहार अंतर-पीढ़ीगत संबंधों को भी मजबूत कर सकते हैं, सहयोग को बढ़ावा दे सकते हैं और पर्यावरण जागरूकता जैसे सामाजिक कारणों का समर्थन कर सकते हैं। इन परिणामों को प्राप्त करने के लिए, हितधारकों को स्थायी पर्यटन, आर्थिक सशक्तिकरण, सांस्कृतिक संरक्षण, जिम्मेदार उपभोक्तावाद और सामाजिक जिम्मेदारी को बढ़ावा देने के लिए मिलकर काम करना चाहिए। स्कूल और कॉलेज त्यौहारों को अपने पाठ्यक्रम में शामिल कर सकते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि युवा पीढ़ी इन आयोजनों के सांस्कृतिक और आर्थिक महत्व की सराहना करती है। 2047 की आर्थिक भलाई और सामाजिक एकता में भारतीय त्यौहारों की भूमिका इस बात पर निर्भर करती है कि देश परंपरा और आधुनिकता को संतुलित करने की क्षमता रखता है, त्यौहारों की शक्ति का उपयोग करके सभी नागरिकों के लिए एक उज्जवल भविष्य का निर्माण करता है।

सन्दर्भ -

1. गेट्ज़, डी. (2010). द नेचर एंड स्कोप ऑफ फेस्टिवल स्टडीज़. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इवेंट मैनेजमेंट रिसर्च, 5*(1), 1–47. https://doi.org/10.1108/17852951011029298
2. जॉनस्टोन, एम. (2012). द सर्विसस्केप: द सोशल डाइमेंशन्स ऑफ प्लेस. *जर्नल ऑफ मार्केटिंग मैनेजमेंट, 28*(11–12), 1399–1418.
3. जोन्स, सी. (2012). इवेंट्स एंड फेस्टिवल्स: फिट फॉर द फ्यूचर? *इवेंट मैनेजमेंट, 16*(2), 107–118. https://doi.org/10.3727/152599512X13343565268258
4. सुनिथ, सी. के. (2018). सोशियोलॉजिकल सिग्नीफिकेन्स ऑफ फेस्टिवल्स एंड पिलग्रिमेज़. *इंटरनेशनल रिसर्च जर्नल ऑफ ह्यूमन रिसोर्सेज एंड सोशल साइंसेज, 5*(11), 13–23.

A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal. ISSN: 2231-1351

Received: 02.07.2026 | Accepted: 10.07.2026 | Published: 30.08.2026

किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का अध्ययन

प्रियंका यादव* डॉ. महेश चन्द यादव†

सारांश –

आधुनिक युग सूचना क्रांति का युग है यह निर्विवाद है कि सूचना क्रान्ति ने हमारे जीवन के हर हिस्से को प्रभावित किया है। तकनीकी तौर पर इसकी झलक भारत के नित नए विकसित हो रहे माध्यमों में मिल जाती है। ग्रामीण समाजों में साक्षरता और सामाजिक बदलाव लाने के उद्धेश्य से किए गए टेलीविजन के प्रयोग ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। दूरदर्शन मनोरंजन का साधन तो है ही साथ ही शिक्षा के प्रचार-प्रसार में इसकी भूमिका सराहनीय है। आर्थिक तथा सामाजिक बुराइयों से सम्बन्धित कार्यक्रम जब दूरदर्शन पर दिखाये जाते है तो इसका प्रभाव किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है। वर्तमान मे दूरदर्शन पर दिखाये जाने वाले कार्यक्रम किशोर बालकों के द्वारा बेहद पसंद किये जाते हैं। वे किशोर बालक जो हमारी आशा है, हमारा भविष्य है, हमारे आने वाले कल की तस्वीर है। शिक्षा में दूरदर्शन के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि दूरदर्शन कार्यक्रमों का किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर प्रभाव किस प्रकार का होता है। इस शोध अध्ययन के आधार पर शोधार्थी ने यह जानना आवश्यक समझा कि किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों के प्रभावों का स्तर तुलनात्मक रूप से किस प्रकार का है? क्या इन किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों के प्रभावों में कोई अन्तर है? अगर है तो किस स्तर का है? इसमें सर्वेक्षणात्मक अध्ययन करके शोधार्थी ने किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों के प्रभावों का आंकलन किया है।

मुख्य शब्द – दूरदर्शन, कार्यक्रम, व्यक्तित्व

अध्ययन का महत्त्व :-

विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। वर्तमान में शिक्षा में दूरदर्शन के बढ़ते प्रभाव के कारण किशोर विद्यार्थी दूरदर्शन में अधिक रूचि रखते है जिससे उनके सर्वागीण विकास का मार्ग अवरूद्ध होता जा रहा है। संगीता तनेजा ने अपने शोध में यह माना कि खेल संबंधी गतिविधियों और अन्य सहगामी गतिविधियों से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मात्र किताबी ज्ञान के सहारे विद्यार्थियों में सहयोग, संघर्ष और भाईचारे की भावना विकसित नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार इन गतिविधियों में हिस्सा लेने में विद्यार्थियों में अच्छा साहित्य पढ़ने की रूचि जागृत होती है, उनकी वाद विवाद, निबंध लेखन, कविता लेखन में रूचि जागतृ होती है। 2019 में टोंक जिले में सूरज सिंह नेगी जी द्वारा किए गए प्रयोग में यह स्पष्ट हुआ कि यदि विद्यार्थियों को साहित्यिक गतिविधियों से जोड़ा जाए तो उनके व्यक्तित्व और विचारों को एक नई दिशा दी जा सकती है। इस शोध में उन्होंने विद्यार्थियों से विभिन्न विषयों पर पत्र लेखन करवाते हुए यह प्रयोग किया। इस प्रयोग के साथ चित्रकला विषय को जोड़ते हुए विद्यार्थियों से विभिन्न विषयों पर चित्रकारी भी करवायी और इससे विद्यार्थियों में सहयोग, सौहार्द और भाईचारे की भावनाओं को विकसित करने का प्रयास किया गया। इनसे यह स्पट है कि सहगामी सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों के विद्यार्थी अपने मनोभावों को अच्छे से प्रकट कर पाता है। जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इनके अभाव में किशोर विद्यार्थियों का संतुलित व्यक्तित्व विकास नहीं हो पाता है। दूरदर्शन के प्रति किशोर विद्यार्थियों की बढ़ती रूचि ने उनको इन सभी सहगामी सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों से अलग कर दिया है जिसके कारण घर पर अकेले टेलिविजन से चिपके रहते हैं। किशोरावस्था में ऊर्जा चरम पर होती है। इसे सकारात्मक कार्यों में नहीं लगाया जाए तो वे इसे गलत कार्यों में लगाकर अपना भविष्य खराब कर सकते है। इस समय माता पिता और अध्यापकों को सांस्कृतिक व साहित्यिक गतिविधियों द्वारा इनके व्यक्तित्व पर ध्यान देकर उनके व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध विषय का चुनाव किया गया है।

* शोधार्थी राजऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर, (राजस्थान)

† शोध निर्देशक व प्राचार्य, श्री श्याम टी.टी. कॉलेज शापुर, तिजारा, अलवर

शिक्षा में दूरदर्शन के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि दूरदर्शन कार्यक्रमों का किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर प्रभाव किस प्रकार का होता है। अतः वर्तमान समस्या को देखते हुए “किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का अध्ययन” किया गया है। जिससे अभिभावकों और शिक्षकों को किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों के प्रभाव को स्पष्ट किया जा सके।

अध्ययन का औचित्यः–

अधिकतर बच्चे अपना समय टेलीविजन के इर्द-गिर्द ही बिताते है तथा अभिभावक भी अपने बच्चो के अध्ययन व भविष्य के बारे में चिन्ताग्रस्त रहते है क्योंकि अधिकतर बच्चे खाना खाने, खेलने तथा सोने के समय के तक चुम्बक की तरह टेलीविजन के निकट रहते है। आज सभी चैनल्स पर प्रसारित ये कार्यक्रम बालकों की अभिवृति, व्यवहार, पसन्द-नापसन्द, बात करने के तरीके पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते है। साथ ही इनका दूरगामी प्रभाव उनकी भाषा तथा उनके पढ़ने के तरीके तथा खाने की आदतों पर प्रत्यक्ष रूप देखा जा रहा है।

टेलीविजन कार्यक्रम को देखना बच्चों का प्रमुख कार्य हो गया है। यह बदलाव उस परिवेश के कारण आया है, जिसमें बच्चें आज पल रहे है। एक जमाना था जब बच्चे दादा-दादी, नाना-नानी की गोद में परी की कथाओं वाली रंगीन दुनिया में खो जाते व नींद मे रच लेते थे, सपनों का सुनहरा संसार। परन्तु अब दादा-दादी, नाना-नानी की वह रोचक कहानियाँ नहीं रही। आज उनके माता-पिता के पास उनके लिए वक्त नही होता वे या तो ‘नौकरो’ व ‘आया’ के बीच पलते है या जैसा चाहे वैसे रहते है। माता-पिता का मार्गदर्शन उन्हें नहीं मिल पाता। वीडियो गेम्स, कार्टून व रियेलिटी टी.वी. कार्यक्रमों आदि से चिपके रहने से बच्चों का सामाजिक दायरा सिमट रहा है, वे अपनी एक अलग दुनिया बसा रहे है। उनकी दुनिया में इन मिथ्या व भ्रम युक्त कार्यक्रमों के चरित्र व कलाकार ही उनको साथी है। अतः बालक अपने आस-पड़ौस के बच्चों तथा परिवार के बड़ो से ज्यादा सम्पर्क नहीं रख पा रहे है न ही वह दूसरें बच्चों के साथ प्ले-ग्राउण्ड में खेलना चाहते है। इसी कारण उनमें सहयोग ही भावना, शारीरिक विकास व व्यक्तित्व का विकास भी उचित क्रम में नहीं हो पा रहा। वे अनेक शारीरिक समस्याएँ व स्वास्थ्य सम्बन्धी दुर्बलताओं से ग्रसित हो रहे है जैसे मोटापा, आक्रामकता, हिंसक, अभद्र भाषा का प्रयोग, आलस्य, आकांक्षाओं का उच्च स्तर आदि। आज बच्चों पर इंसानी संगत से ज्यादा मशीनी संगत का असर पड़ने लगा है।

आज आधुनिकीकरण एवं मंहगाई के कारण माता-पिता दोनों ही जीवकोपार्जन हेतु घर से बाहर जाते है। संयुक्त परिवार के विघटन व एकांकी परिवार के प्रचलन के कारण बच्चों को अकेले रहना पड़ता है। इसी कारण उनकी सुरक्षा व किसी भी अप्रिय दुर्घटना से बचाव की आशा में माता-पिता बच्चों को घर पर ही रहकर टेलीविजन देखने की स्वीकृति सहर्ष दे देते है।

अभिभावक बच्चों द्वारा लगातार टेलीविजन कार्यक्रमों के देखने के कारण उनके ऊपर हो रहे नकारात्मक प्रभाव के कारण चिन्ताग्रस्त रहते है, परन्तु वर्तमान में टेलीविजन कार्यक्रमों से बच्चों के बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक विकास, नैतिक विकास एव मूल्यों पर सकारात्मक रूप से पड़ने वाले प्रभावों को भी नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि एक सिक्के के दो पहलू होते है- अच्छाई व बुराई। अतः उपरोक्त सभी बाते जो शोधकर्त्री के मस्तिष्क को उद्वेलित कर रही है। इस कारण इस विषय की महत्ता और ज्वलंतता को देखते हुए शोधार्थी ने “किशोर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व पर दूरदर्शन कार्यक्रमों की प्रभावशीलता का अध्ययन” विषय पर शोध करने का निश्चय किया।

उद्देश्य :–

1. किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन करना।
3. किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पना :

1. किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।
2. किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।
3. किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावी में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

अध्ययन का परिसीमन :–

- प्रस्तावित शोध में न्यादर्श के रूप में उन्हीं विद्यार्थियों को लिया गया है जो प्रतिदिन न्यूनतम 1 घण्टा टी.वी.देखते है।
- प्रस्तुत शोध में राजस्थान राज्य के अलवर जिले के 800 माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों जिसमें जिसमें 400 ग्रामीण विद्यार्थी (200 छात्र व 200 छात्राएँ) व 400 शहरी विद्यार्थी (200 छात्र व 200 छात्राएँ) तक ही सीमित किया गया है।

शोध विधि :– प्रस्तुत अनुसंधान में समस्या की प्रकृति व पृष्ठभूमि को देखते हुए प्रस्तुत समस्या के अध्ययन के लिए सर्वेक्षण अनुसंधान विधि का चयन किया गया है।

न्यादर्श :– प्रस्तुत अध्ययन में न्यादर्श के रूप में राजस्थान राज्य के अलवर जिले के 800 माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों जिसमें जिसमें 400 ग्रामीण विद्यार्थी (200 छात्र व 200 छात्राएँ) व 400 शहरी विद्यार्थी (200 छात्र व 200 छात्राएँ) को न्यादर्श के रूप में सम्मिलित किया गया है।

शोध में प्रयुक्त उपकरण :–

प्रस्तुत अनुसंधान में दत्त संकलन हेतु चरों से संबंधित निम्नलिखित स्वनिर्मित परीक्षण का प्रयोग किया गया है।

1	व्यक्तित्व परीक्षण	डॉ० एस. जलोटा और डॉ० एस. डी. कपूर

शोध कार्य में विश्लेषण हेतु प्रयुक्त सांख्यिकी :– प्रस्तुत अध्ययन में विश्लेषण हेतु सांख्यिकी– के रूप में मध्यमान (Mean), मानक विचलन (S.D.) ,क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) व प्रतिशत का प्रयोग किया गया है।

परिकल्पना 1 किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

तालिका 4.1

दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाले किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना –

न्यादर्श	**संख्या** (N)	**मध्यमान** (Mean)	**मानक विचलन** (S.D.)	**क्रान्तिक अनुपात मान** (CR Value)	**सार्थकता स्तर**	
					.05	**.01**
छात्र	400	54.86	9.16	4.62	सार्थक अन्तर हैं।	सार्थक अन्तर हैं।
छात्राएँ	400	52.01	8.26			

($df=N_1+N_2-2=400+400-2=798$)

उक्त सारणी में किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों की तुलना हेतु मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान व मानक विचलन के आधार पर क्रान्तिक अनुपात मान की गणना की गई है। गणनानुसार दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाले किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 54.86 व 52.01 तथा मानक विचलन क्रमशः 9.16 व 8.26 दिये गये हैं। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं) का क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) 4.62 प्राप्त हुआ हैं। जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 798(df) का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.96 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.58 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं) का क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) 4.62 प्राप्त हुआ हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से अधिक है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर अस्वीकृत कर कहा जा सकता है कि किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में में सार्थक अन्तर है। प्राप्त मध्यमानों के आधार पर कहा जा सकता है कि किशोरावस्था के छात्रों के व्यक्तित्व का स्तर किशोरावस्था की छात्राओं की अपेक्षा उच्च पाया गया है।

आरेख – 4.1

दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाले किशोरावस्था के छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान, मानक विचलन तथा क्रान्तिक अनुपात मान का आरेखीय प्रदर्शन।

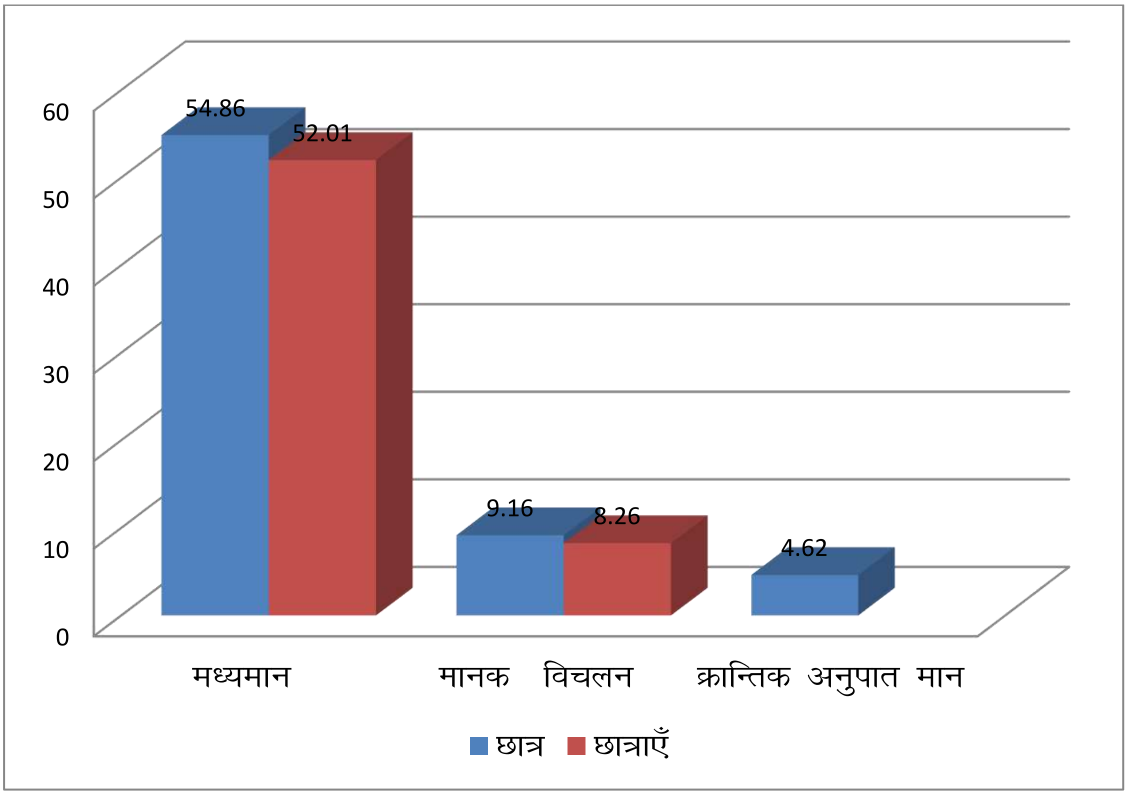

परिकल्पना 2 किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

तालिका 4.2

दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाले किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना –

न्यादर्श	संख्या (N)	मध्यमान (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value)	सार्थकता स्तर	
					.05	**.01**
ग्रामीण छात्र	200	54.73	9.65	0.29	सार्थक अन्तर नही हैं।	सार्थक अन्तर नही हैं।
शहरी छात्र	200	54.99	8.24			

($df=N_1+N_2-2=200+200-2=398$)

उक्त सारणी में किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों की तुलना हेतु मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान व मानक विचलन के आधार पर क्रान्तिक अनुपात

मान की गणना की गई है। गणनानुसार दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाले किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 54.73 व 54.99 तथा मानक विचलन क्रमशः 9.65 व 8.24 दिये गये हैं। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों) का क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) 0.29 प्राप्त हुआ हैं। जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 398(df) का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.97 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.59 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों) का क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) 0.29 प्राप्त हुआ हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से कम है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर स्वीकृत कर कहा जा सकता है कि किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

आरेख – 4.2

दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाले किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान, मानक विचलन तथा क्रान्तिक अनुपात मान का आरेखीय प्रदर्शन।

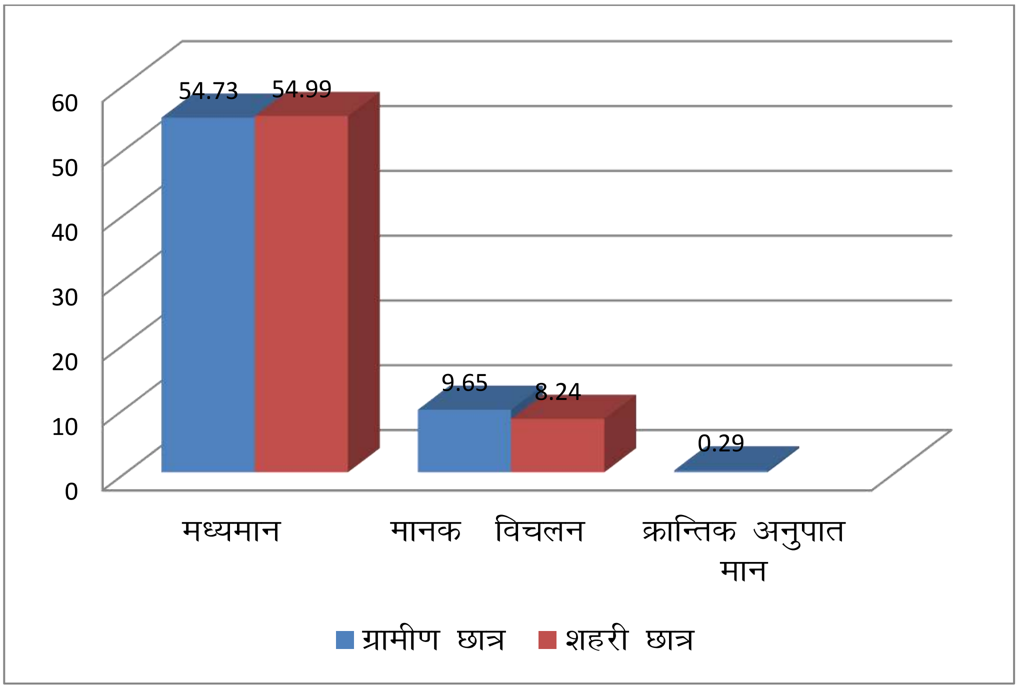

परिकल्पना 3 किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।

तालिका 4.3

दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाली किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता की तुलना –

न्यादर्श	संख्या (N)	मध्यमान (Mean)	मानक विचलन (S.D.)	क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value)	सार्थकता स्तर	
					.05	**.01**
ग्रामीण छात्राएँ	200	50.46	8.24	3.83	सार्थक अन्तर हैं।	सार्थक अन्तर हैं।
शहरी छात्राएँ	200	53.57	8.00			

($df=N_1+N_2-2=200+200-2=398$)

उक्त सारणी में किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों की तुलना हेतु मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान व मानक विचलन के आधार पर क्रान्तिक

अनुपात मान की गणना की गई है। गणनानुसार दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाली किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान क्रमशः 50.46 व 53.57 तथा मानक विचलन क्रमशः 8.24 व 8.00 दिये गये हैं। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं) का क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) 3.83 प्राप्त हुआ हैं। जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है।

तालिका में स्वतंत्रता के अंश 398(df) का मान 0.05 सार्थकता स्तर पर 1.97 एवं 0.01 सार्थकता स्तर पर 2.59 दिया गया है। गणना के आधार पर इन दोनों समूहों (किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं) का क्रान्तिक अनुपात मान (CR Value) 3.83 प्राप्त हुआ हैं। जो कि 0.05 व 0.01 दोनों सार्थकता स्तर पर तालिका मान से अधिक है, अतः निर्मित शून्य परिकल्पना को सार्थकता के दोनों स्तरों (0.05 व 0.01) पर अस्वीकृत कर कहा जा सकता है कि किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में सार्थक अन्तर पाया जाता है। प्राप्त मध्यमानों के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामीण किशोरावस्था की छात्राओं के व्यक्तित्व का स्तर शहरी किशोरावस्था की छात्राओं की अपेक्षा निम्न पाया गया है।

आरेख – 4.3

दूरदर्शन कार्यक्रम देखने वाली किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं के व्यक्तित्व मापनी के प्राप्तांकों के मध्यमान, मानक विचलन तथा क्रान्तिक अनुपात मान का आरेखीय प्रदर्शन।

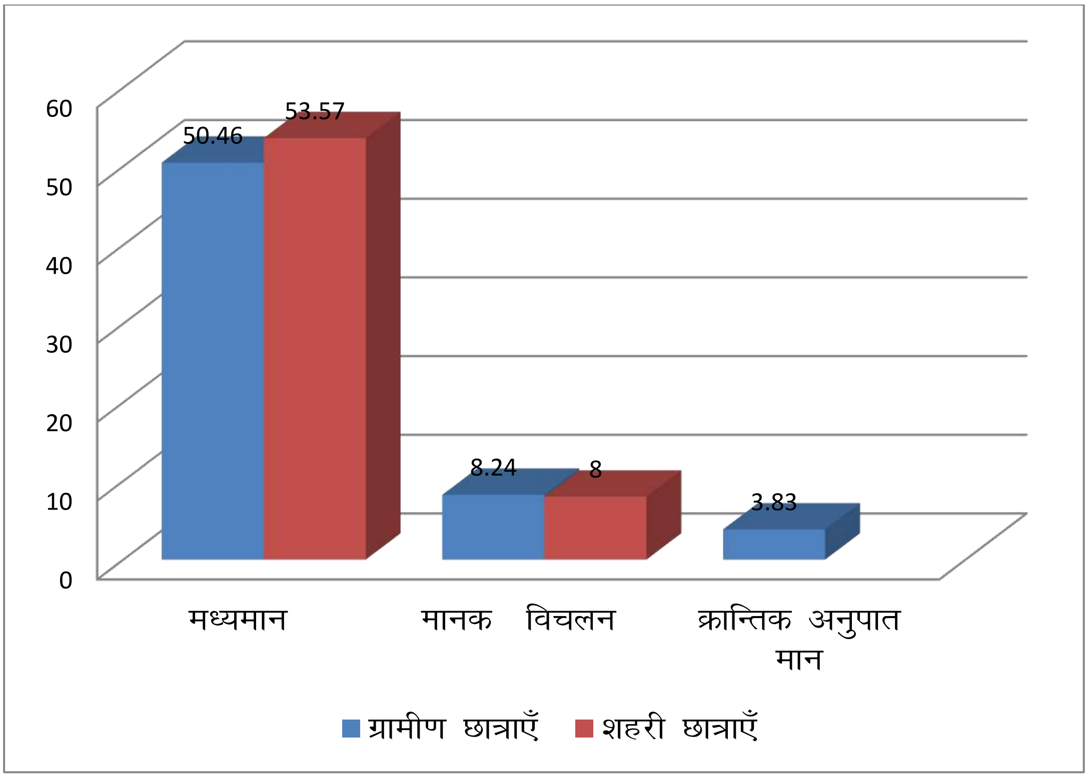

निष्कर्ष –:

1. किशोरावस्था के छात्र–छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में में सार्थक अन्तर है। प्राप्त मध्यमानों के आधार पर कहा जा सकता है कि किशोरावस्था के छात्रों के व्यक्तित्व का स्तर किशोरावस्था की छात्राओं की अपेक्षा उच्च पाया गया है।
2. किशोरावस्था के ग्रामीण तथा शहरी छात्रों पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में कोई सार्थक अन्तर नहीं पाया जाता है।
3. किशोरावस्था की ग्रामीण तथा शहरी छात्राओं पर दूरदर्शन कार्यक्रमों का उनके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों में सार्थक अन्तर पाया जाता है। प्राप्त मध्यमानों के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामीण किशोरावस्था की छात्राओं के व्यक्तित्व का स्तर शहरी किशोरावस्था की छात्राओं की अपेक्षा निम्न पाया गया है।

शैक्षिक उपादेयता –

- प्रस्तुत शोध द्वारा किशोर विद्यार्थियों को दूरदर्शन कार्यक्रमों के प्रति जागरूकता व मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा।
- बालक का प्रारम्भिक विद्यालय उसका परिवार व माता-पिता होते है अतः बालकों के टेलीविजन के आगे अधिक समय बिताने की बजाए परिवार के साथ समय व्यतीत करने का मार्ग दर्शन मिलेगा।
- शोध का अध्ययन करने के उपरान्त ग्रामीण व शहरी दोनो ही क्षेत्र के किशोर विद्यार्थियों को दूरदर्शन कार्यक्रमों का मूल्यों पर पड़ने वाले प्रभावों की जानकारी मिलेगी।
- शोध के अध्ययन के पश्चात् बालकों के सर्वांगीण विकास में दूरदर्शन कार्यक्रमों का सकारात्मक व नकारात्मक दोनो पहलूओं पर जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
- विद्यार्थियों के गिरते मानवीय मूल्यों के लिए उत्तरदायी दूरदर्शन कार्यक्रम की भाषा, सवांद व रहन सहन है यह पता चल सकेगा।

सन्दर्भ

- पाठक पी.डी, (2020) शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा पृष्ठ संख्या 509
- प्रो० रमन बिहारीलाल, श्रीमति सुनीता,(2008) “उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा”, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ, पृ. सं.24।
- पाण्डेय, रामशक्ल (2010) “भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास”, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ.सं. 38।
- डॉ० हरिमोहन, (2008) “रेडियो और दूरदर्शन पत्रकारिता”, तक्षशिला प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।

Received: 03.07.2026 | Accepted: 10.07.2026 | Published: 30.08.2026

भारतीय समाज में बढ़ता हुआ प्रदूषण एवं छात्र असंतोष

डॉ. नीलिमा नागर*
neelimaaman02@gmail.com

सारांश (Abstract)

प्रस्तुत शोध पत्र भारतीय समाज में बढ़ते पर्यावरणीय प्रदूषण तथा छात्र-वर्ग में उत्पन्न होते असंतोष के परस्पर संबंध का विश्लेषण करता है। अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न यह है कि प्रदूषण किस प्रकार छात्रों के स्वास्थ्य, शैक्षणिक निष्पादन एवं मनोसामाजिक स्थिति को प्रभावित करता है, और यह प्रभाव किन परिस्थितियों में सामूहिक असंतोष तथा पर्यावरणीय सक्रियता का रूप ग्रहण करता है। विश्लेषण द्वितीयक आँकड़ों — केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, विश्व स्वास्थ्य संगठन, आईक्यूएयर वैश्विक वायु गुणवत्ता रिपोर्ट, आर्थिक सर्वेक्षण तथा हिंदी-अंग्रेज़ी शोध-साहित्य — पर आधारित है। प्रमुख निष्कर्ष यह है कि प्रदूषण छात्रों पर त्रिस्तरीय प्रभाव डालता है — शारीरिक (श्वसन-रोग, उपस्थिति-ह्रास), संज्ञानात्मक (एकाग्रता एवं स्मृति-क्षय) तथा मनोभावात्मक (पर्यावरणीय चिंता अर्थात् eco-anxiety)। अध्ययन यह भी स्थापित करता है कि छात्र असंतोष केवल प्रतिक्रियात्मक नहीं, अपितु "अंतर-पीढ़ीगत न्याय" (intergenerational justice) की चेतना से प्रेरित एक नैतिक-राजनीतिक अभिव्यक्ति है, जो विद्यालय-बंदी, न्यायालयीन याचिका, जलवायु-हड़ताल एवं डिजिटल अभियान के रूप में प्रकट होती है। शोध के नीतिगत सुझावों में पर्यावरण-शिक्षा का पाठ्यक्रम-एकीकरण, विद्यालय-स्तरीय वायु गुणवत्ता निगरानी, तथा नीति-निर्माण में छात्र-प्रतिनिधित्व की संस्थागत व्यवस्था सम्मिलित है।

कूटशब्द (Keywords):

वायु प्रदूषण, छात्र असंतोष, पर्यावरणीय चिंता, अंतर-पीढ़ीगत न्याय, पर्यावरण शिक्षा, जलवायु सक्रियता

प्रस्तावना (Introduction)

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से आरंभ हुई त्वरित औद्योगीकरण, अनियोजित नगरीकरण एवं उपभोक्तावादी विकास-प्रक्रिया ने भारतीय समाज को एक गंभीर पर्यावरणीय संकट के समक्ष लाकर खड़ा कर दिया है। वायु, जल, मृदा एवं ध्वनि — प्रदूषण के समस्त आयाम आज न केवल पारिस्थितिक समस्या हैं, अपितु सार्वजनिक स्वास्थ्य, आर्थिक उत्पादकता एवं सामाजिक न्याय का प्रश्न बन गए हैं (अग्रवाल एवं नारायण, 2019)।

इस संकट का सर्वाधिक दीर्घकालिक भार छात्र-वर्ग पर पड़ता है, और इसके दो स्पष्ट कारण हैं। **प्रथम**, जैविक दृष्टि से विकासशील फुफ्फुस (Lungs) एवं मस्तिष्क वाले बालक-किशोर प्रदूषकों के प्रति वयस्कों की तुलना में अधिक संवेदनशील होते हैं (विश्व स्वास्थ्य संगठन, 2021)। **द्वितीय**, कालिक दृष्टि से पर्यावरणीय क्षरण के संचित परिणाम इसी पीढ़ी को भोगने होंगे, जिसके निर्णय-निर्माण में उसकी सहभागिता न्यूनतम है। यही विषम स्थिति छात्र असंतोष की जड़ में है।

आईक्यूएयर की *विश्व वायु गुणवत्ता रिपोर्ट 2025*, जो मार्च 2026 में प्रकाशित हुई, के अनुसार भारत विश्व के सर्वाधिक प्रदूषित देशों में छठे स्थान पर है; 2025 में देश का औसत PM2.5 सांद्रण 48.9 माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर रहा, जो विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानक से लगभग दसगुना अधिक है (IQAir, 2026)। लोनी (गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश) विश्व का सर्वाधिक प्रदूषित नगर रहा, तथा नई दिल्ली आठ वर्षों में सातवीं बार विश्व की सर्वाधिक प्रदूषित राजधानी (भारत) घोषित हुई (इंडिया टुडे, 2026; द *हिंदू*, 2026)।

* **एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय, उन्नाव, उत्तर प्रदेश**

वर्ष 2026 के आँकड़े इस संकट की निरंतरता की पुष्टि करते हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के दैनिक बुलेटिनों के विश्लेषण के अनुसार जनवरी से अगस्त 2026 तक दिल्ली का औसत वायु गुणवत्ता सूचकांक (AQI) 175.7 रहा, जो 2025 की समान अवधि के AQI 171.7 से अधिक है; फरवरी, मार्च, जुलाई एवं अगस्त 2026 में स्थिति पूर्ववर्ती वर्ष से अधिक बिगड़ी (यू.एन.आई., 2026)।

यह आँकड़ा-युग्म निर्णायक है — नीतिगत हस्तक्षेपों के उपरांत भी ग्रीष्मकालीन सुधार क्षणिक सिद्ध हुआ है और शीतकालीन तीव्र संकट अनियंत्रित बना हुआ है। यही अवधि विद्यालय-बंदी, उपस्थिति-ह्रास तथा परीक्षा-व्यवधान की दृष्टि से छात्र-वर्ग हेतु सर्वाधिक संकटपूर्ण रहती है।

शोध-समस्या

विद्यमान शोध-साहित्य में प्रदूषण का अध्ययन प्रायः स्वास्थ्य-आर्थिक दृष्टि से अथवा पारिस्थितिक दृष्टि से हुआ है; छात्र-वर्ग को मुख्यतः "प्रभावित जनसंख्या" के रूप में देखा गया है। छात्र को निष्क्रिय पीड़ित के स्थान पर सक्रिय सामाजिक कर्ता (social agent) मानकर उसके असंतोष की संरचना, कारणता एवं अभिव्यक्ति-रूपों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण अब तक अपेक्षाकृत उपेक्षित रहा है। प्रस्तुत शोध इसी अंतराल की पूर्ति का प्रयास है।

शोध-उद्देश्य

- भारत में प्रदूषण की वर्तमान स्थिति, स्वरूप एवं प्रमुख कारणों का विश्लेषण करना।
- प्रदूषण के छात्र-स्वास्थ्य, उपस्थिति, संज्ञानात्मक क्षमता एवं शैक्षणिक निष्पादन पर प्रभाव का परीक्षण करना।
- छात्र असंतोष के मनोसामाजिक आधार एवं अभिव्यक्ति-रूपों का समाजशास्त्रीय विवेचन करना।
- प्रदूषण एवं छात्र असंतोष के मध्य कारणात्मक संबंध-श्रृंखला का निर्धारण करना।
- शैक्षणिक एवं नीतिगत समाधान प्रस्तुत करना।

शोध-पद्धति (Method)

यह अध्ययन वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक एवं द्वितीयक आँकड़ा-आधारित है। आँकड़ा-स्रोतों में केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की वायु गुणवत्ता रिपोर्ट, राष्ट्रीय स्वच्छ वायु कार्यक्रम के प्रतिवेदन, विश्व स्वास्थ्य संगठन एवं आईक्यूएयर की रिपोर्ट, *Lancet* एवं *Economic and Political Weekly* में प्रकाशित शोध-आलेख, तथा हिंदी के समाजशास्त्रीय शोध-साहित्य सम्मिलित हैं। विश्लेषण हेतु पाँच कोटियाँ निर्धारित की गई हैं — (i) प्रदूषण का स्वरूप, (ii) स्वास्थ्यगत प्रभाव, (iii) शैक्षणिक प्रभाव, (iv) मनोसामाजिक प्रभाव, तथा (v) असंतोष की अभिव्यक्ति।

साहित्य-समीक्षा (Review of Literature)

गाडगिल एवं गुहा (1995) ने *पारिस्थितिकी एवं समता* में "सर्वभक्षी" (omnivores) तथा "पारिस्थितिक शरणार्थी" (ecological refugees) की अवधारणा द्वारा यह स्थापित किया कि पर्यावरणीय क्षरण का लाभ एवं भार असमान वर्गों में विभाजित होता है — यह स्थापना छात्र-असंतोष के न्याय-आधारित स्वरूप को समझने की कुंजी है। शिवा (1991) ने हरित क्रांति के पारिस्थितिक मूल्य का विश्लेषण किया।

बालकृष्णन आदि (2019) ने *Lancet Planetary Health* में प्रकाशित राज्य-स्तरीय रोग-भार अध्ययन में यह निर्धारित किया कि 2017 में भारत में 12.4 लाख मृत्युएँ वायु प्रदूषण से संबद्ध थीं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (2021) ने संशोधित वायु गुणवत्ता दिशानिर्देश जारी करते हुए बाल-जनसंख्या की विशेष संवेदनशीलता रेखांकित की।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एबेनस्टाइन, लैवी एवं रोथ (2016) ने यह सिद्ध किया कि परीक्षा-दिवस पर प्रदूषण का उच्च स्तर छात्रों के प्राप्तांक को मापनीय रूप से घटाता है, और यह प्रभाव दीर्घकालिक शैक्षणिक-आर्थिक परिणामों तक संचरित होता है। झेंग आदि (2019) ने संज्ञानात्मक क्षमता पर प्रदूषण के प्रभाव का अनुदैर्ध्य अध्ययन प्रस्तुत किया।

शाह (2004) ने भारतीय सामाजिक आंदोलनों की समीक्षा में छात्र-आंदोलनों की पृथक् कोटि निर्धारित की। ओमन (2010) ने नागरिक समाज एवं प्रतिरोध के संदर्भ में छात्र-सक्रियता का विश्लेषण किया। हाल के शोध में छात्र जलवायु-हड़तालों को "नई पीढ़ी की नैतिक राजनीति" के रूप में व्याख्यायित किया गया है (थुनबर्ग-प्रभाव संबंधी विमर्श)।

शोध-अंतराल

समीक्षा से स्पष्ट है कि प्रदूषण के स्वास्थ्य-आर्थिक प्रभाव तथा छात्र-आंदोलनों के राजनीतिक अध्ययन — दोनों पर पृथक् कार्य पर्याप्त है, किंतु **दोनों को जोड़ने वाली कारणात्मक श्रृंखला का एकीकृत विश्लेषण** अनुपलब्ध है।

भारत में प्रदूषण का स्वरूप एवं कारण

भारत में वायु प्रदूषण के प्रमुख स्रोत हैं — वाहन-उत्सर्जन, तापीय विद्युत संयंत्र, औद्योगिक उत्सर्जन, निर्माण-धूल, ठोस अपशिष्ट-दहन, घरेलू ठोस ईंधन, तथा उत्तर भारत में ऋतु-आधारित पराली-दहन (केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, 2023)। **PM2.5** सर्वाधिक घातक प्रदूषक है, क्योंकि 2.5 माइक्रोमीटर से छोटे कण फुफ्फुस (Lungs)-कोष्ठिका को पार करके रक्त-प्रवाह में प्रवेश कर जाते हैं।

सारणी 1

भारत में प्रदूषण के प्रमुख प्रकार, स्रोत एवं छात्र-वर्ग पर प्रत्यक्ष प्रभाव

प्रदूषण-प्रकार	प्रमुख स्रोत	छात्रों पर प्रत्यक्ष प्रभाव
वायु प्रदूषण	वाहन, उद्योग, पराली-दहन, निर्माण-धूल	दमा, श्वसन-संक्रमण, एकाग्रता-ह्रास, विद्यालय-बंदी
जल प्रदूषण	औद्योगिक बहिःस्राव, अनुपचारित मलजल, कृषि-रसायन	जलजनित रोग, अनुपस्थिति, कुपोषण
ध्वनि प्रदूषण	यातायात, निर्माण-कार्य, ध्वनि-विस्तारक	निद्रा-बाधा, स्मृति-क्षय, चिड़चिड़ापन
ठोस अपशिष्ट	नगरीय कचरा, प्लास्टिक, ई-कचरा	संक्रमण, विषाक्त धातु-संपर्क
मृदा एवं रासायनिक	कीटनाशक, उर्वरक, भारी धातु	खाद्य-श्रृंखला प्रदूषण, विकासात्मक अवरोध

प्रदूषण को मात्र तकनीकी समस्या मानना अपर्याप्त है; इसके चार संरचनात्मक कारण हैं — (क) **विकास-प्रतिमान** जिसमें पर्यावरणीय लागत को "बाह्यता" (externality) मानकर आर्थिक गणना से बाहर रखा जाता है; (ख) **नियामक दुर्बलता** — प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों की अपर्याप्त क्षमता एवं प्रवर्तन-शिथिलता; (ग) **अनियोजित नगरीकरण** एवं सार्वजनिक परिवहन का अविकास; तथा (घ) **नागरिक सहभागिता का अभाव** पर्यावरणीय निर्णय-प्रक्रिया में (गाडगिल एवं गुहा, 1995; अग्रवाल एवं नारायण, 2019)।

प्रदूषण का छात्र-वर्ग पर प्रभाव

बाल-जनसंख्या प्रदूषण के प्रति तीन कारणों से अधिक संवेदनशील है — श्वसन-दर शारीरिक भार के अनुपात में अधिक होती है, फुफ्फुस (Lungs) एवं प्रतिरक्षा-तंत्र विकासाधीन होते हैं, तथा बाह्य गतिविधियों में व्यतीत समय अधिक होता

है (विश्व स्वास्थ्य संगठन, 2021)। परिणामस्वरूप बाल-दमा, श्वसन-संक्रमण[†], फुफ्फुस (Lungs)-क्षमता का स्थायी अल्प-विकास तथा एलर्जी-जन्य विकारों में वृद्धि दर्ज की गई है (बालकृष्णन आदि, 2019)।

शैक्षणिक निष्पादन पर प्रभाव

प्रदूषण का शैक्षणिक प्रभाव तीन मार्गों से संचरित होता है।

प्रथम — उपस्थिति-ह्रास : श्वसन-रुग्णता से उत्पन्न अनुपस्थिति तथा गंभीर वायु-संकट के दिनों में प्रशासनिक विद्यालय-बंदी शिक्षण-दिवसों की प्रत्यक्ष हानि करती है। दिल्ली-एनसीआर में शीतकालीन विद्यालय-बंदी अब आपवादिक उपाय नहीं, अपितु लगभग वार्षिक व्यवस्था बन चुकी है।

द्वितीय — संज्ञानात्मक क्षय : अनुभवजन्य अध्ययनों से सिद्ध है कि उच्च प्रदूषण-स्तर एकाग्रता, कार्यकारी स्मृति (working memory) तथा गणितीय-भाषिक निष्पादन को तत्काल एवं मापनीय रूप से घटाता है; परीक्षा-दिवस का प्रदूषण-स्तर प्राप्तांकों को प्रभावित करता है और यह प्रभाव दीर्घकालिक आर्थिक परिणामों तक संचरित होता है (Ebenstein, Lavy, & Roth, 2016; Zheng et al., 2019)।

तृतीय — दीर्घकालिक संचय : विकासात्मक अवस्था में हुई संज्ञानात्मक क्षति संचयी प्रकृति की होती है, जिसका प्रतिकूल परिणाम राष्ट्रीय मानव-पूँजी निर्माण पर पड़ता है।

यहाँ एक निर्णायक न्याय-संबंधी प्रेक्षण आवश्यक है। वायु शोधक, वातानुकूलित कक्ष एवं निजी परिवहन की सुविधा प्रायः संपन्न वर्ग के विद्यालयों तक सीमित है। अतः समान वायु-संकट का शैक्षणिक भार वर्गानुसार असमान रहता है, और प्रदूषण इस प्रकार विद्यमान शैक्षणिक विषमता का प्रवर्धक (amplifier) बन जाता है। गाडगिल एवं गुहा (1995) द्वारा प्रतिपादित "पारिस्थितिक असमता" की अवधारणा इसी बिंदु पर सर्वाधिक प्रासंगिक सिद्ध होती है।

मनोसामाजिक प्रभाव:

हाल के मनोवैज्ञानिक शोध में पर्यावरणीय चिंता (eco-anxiety अथवा climate anxiety) एक मान्यता-प्राप्त श्रेणी बन चुकी है — यह भविष्य के पारिस्थितिक पतन की आशंका से उत्पन्न दीर्घकालिक तनाव, निराशा एवं असहायता-बोध है, जो युवा वर्ग में विशेष रूप से प्रबल है (Hickman et al., 2021)। इसके तीन लक्षण छात्र-वर्ग में स्पष्ट दिखाई देते हैं — भविष्य-अनिश्चितता का बोध, संस्थागत अविश्वास ("निर्णायक हमारे हित में कार्य नहीं करेंगे"), तथा नैतिक आक्रोश (moral outrage)। यह तृतीय तत्त्व ही छात्र असंतोष का निर्णायक मनोवैज्ञानिक आधार है — आक्रोश जब असहायता के स्थान पर कर्तृत्व-बोध से जुड़ता है, तब वह निष्क्रिय चिंता से सक्रिय प्रतिरोध में रूपांतरित हो जाता है।

छात्र असंतोष: स्वरूप एवं अभिव्यक्ति

छात्र असंतोष का केंद्रीय तर्क अंतर-पीढ़ीगत न्याय (intergenerational justice) का है। वर्तमान पीढ़ी के उपभोग, औद्योगीकरण एवं विकास-संबंधी निर्णयों से उत्पन्न पारिस्थितिक व्यय — क्षयित वायु-गुणवत्ता, निम्नीकृत जल-स्रोत एवं परिवर्तित जलवायु — का वास्तविक भुगतान भावी पीढ़ी को करना है, जबकि उस निर्णय-प्रक्रिया में उसका कोई प्रतिनिधित्व नहीं रहता।

यह "प्रतिनिधित्व-विहीन उत्तरदायित्व" की मूलतः विषम स्थिति है, जिसमें परिणाम वहन करने वाला वर्ग निर्णय-निर्माण से पूर्णतः बहिष्कृत रहता है। लोकतांत्रिक सिद्धांत की दृष्टि से यही छात्र असंतोष की नैतिक वैधता का आधार है — जहाँ संस्थागत प्रतिनिधित्व के माध्यम अनुपलब्ध हों, वहाँ आंदोलनात्मक अभिव्यक्ति ही शेष विकल्प बनती है।

उल्लेखनीय है कि यह असंतोष प्रतिक्रियात्मक क्रोध से भिन्न है; वैश्विक सर्वेक्षणों से पुष्ट है कि युवा-वर्ग की चिंता का प्रमुख अंश शासन-संस्थाओं की निष्क्रियता से उत्पन्न होता है, न कि केवल पर्यावरणीय क्षरण से (Hickman et al., 2021)। अतः इसे व्यवस्था-विरोध के स्थान पर प्रतिनिधित्व-अभाव की संरचनात्मक प्रतिक्रिया मानना अधिक उपयुक्त है।

[†] अस्थमा और फेफड़ों के मरीजों को सांस लेने में कठिनाई हो सकती है।

सारणी 2 : *छात्र असंतोष के अभिव्यक्ति-रूप एवं उनका स्वरूप*

अभिव्यक्ति-रूप	**स्वरूप**	**उदाहरणात्मक संदर्भ**
विद्यालय/महाविद्यालय-स्तरीय अभियान	संस्थागत, रचनात्मक	वृक्षारोपण, स्वच्छता अभियान, इको-क्लब
जलवायु हड़ताल एवं प्रदर्शन	आंदोलनात्मक, सार्वजनिक	वैश्विक जलवायु हड़ताल में भारतीय नगरों की सहभागिता
न्यायालयीन याचिका	विधिक, संस्थागत	बाल-याचिकाकर्ताओं द्वारा राष्ट्रीय हरित अधिकरण में अभ्यावेदन
डिजिटल अभियान	प्रतीकात्मक, व्यापक-पहुँच	सोशल मीडिया अभियान, ऑनलाइन हस्ताक्षर-अभियान
स्थानीय प्रतिरोध में सहभागिता	स्थान-विशिष्ट, सामुदायिक	खनन, वन-कटाव एवं नदी-प्रदूषण विरोधी स्थानीय आंदोलनों में छात्र-सहभागिता
शैक्षणिक-बौद्धिक हस्तक्षेप	विमर्शात्मक	शोध, संगोष्ठी, नीति-समीक्षा, नागरिक विज्ञान परियोजनाएँ

भारतीय छात्र-असंतोष की परंपरा स्वतंत्रता-संग्राम से अविच्छिन्न है — असहयोग आंदोलन में छात्रों का विद्यालय-बहिष्कार, 1974 का बिहार छात्र आंदोलन, तथा विविध सामाजिक-न्याय आंदोलनों में छात्र-नेतृत्व (शाह, 2004; ओमन, 2010)। **पर्यावरणीय छात्र-सक्रियता इसी परंपरा का नवीनतम चरण है, किंतु इसमें एक मूलभूत भिन्नता है** — पूर्ववर्ती आंदोलन प्रायः *वर्तमान* अन्याय के विरुद्ध थे, जबकि यह आंदोलन *भविष्य* के अन्याय की प्रत्याशा से प्रेरित है। **यह कालिक पुनर्दिशा-निर्धारण (temporal reorientation) भारतीय छात्र-राजनीति का महत्त्वपूर्ण वैचारिक नवाचार है और इस शोध की एक केंद्रीय स्थापना है।**

असंतोष की सीमाएँ एवं दुर्बलताएँ

संतुलित मूल्यांकन हेतु चार सीमाओं का उल्लेख आवश्यक है। **प्रथम**, छात्र-सक्रियता प्रायः नगर-केंद्रित एवं अंग्रेज़ी-शिक्षित मध्यवर्गीय छात्रों तक सीमित रहती है, जबकि प्रदूषण का सर्वाधिक भार ग्रामीण एवं अनौपचारिक श्रमिक-वर्ग के बालकों पर पड़ता है — **यह प्रतिनिधित्व की गंभीर विषमता है। द्वितीय**, आंदोलन प्रायः प्रतीकात्मक एवं अल्पकालिक होते हैं तथा नीति-परिवर्तन तक पहुँचने वाली संस्थागत निरंतरता का अभाव रहता है। **तृतीय**, वैज्ञानिक-तकनीकी समझ की सीमा के कारण मांगें कभी-कभी अव्यावहारिक रह जाती हैं। **चतुर्थ**, राजनीतिक दलों द्वारा छात्र-असंतोष के उपयोजन (co-optation) का जोखिम निरंतर विद्यमान रहता है।

सुझाव :-

शैक्षणिक स्तर पर

- **पाठ्यक्रम-एकीकरण:** पर्यावरण-शिक्षा को पृथक् विषय के स्थान पर विज्ञान, सामाजिक विज्ञान एवं अर्थशास्त्र में अंतर्विषयक रूप से अंतर्निहित किया जाए, जिसमें पारिस्थितिक-आर्थिक लागत-लेखांकन सम्मिलित हो।
- **विद्यालय-स्तरीय वायु गुणवत्ता निगरानी:** प्रत्येक विद्यालय में निम्न-लागत संवेदक स्थापित कर छात्रों को ही आँकड़ा-संग्रहण में सहभागी बनाया जाए — यह **नागरिक विज्ञान** (citizen science) का प्रभावी प्रतिमान है, जो शिक्षा एवं सक्रियता को एकसाथ साधता है।
- **स्वास्थ्य-सुरक्षा प्रोटोकॉल:** वायु गुणवत्ता सूचकांक से संबद्ध स्पष्ट मानक — किस स्तर पर बाह्य गतिविधि स्थगित, किस स्तर पर कक्षा-स्थानांतरण, किस स्तर पर अवकाश।
- **मनोसामाजिक परामर्श:** पर्यावरणीय चिंता को विद्यालयी परामर्श-सेवाओं की मान्य श्रेणी में सम्मिलित किया जाए।

नीतिगत स्तर पर

- **छात्र-प्रतिनिधित्व की संस्थागत व्यवस्था:** नगरीय पर्यावरण-समितियों एवं राज्य-स्तरीय स्वच्छ वायु कार्य-योजना की समीक्षा-प्रक्रिया में छात्र-प्रतिनिधियों की औपचारिक सहभागिता।
- **राष्ट्रीय स्वच्छ वायु कार्यक्रम का सुदृढ़ीकरण:** लक्ष्य-निर्धारण में विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के परिसर को प्राथमिकता-क्षेत्र घोषित करना।
- **विषमता-संवेदी हस्तक्षेप:** वायु शोधन एवं सुरक्षा-अवसंरचना का प्राथमिक आवंटन सरकारी एवं निम्न-आय वर्ग के विद्यालयों में, जिससे प्रदूषण-जनित शैक्षणिक विषमता न्यून हो।
- **पारदर्शी आँकड़ा-सुलभता:** वायु गुणवत्ता आँकड़ों का वास्तविक-समय, स्थानीय-स्तरीय एवं हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में सार्वजनिक प्रकाशन।

निष्कर्ष (Conclusion)

प्रस्तुत अध्ययन के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भारत में प्रदूषण अब केवल पारिस्थितिक समस्या नहीं, अपितु एक गंभीर शैक्षणिक एवं मानव-पूँजी संबंधी संकट भी है, क्योंकि यह छात्रों के स्वास्थ्य, विद्यालयी उपस्थिति तथा संज्ञानात्मक क्षमता — तीनों को मापनीय रूप से क्षति पहुँचाता है। इस क्षति का वितरण वर्ग-निरपेक्ष नहीं है; वायु शोधक, वातानुकूलित कक्ष एवं सुरक्षित परिवहन जैसी सुरक्षात्मक अवसंरचना की उपलब्धता संपन्नता से निर्धारित होती है, अतः प्रदूषण विद्यमान शैक्षणिक विषमता का प्रवर्धक बन जाता है — और यही तथ्य समता-केंद्रित नीति-हस्तक्षेप की अनिवार्यता सिद्ध करता है। इस पृष्ठभूमि में छात्र असंतोष को केवल भावनात्मक प्रतिक्रिया मानना अपर्याप्त है; वह अंतर-पीढ़ीगत न्याय के सिद्धांत पर आधारित वैध नैतिक-राजनीतिक अभिव्यक्ति है, जिसका कालिक अभिमुखीकरण अर्थात् भविष्योन्मुखता भारतीय छात्र-आंदोलन की परंपरा में एक विशिष्ट वैचारिक नवाचार है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि असंतोष का स्वरूप संस्थागत अवसरों की उपलब्धता से निर्धारित होता है — जहाँ सहभागिता के वैध माध्यम उपलब्ध हों, वहाँ वही ऊर्जा रचनात्मक नीति-निवेश में परिणत होती है, और जहाँ अवरुद्ध हों, वहाँ वह आंदोलनात्मक रूप ग्रहण कर लेती है। अतः उचित नीतिगत उत्तर असंतोष का दमन अथवा उपेक्षा नहीं, अपितु उसका रचनात्मक संस्थागत माध्यमन है, जिसका अभिप्राय है छात्र को पर्यावरणीय नीति-प्रक्रिया में हितभागी (stakeholder) के रूप में प्रतिष्ठित करना। यही इस शोध की केंद्रीय स्थापना है।

संदर्भ सूची (References)

अग्रवाल, अनिल, एवं नारायण, सुनीता. (2019). *भारत का पर्यावरण: स्थिति एवं चुनौतियाँ*. नई दिल्ली: विज्ञान एवं पर्यावरण केंद्र.

इंडिया टुडे. (2026, 24 मार्च). *India air pollution: Sixth most polluted country in 2025 world air quality report*. https://www.indiatoday.in/science/story/india-air-pollution-sixth-most-polluted-country-2025-world-air-quality-report-2886336-2026-03-24 से पुनर्प्राप्त.

ओमन, टी. के. (2010). *नागरिक समाज, सामाजिक आंदोलन एवं राज्य: भारतीय अनुभव*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान.

केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड. (2023). *राष्ट्रीय वायु गुणवत्ता निगरानी कार्यक्रम: वार्षिक प्रतिवेदन*. नई दिल्ली: पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय, भारत सरकार.

गाडगिल, माधव, एवं गुहा, रामचन्द्र. (1995). *पारिस्थितिकी एवं समता: भारत में प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग एवं दुरुपयोग*. नई दिल्ली: पेंगुइन बुक्स.

द हिंदू. (2026). *India 6th most polluted country in the world: World Air Quality Report*. https://www.thehindu.com/news/national/india-6th-most-polluted-country-in-the-world-world-air-quality-report/article70780385.ece से पुनर्प्राप्त.

नीति आयोग. (2021). *स्वच्छ वायु एवं सतत विकास: नीतिगत रूपरेखा*. नई दिल्ली: भारत सरकार.

पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय. (2019). *राष्ट्रीय स्वच्छ वायु कार्यक्रम (एन-कैप)*. नई दिल्ली: भारत सरकार.

यूनाइटेड न्यूज़ ऑफ इंडिया. (2026). *Delhi air quality worsened in 2026, report says; Cong flags CAQM data omission*. https://www.uniindia.com/national/delhi-air-quality-worsened-in-2026-report-says-cong-flags-caqm-data-omission/199956 से पुनर्प्राप्त.

विश्व स्वास्थ्य संगठन. (2021). *वैश्विक वायु गुणवत्ता दिशानिर्देश: पीएम2.5, पीएम10, ओज़ोन, नाइट्रोजन डाइऑक्साइड एवं सल्फर डाइऑक्साइड*. जेनेवा: विश्व स्वास्थ्य संगठन.

शाह, घनश्याम. (2004). *भारत में सामाजिक आंदोलन: साहित्य की समीक्षा*. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशंस.

शिवा, वन्दना. (1991). *हरित क्रांति की हिंसा: पारिस्थितिक पतन एवं कृषि-संकट*. देहरादून: नवधान्य.

Balakrishnan, K., Dey, S., Gupta, T., Dhaliwal, R. S., Brauer, M., Cohen, A. J., ... Dandona, L. (2019). The impact of air pollution on deaths, disease burden, and life expectancy across the states of India: The Global Burden of Disease Study 2017. *The Lancet Planetary Health, 3*(1), e26-e39.

Ebenstein, A., Lavy, V., & Roth, S. (2016). The long-run economic consequences of high-stakes examinations: Evidence from transitory variation in pollution. *American Economic Journal: Applied Economics, 8*(4), 36-65.

Hickman, C., Marks, E., Pihkala, P., Clayton, S., Lewandowski, R. E., Mayall, E. E., ... van Susteren, L. (2021). Climate anxiety in children and young people and their beliefs about government responses to climate change: A global survey. *The Lancet Planetary Health, 5*(12), e863-e873.

IQAir. (2025). *World air quality report 2025*. Goldach, Switzerland: IQAir. https://www.iqair.com/world-air-quality-report से पुनर्प्राप्त.

IQAir. (2026). *World air quality report 2025*. Goldach, Switzerland: IQAir. https://www.iqair.com/in-en/newsroom/india-air-quality-alert से पुनर्प्राप्त.

Zheng, X., Zhang, W., Lu, C., Chen, S., & Li, M. (2019). An empirical study of the effect of air pollution on students' cognitive performance. *Environmental Research Letters, 14*(6), 1-12.

Received: 04.07.2026 | Accepted: 10.07.2026 | Published: 30.08.2026

डिजिटल इकोनामी और यूपीआई (UPI) का भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़ने वाले प्रभाव का अध्ययन

डॉ. आकांक्षा राठौर*
akanksha21rathore@gmail.com

सारांश—

प्रस्तुत शोध पत्र में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल अर्थव्यवस्था तथा एकीकृत भुगतान इंटरफेस (UPI) के प्रभावों का अध्ययन किया गया है। वर्ष 2016 में UPI की शुरुआत के बाद डिजिटल भुगतान प्रणाली ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में लेनदेन की प्रक्रिया को सरल बनाने, वित्तीय समावेशन को बढ़ावा देने तथा आर्थिक गतिविधियों को गति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस शोध में ग्रामीण क्षेत्रों में UPI के उपयोग, छोटे व्यापारियों की आर्थिक गतिविधियों तथा ग्रामीण महिलाओं के सशक्तीकरण पर इसके प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। UPI के माध्यम से ग्रामीण दुकानदारों, स्थानीय कारीगरों और महिला स्वयं सहायता समूहों को सुरक्षित एवं सुविधाजनक भुगतान प्राप्त करने तथा अपने वित्तीय लेनदेन का डिजिटल रिकॉर्ड बनाए रखने में सहायता मिलती है। इससे बैंकिंग सेवाओं तक पहुँच और आर्थिक आत्मनिर्भरता की संभावनाएँ भी बढ़ी हैं। तथापि, डिजिटल एवं वित्तीय साक्षरता की कमी, साइबर धोखाधड़ी का खतरा तथा इंटरनेट और नेटवर्क संबंधी समस्याएँ इसके व्यापक उपयोग में बाधा उत्पन्न करती हैं। शोध में इन चुनौतियों के समाधान के लिए वित्तीय साक्षरता कार्यक्रमों के विस्तार, स्थानीय भाषाओं में डिजिटल सेवाओं की उपलब्धता तथा ऑफलाइन डिजिटल भुगतान सुविधाओं को प्रोत्साहित करने पर बल दिया गया है। निष्कर्षतः, UPI ग्रामीण भारत में वित्तीय समावेशन, उद्यमिता और महिला सशक्तीकरण का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। इसके प्रभावी एवं सुरक्षित उपयोग के लिए डिजिटल जागरूकता, तकनीकी बुनियादी ढाँचे और साइबर सुरक्षा को सुदृढ़ करना आवश्यक है।

मुख्य शब्द—

डिजिटल अर्थव्यवस्था, एकीकृत भुगतान इंटरफेस (UPI), ग्रामीण अर्थव्यवस्था, वित्तीय समावेशन, डिजिटल भुगतान, सूक्ष्म एवं लघु उद्योग, महिला सशक्तीकरण, वित्तीय साक्षरता, साइबर सुरक्षा।

प्रस्तावना :-

भारत एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमें मुख्य रूप से किसी भी आर्थिक लेनदेन जैसे क्रय विक्रय व्यापार संचार भुगतान आदि के लिए मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। तकनीकी क्रांति के चलते लेनदेन को और अधिक आसान बनाने व हर व्यक्ति तक पहुंचाने के लिए डिजिटल अर्थव्यवस्था की व्यवस्था की गई है। जिसमें इंटरनेट, स्मार्टफोन, कंप्यूटर का प्रयोग कर इस सुविधा को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया गया है। जिसका प्रयोग कर लेनदेन को मुद्रा मुक्त व आसन बनाने का प्रयास किया जा रहा है। डिजिटल अर्थव्यवस्था के अंतर्गत लेनदेन को और अधिक आसान बनाने के लिए UPI (Unified payment Interface) का प्रयोग कर बैंकिंग सेवाओं को और आसान किया गया है। सरकार का यह प्रयास है कि ग्रामीण व शहरी दोनों ही स्थान में सभी लोगों तक UPI की सेवाओं को पहुंचाया जाए।

भारत एक विकासशील अर्थव्यवस्था है जो वर्तमान समय में तीव्रता से तकनीकी की ओर अग्रसर है। इसके तहत ही भारत की अर्थव्यवस्था जो मुद्रा प्रधान अर्थव्यवस्था रही है जहां विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में हर लेनदेन के लिए मुद्रा पर ही निर्भरता रहती थी उसमें बदलाव करने के लिए भारतीय राष्ट्रीय भुगतान निगम द्वारा भुगतान विधि को बदलने के लिए वर्ष 2016

* **वाणिज्य विषय के अध्येता, हाउस नंबर 32, सीजी सिटी इको कॉलोनी हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी के पीछे चरोदा भिलाई**

में एकीकृत भुगतान इंटरफेस UPI लॉन्च किया गया जिसके परिणाम स्वरुप भारत में वित्तीय लेनदेन पूरी तरह बदल गया। वर्तमान समय में भारत में कुल डिजिटल भुगतान मैं UPI की भागीदारी 84% से भी अधिक की हो चुकी है जिसमें वित्तीय वर्ष 2025-26 में 24162 करोड़ से अधिक लेनदेन के आंकड़े को पार कर मिल का पत्थर साबित हुआ है। शुरुआती दौर में डिजिटल भुगतान को केवल शहरी क्षेत्र व साक्षर आबादी तक ही सीमित रखा गया था परंतु बढ़ती स्मार्टफोन की मांग और आसान व सस्ते इंटरनेट सुविधा ने इसे भारत के ग्रामीण इलाकों तक पहुंचा दिया है। वर्तमान समय में भारत के ग्रामीण क्षेत्रों ने ना केवल इस डिजिटल सेवा को अपनाया बल्कि भारत की आर्थिक सामाजिक संरचना को मजबूत करने में अपना योगदान भी दिया है। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से ग्रामीण अर्थव्यवस्था छोटे व्यापारी और नारी सशक्तिकरण पर UPI के प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

उद्देश्य–

1. ग्रामीण क्षेत्रों में UPI को अपनाने और प्रयोग के स्तर का अध्ययन करना।
2. छोटे व्यापारियों पर UPI के प्रभाव का अध्ययन करना।
3. ग्रामीण महिलाओं के सशक्तिकरण में UPI के उपयोग की भूमिका का अध्ययन करना।

डिजिटल अर्थव्यवस्था का ग्रामीण क्षेत्रों पर सकारात्मक प्रभाव-

भारत की अर्थव्यवस्था को एक डिजिटल अर्थव्यवस्था बनने के प्रयास ने ग्रामीण क्षेत्रों में यूपीआई (UPI) के प्रयोग को बढ़ाया है। ग्रामीण क्षेत्रों में यूपीआई (UPI) के उपयोग ने लेनदेन को तो आसान किया ही है साथी आर्थिक गतिविधि को एक नई गति प्रदान की है।

1) वित्तीय समावेशन- वर्तमान समय में ग्रामीण क्षेत्रों में यूपीआई के बढ़ते प्रयोग ने बैंकिंग सेवाओं में लगातार वृद्धि की है अब ग्रामीण लोग नगर को अपने घर में न रखकर बैंकों में बचत खाता खुलवा कर रख रहे हैं जिससे उनकी पूंजी सुरक्षित है वह आवश्यकता पड़ने पर UPI का प्रयोग करके एक क्लिक में डिजिटल माध्यम से पैसे का उपयोग कर लेते हैं। व आवश्यकता पड़ने पर बिना बैंक जाए एटीएम व आधार कार्ड के माध्यम से नगद भी निकाल लेते हैं। वर्तमान में हुए ग्रामीण सर्वेक्षण के अनुसार ज्यादा यूपीआई (UPI) का प्रयोग करने वाले क्षेत्रों में बैंकों में बचत खाता खुलवाने व उसके सक्रिय संचालन में औसतन 34% की वृद्धि हुई है।

2) सूक्ष्म उद्योग और लघु उद्योग का सशक्तिकरण- भारत को गांव का देश कहा जाता है यहां लगभग 6,64,369 गांव है इसलिए गांव को भारत की रीड की हड्डी की संज्ञा दी गई है। ग्रामीण क्षेत्र के किराना दुकानदार सब्जी विक्रेता चाय नाश्ते की टपरी वाले और स्थानीय कारीगर बिना किसी अतिरिक्त भुगतान के मशीनों से डिजिटल भुगतान प्राप्त कर रहे हैं। एक सामान्य से क्यूआर कोड ने भुगतान प्रक्रिया को आसान और व्यापार प्रक्रिया को पारदर्शी बना दिया है। इस के अलावा एक अन्य सुविधा यह भी मिल जाती है कि डिजिटल लेनदेन का व्यापारियों को एक ट्रैक रिकॉर्ड मिल जाता है जिसके आधार पर व्यापारी को औपचारिक तौर पर बैंकों से व्यावसायिक ऋण प्राप्त करना अत्यंत सरल हो गया है जिसका फायदा सूक्ष्म एवं लघु व्यापारी आसानी से ले पा रहे हैं।

3) नारी सशक्तिकरण और महिला स्व-सहायता समूह - ग्रामीण महिलाओं के उत्थान व सशक्तिकरण के लिए सरकार द्वारा बहुत सी योजनाओं का क्रियान्वयन किया जाता है परंतु ग्रामीण महिलाओं के लिए वित्तीय स्वतंत्रता शुरू से ही एक चुनौती रही है। व इसी समस्या को दूर करने के लिए महिला स्वयं सहायता समूह और महिला स्वरोजगार को बढ़ावा दिया जा रहा है महिला व्यापारियों को अपने उत्पादों को बेचने व भुगतान प्राप्त करने के लिए पुरुष मध्यस्तों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है। यूपीआई के आने से महिला स्वयं सहायता समूह के लेनदेन भुगतान की समस्त प्रक्रिया आसान हो गई है । ग्रामीण महिलाएं अब पहले से अधिक रोजगार उन्मुख हो गई है एक सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार डिजिटल भुगतान के विस्तार से महिला स्वामित्व वाले सूक्ष्म उद्योगों में 42% की वृद्धि हुई है।

ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल भुगतान में आने वाली समस्याएं –

1) साक्षरता की कमी - ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता की कमी एक मुख्य कारण है डिजिटल सेवाओं को स्वीकार न कर पाने का ग्रामीण आबादी का एक बड़ा हिस्सा जिसमें विशेष कर बुजुर्ग और महिलाएं हैं जो स्मार्टफोन के उन्नत फीचर को नहीं समझ पाते हैं जिसके कारण में डिजिटल भुगतान जैसी सुविधाओं का लाभ नहीं ले पाते हैं। व इस कार्य के लिए उनको दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है।

2) असुरक्षा व साइबर क्राइम - आज भी कई ग्रामीण इलाकों में लोग पूर्ण रूप से साइबर क्राइम के प्रति जागरूक नहीं है वह फर्जी कॉल और ओटीपी स्कैम के झांसे में आ जाते हैं ऐसी गतिविधियां ग्रामीणों के मन में असुरक्षा का माहौल पैदा करती है जिसके चलते ग्रामीण क्षेत्र के लोग डिजिटल भुगतान की सेवाओं को अपनाने से बचते हैं।

3) नेटवर्क और इंटरनेट की समस्या- बहुत से ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी नेटवर्क की कमी और इंटरनेट की समस्या है जिसके चलते डिजिटल भुगतान पूर्ण नहीं हो पता है और खाते से पैसे कटने की समस्या आती है व पैसे वापसी के लिए बैंक के चक्कर काटना पड़ता है। जिसके चलते ग्रामीण इस डिजिटल भुगतान की सेवा का उपयोग करने से डरते हैं।

डिजिटल भुगतान सेवाओं को सुगम बनाने के लिए सुझाव –

1) वित्तीय साक्षरता को बढ़ावा- ग्रामीण क्षेत्रों में वित्तीय साक्षरता का अनुपात बढ़ाने के लिए कुछ विशेष कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए जैसे बैंक को और वित्तीय संस्थाओं द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर डिजिटल भुगतान के प्रति लोगों को जागरूक करना व उपयोग के तरीके व नियमों की जानकारी देना चाहिए साथ डिजिटल भुगतान में आने वाले जोखिमों के बारे में ग्रामीणों को समझाते हुए सजग रहने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

2) स्थानीय भाषाओं का उपयोग- डिजिटल भुगतान के लिए बनाए गए ऐप में स्थानीय भाषाओं का उपयोग किया जाना चाहिए जिससे ग्रामीणों को समझना।

3) ऑफलाइन डिजिटल पेमेंट को बढ़ावा - ग्रामीण क्षेत्रों में कई लोगों के पास इंटरनेट नहीं होता है जिसके चलते बिना इंटरनेट के उपयोग किए जाने वाले ऐप जैसे UPI Lite व UPI 123 Pay जैसे वॉइस बेस्ड पेमेंट ऐप का उपयोग किया जाना चाहिए।

निष्कर्ष-

डिजिटल भुगतान सेवाएं जैसे UPI ने भारत के प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्रों में पहुंचकर भारत की आर्थिक अर्थव्यवस्था को कैश डिपेंडेंट से कैशलेस इकोनॉमी की तरफ मोड़ने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जिसके परिणाम स्वरुप भारत का प्रत्येक गांव आत्मनिर्भर होकर अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाने में अपना सहयोग दे रहा है। यूपीआई का उपयोग कर बैंकिंग प्रणाली से कटे हुए ग्रामीण नागरिकों को अर्थव्यवस्था की मुख्यधारा से जोड़ने का कार्य किया है परंतु साइबर सुरक्षा से जुड़ी चुनौतियों एक बड़ी समस्या है यदि बैंकिंग संस्थाएं और सरकार मिलकर डिजिटल साक्षरता और नेटवर्क को मजबूत करने की और ध्यान केंद्रित करें तो भारत के समस्त गांव पूरी तरह आत्मनिर्भर सुरक्षित व सशक्त कैश लाइट डिजिटल अर्थव्यवस्था के रूप में सामने आएंगे।

संदर्भ (References)

Chopra, K., & Singh, M. (2025). The impact of digital public infrastructure on financial inclusion and economic growth: A study of India's UPI (2019-2024). *International Journal of Global Business and Development, 19*(1), 109-130. https://doi.org/10.1108/IJGBD-06-2024-0087

National Payments Corporation of India (NPCI). (2026). *Annual Report 2025-26: Growth and impact of UPI transaction volumes*. New Delhi: NPCI Publications.

Sharma, R., & Kumar, A. (2026). *A decade of digital transformation: Trajectory and growth of UPI in India (2016-2026)*. ResearchGate. https://www.researchgate.net/publication/406036345

NOTES FOR AUTHORS

PADCHINHA: A Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to padchinha@muditeducation.com some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. As a general rule, Padchinha operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5), an abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (include all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, Padchinha publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:

(a) title page with name(s) of the author(s), affiliation and Email

(b) Abstract

(c) Main text

(d) List of references

(e) Biographical statement(s)

(f) Tables and figures in separate documents

(g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

4. Language

Padchinha is a Multilingual Journal. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

 ISSN: 2231-1351

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings
The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name an institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes
Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables
Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

9. Figures
The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

10. References
References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA or MLA format of reference.

11. Biographical statement
The bio sketch in Padchinha appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints
Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 1–2 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright
The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.

R.N.I. UPHIN/2011/37086

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (24–25 फरवरी 2025) में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक का लोकार्पण संगोष्ठी के समापन सत्र में सम्पन्न हुआ।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी (अक्टूबर 2024) में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में किया गया।

के. एल. ई. संस्था, कर्नाटक द्वारा 10 जुलाई 2024 को आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रों का संकलन 'पदचिन्ह' पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित किया गया, जिसका लोकार्पण संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में संपन्न हुआ।

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी. 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित।

संपादक : अजय परमार | सह-संपादक : पंकज कुमार सिंह - 9823696685